तीर्थङ्कर महावीर

भाग १

लेखक

विद्यावल्लभ, विद्याभूषण, इतिहासतत्त्वमहोदधि

जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि

प्रकाशक

काशीनाथ सराक

यशोधर्म मंदिर,

१६६ मर्जबान रोड, अंधेरी,

बम्बई ५८

श्रमण भगवान् महावीर

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

जन्म से गृहस्थ जीवन तक

निष्क्रमण से केवलज्ञान-प्राप्ति तक

गणधरवाद

परिशिष्ट

भूमिका

जैन-आगमों से प्रमाणित है कि जैन-धर्म न केवल भारत का वरन विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में किसी भी रूप में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

प्रारम्भ से ही जैन-धर्म क्रियावादियों का धर्म रहा है—निरा प्रचार-प्रसार इसका कभी लक्ष्य नहीं रहा। और, क्रियावादिता में उसकी आस्था का ही यह फल है कि, हजारों वर्षों के झोंके सह कर भी यह धर्म अब तक अपने मूल रूप में बना है—जबकि बाद में उद्भूत श्रमण-संस्कृति की अन्य शाखाएँ भारत में समाप्त ही हो गयीं। अहिंसा-प्रधान होने से जैन-धर्म ने कभी भी बल अथवा जोर-दबाव को प्रश्रय नहीं दिया। कितने विरोध इसने सहे, कितने दुर्दिन देखे, इसका इतिहास साक्षी है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति का जैन-धर्म एक ऐसा अंग है कि उसे निकाल देने से हमारी संस्कृति का रूप ही विकृत और एकांगी रह जायेगा।

पर, इसका और इसके साहित्य का प्रचार उस रूप में नहीं हो पाया, जिस रूप में उसकी अपेक्षा थी। इस मुद्रण के युग में भी, इसके अधिकांश ग्रंथ अब भी अप्राप्य और बहुमूल्य हैं। इसका फल यह रहा कि, साधारण जनता को क्या कहें, विद्वत्समाज का एक बहुत बड़ा अंश भारतीय संस्कृति के इस अविभाज्य अंग से अपरिचित है।

जैन भगवान् ऋषभदेव को इस अवसर्पिणी का प्रथम तीर्थंकर मानते हैं। श्रीमद्भागवत् (प्रथम खंड, द्वितीय स्कंध, अध्याय ७, पृष्ठ १७३) में जहाँ विष्णु के २४ अवतारों का उल्लेख ब्रह्मा ने किया है, वहाँ भगवान् ऋषभदेव के लिए कहा गया है—

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु—
यों वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।
यत् पारमहंस्य मृषयः पदमामनन्ति
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तिसङ्ग ॥ १० ॥

—राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थिर होकर समदर्शी के रूप में उन्होने जड़ों की भाँति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस-पद कहते हैं।

उसी ग्रंथ में (स्कंध ११, अध्याय २, खंड २, पृष्ठ ७१०) ऋषभदेव को अवतार होने की बात नारद ने भी कही है:—

तमाहुर्वासु देवांशं मोक्षधर्मविवक्षया

—(शास्त्रों में उन्हें) भगवान् वासुदेव का अंश कहा है। मोक्ष-धर्म का उपदेश करने के लिए उन्होंने अवतार ग्रहण किया।

उसी ग्रन्थ में स्कंध ५, अध्याय ४ के २०-वें श्लोक में (प्रथम खंड, पृष्ठ ५५६) आता है—

वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावतार

—श्रमणों (जैन-साधु) ऋषियों तथा ब्रह्मचारियों (ऊर्ध्वमंथिन) का धर्म प्रकट करने के लिए शुल्क सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए)

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् स्कंध १, अ० ३, श्लोक १३ (पृष्ठ ५५), स्कंध ५, अ० ४, (पृष्ठ ५५६-५५७) में भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख है। उनकी चर्चा करते हुए स्कंध ५, अ० ६, (पृष्ठ ५६८) में एक श्लोक है:—

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्त तृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिर सुप्तबुध्देः ।
लोकस्य यः करुणा भयमात्मलोक
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥

—निरन्तर विषय भोगों की अभिलाषा के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।

ऋषभदेव भगवान् का उल्लेख वेदों में भी है। वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित ऋग्वेद-संहिता (वि. सं. २०१०) में (पृष्ठ १४४) मं. १, सू. १६०, मंत्र १; (पृष्ठ १७५) २-३३-१५; (पृष्ठ २६३) ५-२८-४; (पृष्ठ ३३७) ६-१-८; (पृष्ठ ३५३) ६-१६-११ तथा (पृष्ठ ७७५) १०-१६६-१ आदि मन्त्रों में ऋषभदेव भगवान् के उल्लेख आये हैं। यजुर्वेद संहिता (वैदिक यंत्रालय, वि. २००७) पृष्ठ ३१ में मन्त्र ३६, ३८ में तथा अथर्ववेद (वैदिक यंत्रालय, वि. सं. २०१५) पृष्ठ ३५६ मंत्र ४२-४ में भी वृषभदेव भगवान् का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त कूर्मपुराण अ० ४१ (पृष्ठ ६१) अग्निपुराण अ० १० (पृष्ठ ६२), वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० ३३ (पृष्ठ ५१) गरुड़पुराण अ० १ (पृष्ठ १); मारकंडेय पुराण (आर्यमहिला हितकारिणी, वाराणसी, खंड २, पृष्ठ २३०; पाजिटर-अनूदित पृष्ठ २७४); ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्द्ध अध्याय १४ (पृष्ठ २४); वाराहपुराण अ० ७४ (पृष्ठ ४६), शिवपुराण तृतीय शतक रुद्र-अध्याय ४, पृष्ठ २४६, लिंग पुराण अ० ४७, (पृष्ठ ६८); विष्णुपुराण अंश २, अ० १, (पृष्ठ ७७); स्कंदपुराण कौमार खंड अ० ३७ (पृष्ठ १४८) आदि स्थलों में भी ऋषभदेव भगवान् के उल्लेख आये हैं।

पर, ब्राह्मण-साहित्य में जैन-तीर्थंकरों के ऐसे आदर और अवतार-सूचक उल्लेखों के बावजूद, ब्राह्मण-धर्म ने जैन-धर्म की, बाद में न केवल पूरी उपेक्षा की; बल्कि उसके प्रति अवाच्य वचन भी कहना प्रारंभ किया।

इसका कारण यह था कि जैन-धर्म अपने विचारों पर स्थिर रहा और ब्राह्मणों को उसने किंचित् मात्र महत्ता नहीं दी। उनकी मान्यता सदा से

यह रही कि तीर्थंकरों का जन्म केवल क्षत्रिय (इक्ष्वाकु और हरिवंश) कुल में ही होता है। (कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, सूत्र १७, पत्र ६२)

इसके विरुद्ध तीर्थंकर भगवान् महावीर के समकालीन बुद्ध के अनुयायियों ने ब्राह्मण-वर्ग से समझौते का प्रयास किया। और, अपने बुद्ध के जन्म के लिए दो कुल बताये—क्षत्रिय और ब्राह्मण! (जातकट्ठ कथा, पृष्ठ ३९)

इस समझौते-वाद का फल यह हुआ कि यद्यपि शाक्य मुनि बुद्ध से पूर्व के बुद्धों को ब्राह्मण-ग्रन्थों में कोई महत्व नहीं मिला और बौद्ध-साहित्य ने भी राम, कृष्ण, आदि को कोई महत्त्व अपने ग्रंथों में नहीं दिया; पर बाद में ब्राह्मणों ने शाक्य मुनि को भी एक अवतार मान लिया।

बाद में बुद्ध की गणना दशावतारों में हुई, अपनी इस उक्ति के प्रमाण में हम यहाँ कह दें कि महाभारत, शान्तिपर्व, ३४८-वें अध्याय में दशावतारों की जो सूची दी है, उसमें बुद्ध का नाम नहीं है।

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥५४॥
वराहो नरसिहश्च वामनो राम एव च।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥५५॥

हम यहाँ प्रसंगवश यह बता दें कि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जैनियों की मान्यता क्या है? त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १, सर्ग ६ में आता है कि ब्राह्मणों की स्थापना तो प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने की। उसके पूर्व तो ब्राह्मण-वर्ण था ही नहीं।

कथा है कि, जब भरत ने अपने छोटे भाइयों के पास आज्ञा-पालन के लिए दूत भेजा तो छोटे भाइयों को विचार हुआ कि राज्य तो मेरे पिता दे गये हैं फिर भरत की आज्ञा क्यों स्वीकार करें। वे इस सम्बन्ध में पिता से परामर्श करने अष्टापद गये। वहाँ ऋषभदेव ने उन्हें उपदेश किया और उनके ९८ पुत्र वहीं साधु हो गये। महाराज भरत भी अपने पिता के पास गये और उन्होंने ५०० गाड़ियों पर पक्वान आदि मँगवाये। पर, ऋषभदेव ने

व्यवस्था दी कि साधु न तो आधाकर्मी (मुनियों के लिए बना कर लाया गया आहार) ग्रहण कर सकते हैं और न राजपिंड।

अब प्रश्न था कि उस भोजन-सामग्री का क्या हो? इन्द्र ने भरत को परामर्श दिया कि यह भोजन विशेष गुण वाले पुरुषों को दे दो। भरत को ध्यान आया कि विरत और अविरत श्रावक इनके अधिकारी हैं। अतः भोजन उन्हें दे दिया गया। भरत ने श्रावकों को बुला कर कहा—"आप लोग खेती आदि कुछ न करें, राजमहल में ही भोजन किया करें, स्वाध्याय किया करें और कहते रहें :—

जितो भवान् वर्धते भयं तस्मान्माहन माहनेति।

द्वार पर बैठकर खानेवालों की संख्या दिन-दिन बढ़ती गयी। रसोई के मुखिया ने आकर महाराज से विनती की कि आजकल भोजन करने वालों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है; इसलिए जानना कठीन है कि कौन श्रावक है, कौन नहीं? इस पर भरत महाराज ने कहा—"तुम भी श्रावक हो! आज से तुम परीक्षा कर के भोजन दिया करो।" आज्ञा पाकर सरदार ने उनकी परीक्षा करनी और श्रावक-धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने शुरू किये। जिनको उन्होंने ठीक समझा, उन्हें वे भरत के पास ले गये। भरत ने काकणी-रत्न से तीन रेखा का चिह्न कर दिया। ये सर्व श्रावक जो 'माहन' 'माहन' का उच्चारण करते थे, बाद में ब्राह्मण के नाम से विख्यात हुए।

- ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ोदा से प्रकाशित त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (भाग १, पृष्ठ ३४४) के अंग्रेजी अनुवाद में मिस हेलेन एम. जानसन ने काकिणी का अर्थ कौड़ी किया है। यह उनकी भूल है। काकिणी चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में एक है—कौड़ी नहीं है।

नवें तीर्थंकर का काल आते-आते इन ब्राह्मणों ने त्याग-धर्म को पूर्णतः परित्यक्त कर दिया और इसके बावजूद नवें और दसवें तीर्थंकरों के बीच के काल में इनकी पूजा होने लगी। इसे जैन-ग्रंथों में असंयति-पूजा नामक आश्चर्य माना जाता है।

समझौतेवादी विचारधारा से दूर रहने का यह फल हुआ कि जो जैन-संदर्भ ब्राह्मण-ग्रंथों में थे भी, उन्हें विकृत कर दिया गया। उदाहरण के लिए 'अर्हन्' शब्द लीजिए। हनुमन्नाटक में स्पष्ट आता है :—

अर्हन्नित्यथ जैनशासन रताः

—जैनशासन रत जिसको अर्हन्त कहकर (पूजते हैं)। यह अर्हन् शब्द ऋग्वेद में भी कई स्थलों पर आता है। यथा—

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥

ऋग्वेद २।४।३३।१० पृष्ठ १७४।

अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः ।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः ॥

वही, पृष्ठ ३१३।

बाद के टीकाकारों ने हनुमन्नाटक-सरीखे संस्कृत-ग्रन्थ के संदर्भ के बावजूद और पूरे जैन-साहित्य में पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने के बावजूद 'अर्हन्' शब्द का अर्थ ही बदल दिया।

ऐसी ही विकृति अरिष्टनेमि शब्द के साथ भी की गयी। यजुर्वेद अध्याय ९ का २५-वां मंत्र (पृष्ठ ४३) है :—

वाजस्य नु प्रसव आवभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानोऽस्मै स्वाहा ।

इसी प्रकार उसी वेद में आता है :—

स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः

—अध्याय २५, मंत्र १९, पृष्ठ १४२।

पर अरिष्टनेमि अथवा नेमि शब्द की भी टीकाएं बदल दी गयीं।

ऐसा ही व्यवहार कितने ही अन्य शब्दों के साथ भी हुए। 'वर्द्धमान'

इतने ग्रंथ होने के बावजूद, स्वयं कृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ का नाम तक किसी ग्रंथ में नहीं आता।

इस उपेक्षा का फल यह हुआ कि, जन साधारण वर्द्धमान को भूल-स गया। और, यद्यपि कल्पसूत्र में सब से अधिक विवरण महावीर स्वामी क ही है तथा उनके ही जीवन-चरित्र संस्कृत और प्राकृत में सब से अधि लिखे गये तथापि स्वाध्याय की ओर विमुख होने से स्वयं जैन-समाज अप अन्तिम तीर्थंकर को विस्मृत करने लगा। उनका जन्मदिन चैत्र शुक्ल १ लोग भूल गये और पर्युषणा-पर्व में चौथे दिन के दोपहर को जब कल्पसू के व्याख्यान में भगवान् की जन्म-कथा आती है, तो लोग उसी को भगवा का जन्म दिन मानने लगे। हमारे गुरु महाराज परम श्रद्धेय आचार्य विज धर्म सूरि ने इस काल में पहले-पहल चैत्र शुक्ल १३ को जन्मोत्सव मना का प्रचार काशी से प्रारम्भ किया।

जैनों के सामाजिक जीवन में जो उहापोह विगत २॥ हजार वर्षों हुए, उससे जैन भगवान् का जन्मस्थान और निर्वाण-स्थान भी भूल गये बौद्ध-धर्म भारतभूमि से सैकड़ों वर्षों तक विलुप्त रहा पर; उसके तीर्थ आज भी स्पष्ट और प्रकट हैं, पर जैन जो भारत में ही बने रहे, अपने तीर्थों क ही भूल बैठे। आज भी कितनी ही गुत्थियाँ शेष हैं जो स्पष्ट नहीं हुई कारण यह कि यहाँ पुरातत्त्व का संघटन ही बौद्ध-ग्रंथों के आधार प हुआ। और, जब स्वराज्य के बाद अपनी सरकार आयी, तब उसने भ पुरानी ही लीक कायम रखी और जैन-स्थलों की खोज की ओर न तो उसने कुछ किया और न हमारे कोट्याधिपति जैन-श्रावकों ने ही।

जैन-धर्म का अच्छा और विशद वर्णन (सर यदुनाथ सरकार का अनु वाद, भाग ३, अध्याय ५, पृष्ठ १९८) मध्य काल में पहले-पहल आइने- अकबरी में अबुलफजल ने किया। उसके बाद जब पाश्चात्य आये तो उन्होंने बड़े परिश्रम से विभिन्न धर्मों के संबंध में अध्ययन प्रारम्भ किया। पहले तो उन्होंने जैन-धर्म को बौद्धों का ही अंग माना पर ज्यों ही उनकी पैठ अधिक गहरी हुई, उन्हें अपनी भूल मालूम हो गयी। वस्तुतः उन

पाश्चात्य विद्वानों के ही अध्ययन और खोज का यह फल हुआ कि भारत में भी जैन-धर्म के सम्बन्ध में और भगवान् महावीर के सम्बन्ध में प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में कितनी ही पुस्तकें लिखी गयीं। मैंने सहायक-ग्रन्थों की सूची में कुछ महावीर-चरित्रों के नाम दे दिये हैं।

इतने महावीर-चरित्र के होने के बावजूद मुझे बहुत वर्षों से महावीर-चरित्र लिखने की प्रबल इच्छा रही। इसका कारण यह था कि, संस्कृत और प्राकृत तो आज का जनभाषा न रही और मूल धर्म-शास्त्रों में भगवान् की जीवन कथा बिखरी पड़ी है। अतः मैं चाहता था कि हिन्दी में मैं एक ऐसा जीवन प्रस्तुत करूँ, जिसमें जहाँ एक ओर ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन हो, वहीं शंका वाले स्थलों के समस्त प्रसंग एक स्थान पर एकत्र हों।

भगवान् के जीवन में अपनी रुचि के ही कारण, पहले मैंने भगवान् के जन्मस्थान की खोज के सम्बन्ध में 'वैशाली' लिखी। फिर छद्मस्थकालीन विहार-स्थलों के सम्बन्ध में 'वीर-विहार-मीमांसा' प्रकाशित करायी। उनके गुजराती में द्वितीय संस्करण भी छपे। और, यह अब महावीर की जीवन-कथा का प्रथम खंड आपके हाथ में है। यह पुस्तक कैसी बनी, यह तो पाठक ही जाने; पर मैं तो कहूँगा कि यदि आपकी एक शंका का भी समाधान इस पुस्तक से हुआ, अथवा जैन-शास्त्रों की ओर अपनी रुचि आकृष्ट करने में किसी प्रकार यह पुस्तक सहायक रही, तो मैं कहूँगा कि मेरा नगण्य परिश्रम भी पूर्ण सफल रहा।

प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने में हमें जिनसे सहायता मिली उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। श्री भोगीलाल लहेरचन्द की 'वसति' में रहकर निर्विघ्नतापूर्वक मुझे तीर्थंकर महावीर का यह प्रथम भाग पूरा करने का अवसर मिला। यदि स्थान की यह सुविधा मुझे न मिली होती, तो सम्भवतः मेरे जीवन में यह कार्य पूरा न हो पाता।

मेरे इस साहित्यिक काम में मेरे उपदेश से श्री चिमनलाल मोहनलाल झवेरी, श्री वाडीलाल मनसुखलाल पारेख तथा श्री पोपटलाल भीखाचन्द झवेरी सदैव हर तरह से मेरी सहायता करते रहे।

मेरे इस संशोधन-कार्य में मुझे चार वर्ष लगे। इस बीच कितने ही संदर्भ-ग्रन्थों की तथा अन्य सामग्रियों की आवश्यकता पड़ती रही। भक्त श्रावकों ने उसे पूरी की, अन्यथा मेरे-सरीखा अनागार साधु क्या कर पाता। सभी को मेरा धर्मलाभ!

इन चार वर्षों में काम तो चलता रहा, पर बम्बई की जलवायु अनुकूल न होने के कारण मैं कई बार बीमार पड़ा। बम्बई-अस्पताल के आयुर्वेद-विभाग के प्रधान चिकित्सक श्री कन्हैयालाल भेड़ा बराबर निस्वार्थ भाव से मेरी चिकित्सा करते रहे। उन्हें मेरा आशीर्वाद।

श्री काशीनाथ सराक विगत २२ वर्षों से मेरे साथ निरन्तर रह रहे हैं और इस वृद्धावस्था में मेरे हाथ-पाँव हैं। विनीत शिष्य से भी अधिक भक्ति और श्रद्धा से वह मेरी उचित सेवा करते रहे हैं। मैं अंतःकरणपूर्वक चाहता हूँ कि शासन-देव उनको सहायक बनें।

इस शोधकार्य में श्री ज्ञानचन्द्र विगत ४ वर्षों में बराबर मेरे साथ रहे। प्रस्तुत पुस्तक को रंग-रूप देने में उन्होंने जो सहायता की तथा समय-समय पर वे मुझे जो साहित्यिक और उपयोगी सूचनाएँ और परामर्श देते रहे, उसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाये वह थोड़ा है।

श्री गौड़ीजी ज्ञानभंडार बम्बई तथा जैन-साहित्य-विकास-मण्डल, अंधेरी ने अपनी पुस्तकों को उपयोग करने की जो सुविधा मुझे दी, उसके लिए धन्यवाद।

जिन लेखकों की पुस्तकों का उपयोग मैंने किया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

c/o श्री भोगीलाल लहेरचन्द
अंधेरी, बम्बई ५८
वीरसंवत् २४८६, विजयादशमी २०१७ वि०
धर्म-संवत् ३६

—विजयेन्द्रसूरि

दो शब्द

सन् १९३८ की बात है। आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि जी आगरा से विहार कर के कलकत्ते जा रहे थे और चातुर्मास बिताने के लिए रघुनाथपुर (पुरुलिया) में ठहरे थे। मेरा मकान वहाँ से ४ मील दूर सिकराटाँड नामक गाँव में है। मैं प्रायः आचार्यश्री के दर्शन के लिए रघुनाथपुर जाया करता था। शनैः शनैः परिचय बढ़ा और मुझे उनके सान्निध्य में रहने का अवसर मिला। तब से निरन्तर मैं आचार्यश्री के साथ हूँ।

कलकत्ते से लौटकर शिवपुरी (ग्वालियर) जाते हुए, आचार्यश्री वैशाली गये। वहाँ तीन दिनों तक वे ठहरे। वहाँ उन्होंने निकटवर्ती क्षेत्रों का तथा भगवान् महावीर की जन्मभूमि का निरीक्षण किया।

शास्त्रों में वर्णित भगवान् महावीर के जन्म-स्थान की जो संगति वैशाली के निकटवर्ती स्थलों से बैठी, उसे देखकर आचार्यश्री के हृदय में इच्छा हुई कि भगवान् के मूल जन्म-स्थान का प्रचार विस्तृत पैमाने पर किया जाना चाहिए—जो पृथक-पृथक स्थापना-तीर्थों के स्थापित होने से विस्मृत-सा हो गया है। यह संतोष की बात है कि आचार्यश्री के उस प्रचार का यह फल हुआ कि अब जैनों में पढ़े-लिखे लोग महावीर के असली जन्मस्थान को जान गये और इस विस्मृत तीर्थ का उद्धार होने लगा है।

आचार्यश्री ने अपना वर्षावास उसके बाद क्रमशः शिवपुरी, लश्कर, दिल्ली, लछुआड़ (जन्म-स्थान) में बिताया और वे फिर दिल्ली आये।

दिल्ली आने पर सुविधा मिलते ही, उन्होंने अपनी 'वैशाली' नामक पुस्तक लिखी इस पुस्तक के सम्बन्ध में विख्यात पाश्चात्य विद्वान डा० टामस ने लिखा था—

"अनुसंधान-कार्य करनेवाले लोगों के लिए यह पुस्तक एक आदर्श है।"

डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने इस पुस्तक के सम्बंध में सम्मति-रूप में दो शब्द लिख कर इसे सम्मानित किया था।

और, फिर भगवान् के जीवन से सम्बद्ध स्थानों की खोज करके आचार्यश्री ने अपनी दूसरी पुस्तक 'वीर-विहार-मीमांसा' लिखी।

इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन से रूढ़िवादी जैन-जगत में बड़ा तहलका-सा मच गया। आचार्यश्री से अनुरोध किया गया कि वे अपनी पुस्तकें वापस ले लें और उनका प्रचार रोक दें। पर, आचार्यश्री एक सच्चे साधु और सत्यान्वेषक के रूप में अडिग बने रहे।

वस्तुतः यही तीर्थंकर महावीर' लिखे जाने की पूर्वपीठिका थी।

भगवान् महावीर के जीवन-सम्बधी अपने भौगोलिक अनुसंधानों को समाप्त करने के बाद, आचार्यश्री भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र लिखने के लिए प्रयत्नशील हुए। उनका विचार, उसमें जहाँ भगवान् के जीवन-सम्बंधी ऐतिहासिक विवेचनों की ओर था, वहीं वे यह भी चाहते थे, उनके जीवन के सम्बन्ध में विवाह आदि विवादग्रस्त स्थलों से सम्बन्धित समस्त प्रमाण आदि एकत्र करके पुस्तक को विश्व-कोष का ऐसा रूप दिया जाये, जो भावी अनुसंधानकर्ताओं के लिए सहायक सिद्ध हो सके। इस विपद् कार्य में जो व्यय पड़नेवाला था, उसकी सुविधा उन्हें दिल्ली में प्राप्त न हो सकी। इसी बीच बम्बई के एक सेठ एक दिन आचार्यश्री के निकट वंदना करने आये। आचार्यश्री की योजना सुनकर उन्होंने आचार्यश्री को बम्बई पधारने की विनती की और आश्वासन दिया कि आचार्यश्री को अपने काम के लिए समस्त सुविधाएँ बंबई में प्राप्त हो जाएँगी।

उनकी विनती स्वीकार करके आचार्यश्री ने ४ दिसम्बर १९५५ को दिल्ली से विहार किया और १४ जुलाई १९५६ को दिल्ली से बम्बई तक की पैदल यात्रा इस लम्बी उम्र में पूरी की और अपना चातुर्मास उन्होंने भायखला में किया।

भायखला में महीनों बीत गये, पर काम करने की जो लालसा लेकर

आचार्यश्री बम्बई आये थे, उसे पूरा होने का कोई लक्षण दिखलायी नहीं पड़ा। इतना ही नहीं, आचार्यश्री को यह भी आभास हुआ कि काम करने की सुविधा को कौन कहे, उन्हें परस्पर की गुटबंदी में खींचा जा रहा है।

अतः आचार्यश्री ने अपना काम स्वतन्त्र रूप से करने का निश्चय किया। उन्होंने गुजराती 'वैशाली' प्रकाशित करायी तथा हिन्दी 'वैशाली' का दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। इन ग्रंथों की अनुसंधान-पत्रिकाओं, रेडियो तथा विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशसा की।

उसके बाद आचार्यश्री ने तीर्थंकर महावीर में हाथ लगाया। इस बृहत् अनुसंधान के लिए कितनी पुस्तकें, कितना धन और कितना परिश्रम वांछनीय था, यह पुस्तक देख कर पाठक स्वयं अनुमान लगा ले सकते हैं। इस दृष्टि से जिन लोगों ने हमारी सहायता की, उनकी सूची हमने दे दी है। इस बीच तीन बार आचार्यश्री अत्यन्त रुग्ण भी हुए। पर, इससे न तो उन्होंने हिम्मत हारी और न एक दिन के लिए अपना काम ही बन्द किया।

संक्षेप में यह प्रस्तुत पुस्तक का इतिहास है।

प्रस्तुत पुस्तक में हमें कितने ही लोगों से सहायता मिली है। उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकट न करना वस्तुतः कृतघ्नता होगी।

श्री मोतीशा जैन-ट्रस्ट के (भायखाला, बम्बई) समस्त ट्रस्टियों ने हमारी जिस प्रकार हृदय से सहायता की वह स्तुत्य है। यदि उनकी सहृदयता में किंचित कमी होती, तो शायद प्रस्तुत पुस्तक इतनी जल्दी आपके हाथों में न पहुँच पाती।

धन्यवाद के अधिकारी लोगों में हम उन लोगों के भी हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने काफी प्रतियों के लिए ग्राहक बन कर हमें इस प्रकाशन के लिए उत्साहित किया। ऐसे लोगों में हम लाला शादीलाल जैन (अमृतसर), श्री वाडीलाल मनसुखलाल पारेख, श्री पोपटलाल भीखाभाई झवेरी, श्री अमृतलाल कालिदास दोशी, श्री माणिकलाल सरूपचंद्र शाह, श्री मूलचन्द वाडीलाल शाह, श्री जयसिंहभाई उगरचन्द्र अहमदाबाद, श्री कपूरचन्द

हीराजी सोलंकी तथा श्री देवराज गणपत के प्रति आभार-प्रदर्शन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

इन व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ संस्थाओं ने भी ग्राहक बन कर हमें प्रोत्साहित किया है। ऐसी संस्थाओं में हम आदीश्वर जैन मंदिर ट्रस्ट पायधुनी; नगीनदास कर्मचन्द्र जैन पौषधशाला, अन्धेरी, (बम्बई); हेमचन्द्र जैन सभा पाटन; जैन-संघ कर्नूल के प्रति विशेष रूप से आभारी है।

साथ में दिये चित्रों के सम्बन्ध में दो शब्द कह दें। पुस्तक के प्रारम्भ में महावीर स्वामी का जो चित्र है, वह कंकाली टीला (मथुरा) में प्राप्त एक गुप्तकालीन मूर्ति का फोटो है।

पुस्तक के अंत में दिये चित्रों में प्रथम ऋषभदेव का और द्वितीय वर्द्धमान भगवान का जो चित्र है, वह कल्पसूत्र की एक हस्तलिखित प्रति का है। वह प्रति आचार्यश्री के संग्रह में थी और आचार्यश्री ने उसे नेशनल म्यूजियम दिल्ली को भेंट कर दिया। यह कल्पसूत्र म्यूजियम में प्रदर्शित है।

तीसरा चित्र गर्भापहार के प्रसंग का है। उसमें हरिणेगमेषी बना है। वह कंकाली टीला (मथुरा) में प्राप्त एक कुषाण-कालीन मूर्ति का फोटो है।

और, चौथा चित्र वर्द्धमान भगवान् का है। यह भी कुषाण-कालीन एक मूर्ति का फोटो है। यह मूर्ति लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके लिए हम पुरातत्व-विभाग के आभारी हैं।

यशोधर्म मंदिर
१६६ गजंबान रोड,
अंधेरी, बम्बई ५८
विजयादशमी १९६०.

काशीनाथ सराक

सहायक-सूची

१ श्री चन्द्रप्रभु-जैन-मंदिर ट्रस्ट, सैंडर्स्ट रोड, बम्बई
२ ,, वाडीलाल मनसुखलाल पारेख (कपड़वंज)
३ ,, पोपटलाल भीखाचंद (पाटण)
४ ,, चिमनलाल मोहनलाल झवेरी (बम्बई)
५ ,, टेकचन्द सिंघी (सिरोही)
६ ,, धीरूभाई गिरधरलाल कोठारी (राधनपुर)
७ ,, माणिकलाल स्वरूपचन्द (पाटण)
८ ,, भीखमचन्द चेलाजी (मारवाड़)
९ ,, हरिदास सौभाग्यचन्द (वेरावल)
१० ,, गेंनमल मनरूपजी (तखतगढ)
११ ,, भीमाजी देवचन्द (खिवाणदी)
१२ ,, रामाजी सरेमल (तखतगढ़)
१३ ,, मोतीलाल किलाचन्द (पाटण)
१४ ,, बाबूभाई फकीरचंद (सूरत)
१५ ,, चन्दूलाल खुशहालचन्द (बीजापुर, राजपूताना)
१६ ,, रणछोड़भाई रायचन्द वकील (सूरत)
१७ ,, हरषचन्द वीरचन्द गांधी (महुवा)
१८ ,, नानजी रामजी (बम्बई)
१९ ,, प्रेमजी भीमजी (वेरावल)
२० ,, बालचंद ईश्वरदास (राधनपुर)
२१ ,, नरभेराम जूठाभाई (चलाला)
२२ डा० छोटेलाल नवलचन्द (बम्बई)
२३ श्री सौभाग्यचन्द कुंवरजी वारैया (महुवा)
२४ ,, मानमल पूनमचन्द (तखतगढ़)

२५ श्री फौजमल राजाजी (तखतगढ़)
२६ ,, रायचन्द गुलाबचन्द (खीवाणदी)
२७ ,, नवनीतलाल मणिलाल (पाटण)
२८ ,, भोगीलाल अनूपचन्द (पाटण)
२९ ,, मनीलाल मगनलाल (पाटण)
३० ,, माणिकलाल हरखचन्द मास्टर (वेरावल)
३१ ,, गिरधरलाल साकरचन्द (गुजरात)
३२ ,, खूबचन्द सरूपचन्द (पाटण)
३३ ,, जसराज सरदारमल (तखतगढ़)
३४ ,, मावजी दामजी शाह (भावनगर)
३५ ,, राजमल पुखराजजी संघवी (तखतगढ़)
३६ श्रीमती कलावती फतेहचन्द (सूरत)
३७ श्री त्रिकमलाल मगनलाल वीरवाड़िया (राधनपुर)
३८ ,, डा० थोयमल बालचन्द जैन (शिवगंज)
३९ ,, न्यालचन्द फौजमल शाह (शिवगंज)
४० ,, जयसिंहभाई उगरचन्द (अहमदाबाद)
४१ ,, छोगमल एन० शाह (सिरोही)
४२ ,, प्रभुलाल ताराचंद (बीजापुर)
४३ ,, हिम्मतमल छोगमल (लोणावा)
४४ ,, मोतीलाल नवलाजी (सियाणदी)
४५ ,, रूपचंद भंसाली (पाली)
४६ ,, भगत चिमनाजी (बाली)
४७ ,, नन्दलाल जूठाभाई (चलाला)
४८ ,, चंदूलाल बालाभाई वकील (बम्बई)
४९ ,, रतीलाल फूलचन्द मेहता (पालीताणा)
५० ,, अन्धेरी संघ की बहिनों की ओर से
५१ ,, राजेन्द्रकुमार, (बम्बई)

सहायक ग्रन्थ

जैन-आगम

अङ्ग

आचारांग सूत्र—शीलांकाचार्य वृत्ति युक्त भाग १, २। (सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई)

आचारांग सूत्र—टीका दीपिका सहित सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का मुर्शिदाबाद, सं० १९३६ वि०)

श्री आचारांगचूर्णि—जिनदासगणि महत्तर-रचित
(श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम)

आचारांग सूत्र—जैकोबी-कृत अंग्रेजी अनुवाद, (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम २२, १८८४ ई०)

आचारांग सूत्र—गुजरातीअ-नुवाद सहित, अनु. प्रो. रवजीभाई देवराज (राजकोट, १९०६)

आचारांग सूत्र—प्रथम श्रुतस्कंध हिन्दी अनुवाद सहित, अनु. मुनि सौभाग्यमलजी (उज्जैन)

श्रीमत्सूत्रकृतांगम्—भद्रबाहु स्वामि-निर्मित निर्युक्ति तथा शीलांकाचार्य विहित विवरण युक्त, भाग १, २ (गौड़ीजी, बम्बई)

श्री सूयगडांग सूत्र—टीका दीपिका सहित सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सं० १९३६ वि०)

सूत्रकृतांग जैकोबी कृत अंग्रेजी अनुवाद (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम ४५, १८९५ ई०)

सूयगडं डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

श्रीमत्स्थानांग सूत्र—अभयदेव सूरि-विवरण युक्त (भाग १, २ (आगमोदय समिति, सं० १९७५-१९७६ वि०)

स्थानांगसूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८० ई०)

स्थानांग सूत्र—टीका के अनुवाद सहित (अष्टकोटी बृहद्पक्षीय संघ, मुंद्रा, कच्छ, वि० सं० २००८)

श्रीमद् समवायांग सूत्रम्—अभयदेव सूरि टीका सहित (मास्टर नगीनदास नेमचंद्र, अहमदाबाद)

श्री समवायांग सूत्र—मूल तथा गुजराती अनुवाद (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

श्री समवायांग सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८० ई०)

स्थानांग-समवायांग—(गुजराती) सम्पादक दलसुख मालवणिया, (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद)

श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति—अभयदेव वृत्ति सहित, भाग १, २, ३ (रतलाम)

श्रीभगवतीसूत्रम्, दानशेखर गणि कृत टीका (ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम)

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्—खंड १, २ पं० बेचरदास-सम्पादित तथा अनूदित

श्रीमद्भगवतीसूत्रम्—खंड ३, ४ भगवानदास हरखचंद दोशी-सम्पादित तथा अनूदित।

श्रीमत्भगवती सूत्र—१५-वाँ शतक (बम्बई)

श्री ज्ञाताधर्मकथा—सटीक (आगमोदय समिति)

श्री ज्ञाताधर्मकथांग—अभयदेवसूरि-कृत टीका सहित, भाग १, २ (सिद्धचक्र समिति, बम्बई)

नायाधम्मकहाओ—एन० वी० वैद्य-सम्पादित (पूना)

भगवान् महावीरनी धर्मकथाओ—अनु० पं० बेचरदास दोशी (गुजरात-विद्यापीठ, अहमदाबाद)

उवासगदसाओ—अभयदेवसूरि की टीका सहित (भगवानदास हर्षचंद)

उवासगदसाओ—डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

उवासगदसाओ—गोरे-सम्पादित (पूना)

उवासगदसाओ—ए० एफ० रुडोल्फ हार्नेल-सम्पादित तथा अनूदित (अँग्रेजी) (बिब्लियाथिका इंडिका, एशियाटिक सोसाइटी, वंगाल, १८९० ई०)

अंतगडदसाओ—म० चि० मोदी-सम्पादित

अंतगडदसाओ—पी० एल० वैद्य-सम्पादित

अंतगडदसाओ—एन० वी० वैद्य-सम्पादित

अंतगडदसाओ...एल० डी० बार्नेट-अनूदित (रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन १९०७ ई०)

अनुत्तरोपपातिक दशा—अभयदेवसूरि-टीका सहित (आत्मानंद-जैन-सभा, भावनगर)

अणुत्तरोववाइय—म० चि० मोदी-सम्पादित (अहमदाबाद)

अणुत्तरोववाइय—पी० एल० वैद्य-संपादित

अणुत्तरोववाइय—एन० वी० वैद्य-सम्पादित (पूना)

अणुत्तरोववाइय सूत्र अंग्रेजी अनुवाद, अनु० वार्नेट, लंदन।

प्रश्नव्याकरण अभयदेवसूरी टीकायुत (आगमोदय समिति, १९७५ वि०)

विवागसूयं—चोकसी-मोदी-सम्पादित (गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

विवागसूयं—डा० पी० एल० वैद्य-सम्पादित (पूना)

उपांग

औपपातिक सूत्र—अभयदेव की टीका सहित (सूरत, सं० १९९४ वि०)

ओववाइयसुत्तं—सुरु-सम्पादित (पूना)

श्री रायपसेणइयसुत्तं—सटीक (आगमोदय समिति)

श्री रायपसेनी—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का)

श्री रायपसेणइयसुत्तं—सटीक तथा सानुवाद अनु० पं० बेचरदास जीवराज दोशी (गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

रायपसेणिज्जम्—एन० वी० वैद्य-संपादित (अहमदाबाद)

जीवाजीवाभिगम सूत्र—मलयगिरि की टीका सहित (देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, सं० १९७५ वि०)

जीवाजीवाभिगम सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का)

प्रज्ञापना सूत्रम्—मलयगिरि विवरण युत, २ भाग (आगमोदय समिति, १९१८ ई०)

पंनवणा सूत्र—सटीक सानुवाद (बाबू धनपतसिंह का, सन् १८८४ ई०)

प्रज्ञापनोपांगं—हरिभद्रसूरि सूत्रित २ भाग (रतलाम)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—शांतिचन्द्र गणि-विहित वृत्ति युत, भाग १ २, (देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, वि. १९७६ वि.)

निरयावलियायो—श्रीचंद्रसूरि विरचित विवरण युतं, (आगमोदय समिति) १९२२ ई०

निरयावलियाओ—मूल और टीका के अर्थ सहित (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९९० वि०)

निरयावलियाओ—डा. पी. एल. वैद्य-सम्पादित (पूना)

निरयावलियायो—आचार्य घासीरामजी-सम्पादित तथा अनूदित (राजकोट, सं. २००४ वि.)

छेदसूत्र

निशिथ सूत्र चूर्णि-टीका सहित ४ भाग (सन्मति प्रकाशन, आगरा)

निशीथ चूर्णि (साइक्लोस्टाइल-प्रति)

बृहत्कल्पसूत्र—निर्युक्ति भाष्य, टीका-सहित ६ भाग (आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर।

बृहत्कल्प मुनिहस्तीमल-सम्पादित

व्यवहार सूत्र—मलयगिरि की टीका सहित, दो भाग (१९२६ ई०)

नंदीसूत्र—देववाचक क्षमाश्रमण, मलयगिरि की टीका सहित (आगमोदय समिति १९२४ ई०)

अणुयोगद्वार—मलधारी हेमचन्द्र की टीका सहित, (आगमोदय समिति)

अणुयोगद्वार चूर्णि—(इन्दौर, १६२८ वि०)

मूल सूत्र

उत्तराध्ययन चूर्णि (सूरत)

उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य की टीका सहित, २ भाग (देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत)

उत्तराध्ययन नेमिचन्द्राचार्य विरचित टीका सहित (वलाद)

उत्तराध्ययन भावविजय की टीका सहित २ भाग (आत्मानंदसभा, भावनगर)

उत्तराध्ययन कमलसंयमी टीका सहित ४ भाग (विजय धर्मलक्ष्मी ज्ञान-मंदिर, आगरा)

उत्तराध्ययन टीका के अनुवाद सहित (भावनगर)

उत्तराध्ययनसूत्र जार्ल-कार्पेंटियर-सम्पादित (उपसाला, स्वीडेन)

उत्तराध्ययन सानुवाद (स्था०) आचार्य आत्मारामजी ३ भाग (लुधियाना)

आवस्सयनिज्जुत्ति संस्कृत छाया सहित (अपूर्ण यशोविजय ग्रंथमाला, भावनगर)

आवश्यकचूर्णि, २ भाग (रतलाम, १६२८)

आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका सहित ३ भाग (सूरत)

आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी की टीका सहित ३ भाग (आगमोदय समिति)

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका ३ भाग (सूरत)

हारिभद्रियावश्यक वृत्ति टिप्पणकम् मलधारी हेमचन्द्र-रचित (सूरत)

विशेषावश्यक भाष्य टीका सहित (यशोविजय ग्रंथमाला, वाराणसी)

दशवैकालिक टीका-दीपिका तथा अनुवाद सहित (बाबू धनपत सिंह, १९०० ई०)

श्रीदशवैकालिक हरिभद्र की टीका सहित (देवचंद लालभाई,)

श्रीदशवैकालिक सुमतिसाधु की टीका सहित (देवचन्द लालभाई)

दशवैकालिक समयसुन्दर की टीका सहित (खम्भात)

दशवैकालिक सूत्रम् सावचूरी सच्छायाम् (सतारा)
दशवैकालिक चूर्णि, जिनदास गणिकृत
दसवेयालियसुत्त डा० अर्नेस्ट ल्यूमैन-सम्पादित
दसवैकालिकसूत्रम के० वी० अभ्यंकर-सम्पादित (अहमदाबाद)
पिंडनिर्युक्ति क्षमारत्नसूत्रित (देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड)
श्रीपिंड निर्युक्तिः मलयगिरि की टीका-सहित (देवचंद लालभाई जैन पुस्तोकद्धार संस्था, १९१८ ई०)
चुल्लकल्पसूत्र जिनप्रभ सूरि कृत संदेह विषौषधि टीका (पं. श्रावक हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१३)
कल्पसूत्र किरणावलि (आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, सन् १९२२)
कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका (मुक्ति कमल जैन मोहनमाला कार्यालय, बड़ौदा, स. १९५४ ई०)
पवित्र कल्पसूत्र, चूर्णि, निर्युक्ति, टिप्पणि तथा पाठांतर सहित (साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद)
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी राजेन्द्र सूरि कृत (राजेन्द्रप्रवचन कार्यालय, खुडाला १९३३ ई०)
कल्पसूत्र बंगला अनुवाद डा० वसंतकुमार चट्टोपाध्याय (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
कल्पसूत्र जैकोबी कृत अंग्रेजी अनुवाद (सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट, वाल्यूम २२)
कल्पसूत्र मूल जैकोबी-सम्पादित (रोमन-लिपि में, लिपजिग, १८७९ ई०)
अष्टाह्निका - कल्प - सुबोधिका (गुजराती, सम्पादक साराभाई मणिलाल नवाब, सन १९५३ ई०)

अन्य जैन-ग्रन्थ

प्रवचन सारोद्धार सटीक २ भाग (देवचंद लालभाई फंड)
लोकप्रकाश २ भाग भाषांतर सहित (श्रीमती आगमोदय समिति)

काललोक प्रकाश (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

लोक प्रकाश, ४ भाग (देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था)

लघुक्षेत्र समास (जैन भूगोल, मुक्ति कमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा)

प्रमाण नयतत्त्व लोकालंकार सटीक (यशोविजय ग्रंथमाला, वीर सं० २४३७)

तत्त्वार्थसूत्र (बम्बई, सं० १९९६ वि०)

धर्मसंग्रह गुजराती अनुवाद सहित २ भाग (अहमदाबाद, २००६ वि०)

वृहत्संग्रहणी जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण-विरचिता तथा मलयगिरी विरचित वृत्ति सहिता (आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, सं. १९७३ वि०)

संग्रहणी श्रीचंद्रसूरि-प्रणीत, गुजराती अनुवाद सहित (मुक्ति कमल जैन मोहन माला, वड़ौदा १९४३ वि०)

हीरप्रश्न गुजराती अनुवाद, (मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई, १९४३ ई०)

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

एकविंशतिस्थान प्रकरण सिद्धसेन सूरि-विरचित, सटीक (खीमचंद फूलचंद मु० सिनोर, सन् १९२४ ई०)

तिलोयपण्णत्ति

निर्वाणभक्ति

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

विविधतीर्थकल्प (सिंघी जैन सीरीज)

त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र

महावीर चरियं—नेमिचंद्रसूरि कृत (आत्मानंद सभा, भावनगर १९७३वि.)

महावीर चरित्रं (प्राकृत)—गुणचंद्र गणि कृत (देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, १९२९ ई०)

वसुदेव हिण्डी, २ भाग (आत्मानंद जैन सभा, भावनगर)

वसुदेव हिंडी (गुजराती, भाषांतरकार—डा० भोगीलाल सांडेसरा)

पार्श्वनाथ चरित्र—भावदेव सूरि कृत (यशोविजय ग्रंथमाला, वाराणसी)

पार्श्वनाथ चरित्र—हेमविजय गणि कृत (मोहनलालजी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, १९१६ ई०)

पासनाह चरियं–देवभद्र सूरि कृत (मणिविजय गणि ग्रन्थमाला, लीच, गुजरात, १६४५ ई.)

पृथ्वीचंद्र चरित्र–लब्धिसागर सूरि-कृत।

कुमारपाल चरित्र–हेमचंद्राचार्य-रचित (वाम्बे संस्कृत सीरीज)

पद्मानंद महाकाव्यं–अमरचंद्र सूरि कृत (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा)

जैन-चित्र-कल्पद्रुम (सम्पादक साराभाई नवाब, सन् १६३६ ई०)

सुपासनाह चरियं–लक्ष्मण गणि विरचित (जैन विविध साहित्य शास्त्र माला, वाराणसी, १६१६ ई०)

पद्मचरितं–रविषेणाचार्य कृत, ३ भाग (माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, १६८५ वि०)

पउमचरिय–विमलसूरि-रचित (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९१४ ई०)

हरिवंश पुराण–जिनसेन सूरि-कृत, २ भाग (माणिक्यचन्द्र जैन ग्रन्थ-माला, बंबई)

वरागचरितं–जटासिंह नन्दि-विरचित (संपादक ए. एन. उपाध्याय, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बंबई)

उत्तरपुराण–आचार्यगुणभद्र-रचित (मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी)

दशभक्ति–आचार्य पूज्यपाद विरचित।

वर्द्धमान-चरित्र–असग-रचित।

भरतेश्वर बाहुबलि वृत्तिः २ भाग, (देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, १६३३)

ऋषिमंडल प्रकरण वृत्ति सहित (बलाद, १६३६ ई०)

अंग्रेजी

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र ४ भाग (अंग्रेजी-अनुवाद) एलेन जानसन, बड़ोदा ओरियंटल सिरीज

आन द' इंडियन सेक्ट आव द' जैनाज—बूलर-लिखित अंग्रेजी अनुवाद (लंदन १९०३)

द' जैन स्तूप एंड अदर एंटीक्विटीज आव मथुरा (मथुरा ऐंटीक्विटीज, न्यू इम्पीरियल सिरीज) वी० ए० स्मिथ-लिखित।

हार्ट आव जैनिज्म—श्रीमती स्टीवेंसन-लिखित (लंदन)

आउटलाइन आव जैनिज्म द्वितीयावृत्ति जे० एल० जैनी-लिखित (लंदन)

जैनिस्ट स्टडीज–ओटोस्टीन–लिखित (गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

स्टडीज इन जैनिज्म भाग १, डा० हर्मन याकोबी-लिखित (गुर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद)

हिस्ट्री आव द' कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज (अंग्रजी) हीरालाल रसिकदास कापड़िया (सूरत, १६४१)

विविधि

राजेन्द्र-सूरि-स्मारक-ग्रंथ (२०१३ वि०)

अज्ञानतिमिरभास्कर-विजयानंद सूरि-रचित (भावनगर)

जैन-दर्शन—न्यायतीर्थ न्यायविजय जी कृत—(श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन)

प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग १, आचार्य विजयधर्म सूरि-सम्पादित

चर्चासागर, चम्पालाल कृत

वीर-विहार-मीमांस (हिन्दी) विजयेन्द्र सूरि-लिखित, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई

वैशाली (हिन्दी, द्वितीयावृत्ति) विजयेन्द्र सूरि-लिखित, यशोधर्म मंदिर, बम्बई

क्षत्रियकुंड (गुजराती) मुनि दर्शन विजय त्रिपुटी-लिखित (जैन प्राच्य विद्याभवन, अहमदाबाद)

आगमोनु दिग्दर्शन (गुजराती) प्रो० हीरालाल कापड़िया-लिखित (भावनगर)

जैन साहित्य और इतिहास (हिन्दी, द्वितीयावृत्ति) नाथूराम प्रेमी (बम्बई)

लिखित (जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी, विश्वविद्यालय, वाराणसी)

श्री महावीर कथा (गुजराती) गोपालदास जीवाभाई पटेल-लिखि (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९४१ ई.)

महावीर हिज लाइफ ऐंड टीचिंग्स (अंग्रेजी) सरस्वती राघवाचारी लिखित (जैन सस्तु साहित्य, अहमदाबाद)

महावीर वर्धमान (हिन्दी) डा. जगदीशचन्द्र जैन (विश्ववाणी कार्या लय, इलाहाबाद)

भगवान् श्री महावीर देव (गुजराती) (चीमनलाल नाथालाल शाह अहमदाबाद)

लार्ड महावीर (अंग्रेजी) हरिसत्य भट्टाचार्य-लिखित (हिन्दी विद्या मंदिर, न्यू दिल्ली, १९३८)

महावीर (वल्लभसूरि स्मारक निधि, बम्बई ३)

महावीर स्वामी नुं संक्षिप्त जीवन चरित्र (जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)

महावीर जीवन महिमा (हिन्दी) पं. बेचरदास दोशी. (आल इंडिया महावीर जयंती कमेटी, दिल्ली)

बौद्ध-ग्रंथ

दीघनिकाय (पालि) ३ भाग (नालंदा महाविहार, १६५८ ई०)

दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) राहुल सांकृत्यायन, जगदीश काश्यप (महाबोधी सभा, सारनाथ)

विनय पिटके महावग्ग (पालि) (नालंदा महाविहार, १६५६)

विनय पिटके पाचित्तिय (पालि) (नालंदा महाविहार, १६५८ ई०)

विनय पिटके परिवार (पालि) (नालंदा महाविहार, १६५८ ई०)

विनय पिटके पाराजिक (पालि) (नालंदा महाविहार, १६५८ ई०)

विनय पिटक (हिन्दी-अनुवाद) राहुल सांकृत्यायन, (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६३५ ई०)

मज्झिमनिकाय (पालि) ३ भाग (नालंदा महाविहार, १६५८ ई०)

मज्झिमनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) राहुल सांकृत्यायन (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६३५ ई०)

संयुक्त निपात,२ भाग (हिन्दी-अनुवाद) जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित (महाबोधि सभा, सारनाथ, १६५४ ई०)

जातकट्ठ कथा, भाग १ (मूल) (भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी)

निदान कथा (मूल) धम्मानंद संसोधिता (आरण्यक कुटी, पूना, १६१५ ई०)

जातक (हिन्दी अनुवाद) अनु० भदंत आनंद कौसल्यायन (दयानंद प्रेस लाहौर, १६३६ ई०)

जातक (हिन्दी-अनुवाद) ६ भाग, अनु० भदंत आनंद कौसल्यायन (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

जातक (बंगला-अनुवाद) ६ भाग, ईशानचंद्र घोष (विश्वविद्यालय, कलकत्ता)

सुत्तनिपात (मूल) (उत्तम भिक्खु, १६३७ ई०)

सुत्तनिपात (मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद) लार्ड चाल्मर्स, (हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज, १९३२ ई०)

सुत्त निपात (गुजराती अनुवाद)

महावस्तु—सेनार्ट-सम्पादित (मूल)

महावस्तु ३ भाग (अंग्रेजी-अनुवाद) जे० जे० जोंस (लूजाक ऐंड कम्पनी, लंदन, १९४९)

महामयूरी

सुमंगलविलासिनी (दीघनिकाय की टीका) (पालि टेक्स्ट सोसायटी)

सारत्थप्पकासिनी (संयुक्त निकाय की टीका)

बुद्धचर्या (हिन्दी) राहुल सांकृत्यायन-लिखित (महाबोधि-सोसाइटी, सारनाथ)

लाइफ आव बुद्ध (अंग्रेजी) ई० जे० टामस-लिखित (लंदन १९३१)

लाइफ आव बुद्ध (अंग्रेजी) राकहिल-लिखित (लंदन, १९०७)

बुद्धिस्ट रेकार्ड्स इन वेस्टर्न वर्ल्ड—बील-लिखित (लंदन)

२५०० इयर्स आव बुद्धिज्म, प्रो० पी० वी० बापट-सम्पादित (पब्लिकेशंस डिविजन, भारत सरकार, नयी दिल्ली, १९५६)

बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष, 'आजकल' वार्षिक अंक, दिसम्बर १९५६

वैदिक-ग्रंथ

ऋग्वेद (वैदिक यंत्रालय, अजमेर)

यजुर्वेद (वैदिक यंत्रालय, अजमेर)

सामवेद (वैदिक यंत्रालय, अजमेर)

अथर्ववेद, (वैदिक यंत्रालय, अजमेर)

कृष्णयजुर्वेद कीथ-कृत अंग्रेजी-अनुवाद

श्रीमद्भागवत महापुराण, २ भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर

मनुस्मृति मेधातिथि-भाष्य सहित (जे० आर० घारपूरे, बम्बई १९२०)

मनुस्मृति रामेश्वर भट्ट-कृत भाषा टीका सहित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ई०)

मनुस्मृति कुल्लूक भट्ट की टीका सहित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९)

मानव-धर्म-सूत्र—जे. जाली-सम्पादित (लंदन, १८८७ ई०)

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, टी. आर. कृष्णमाचार्य-सम्पादित २ भाग (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०५ ई०)

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (गुजराती अनुवाद) २ भाग, सस्तुं साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय (अहमदाबाद)

महाभारत टी. आर. कृष्णमाचार्य आदि सम्पादित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०६ ई०)

महाभारत (भंडारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट, पूना)

महाभारत (गुजराती-अनुवाद) (सस्तुं साहित्य-वर्द्धक-कार्यालय, अहमदाबाद)

बृहत्संहिता २ भाग सुब्रह्मण्य शास्त्री अनूदित (अंग्रेजी, बंगलोर १९४७)

बृहत्संहिता (हिन्दी-अनुवाद) दुर्गाप्रसाद-अनूदित (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८९३ ई०)

शतपथ ब्राह्मण

वृहत् विष्णु पुराण

विष्णु-पुराण (गीता प्रेस, गोरखपुर)

विष्णु-पुराण विल्सन-कृत अंग्रेजी अनुवाद

नारद-स्मृति

कात्यायन-स्मृति

वृहस्पति-स्मृति

वासवदत्ता (बम्बई)

दशकुमार चरित्र (बम्बई)

पंचतंत्र हर्टल-सम्पादित (हारवर्ड ओरियंटल सीरीज)

कौटिलीयं अर्थशास्त्र (संस्कृत) आर. श्याम शास्त्री-सम्पादित (विश्वविद्यालय मैसूर, १९२४ ई०)

कौटिलीयं अर्थशास्त्रम् (संस्कृत) जाली-सम्पादित २ भाग (मोतीलाल बनारसीदास, १९२३)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (अंग्रेजी-अनुवाद) डा. आर. श्यामशास्त्री-अनूदित (मैसूर, १९२९ ई०)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (बंगला-अनुवाद) २ भाग, राधागोविंद बसाक-अनूदित (कलकत्ता)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद) (संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, १९२५ ई०)

कौटिलीय अर्थशास्त्र (गुजराती अनुवाद) (एम. सी. कोठारी, बड़ोदा)

कथा-सरित्सागर

वैताल-पंचविंशतिका

पत्र-पत्रिकाएँ

अंग्रेजी

एपिग्राफिका इंडिका, खंड २।

जर्नल आव इंडियन सोसाइटी आव ओरियंटल आर्ट, वाल्यूम १९ १९५२-५३ (कलकत्ता)

इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, भाग २०, अंक ३।

मेमायर्स आव द' आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया, संख्या ६६।

साइनो-इण्डियन-स्टडीज, भाग ४।

इलस्ट्रेटेड वीकली आव इण्डिया, १३ जुलाई १९५८

इडियन एण्टीक्वैरी १९०८।

जर्नल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल।

हिन्दी

जैन-साहित्य-संशोधक, खंड १, अंक ४।

भारतीय विद्या (सिंघी-स्मृति-ग्रंथ), बम्बई।

ज्ञानोदय वर्ष १, अंक ६-७, वाराणसी।

नवनीत, जुलाई, १९५४, बम्बई।

नवभारत-टाइम्स, बम्बई, ५–७ नवम्बर १९५९।

हिन्दुस्तान (दैनिक) दिल्ली, ७ अक्तूबर १९५९

जनप्रकाश उत्थान महावीर-अंक, वीर सं० २४६०, (अंक १८-२४, वर्ष २)

जैन श्वेताम्बर कानफरेंस हेराल्ड, अक्तूबर-नवम्बर १९१४ ई० (बम्बई)

जैन-भारती, जुलाई-अगस्त १९४९ (कलकत्ता)

जैन-युग श्रीमहावीर जयन्ती अंक, वी० सं० २४५२, विक्रम सं० १९८२ (बम्बई)

भूगोल भुवनकोषांक, वर्ष ८, अंक १-३, मई, जन, जुलाई १९३२, (प्रयाग)

विविध ग्रन्थ

१ जीवन-विज्ञान (गुजरात-वर्नाक्यूलर-सोसाइटी, अहमदाबाद)

कोष

संस्कृत

अमरकोष भानुजी दीक्षित की टीका सहित (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई)

अमरकोष विष्णुदत्त की टीका सहित (व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

अभिधान चिंतामणि, २ भाग कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य कृत स्वोपज्ञ टीका-सहित (यशोविजय ग्रंथमाला, वाराणसी)

अभिधान चिंतामणि (देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड)

वैजयन्ती कोष, गुस्ताफ ओपेर्ट-सम्पादित (मद्रास, १८९३ ई०)

कल्पद्रुकोश, २ भाग—गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा

शब्द रत्न महोदधि, २ भाग (संस्कृत-गुजराती) मुक्तिविजय गणि सम्पादित

अनेकार्थ संग्रह—कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य (चौखम्भा-सिरीज)

पद्यचंद्रकोष महामहोपाध्याय गणेशदत्त-सम्पादित (मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर)

शब्दरत्न समन्वय कोष (गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज)

शब्दार्थ-चिंतामणि, ४ भाग (उदयपुर राज्य)

अनेकार्थ-तिलक, महीप कृत (डक्कन कालेज, पूना)

त्रिकाण्ड शेषः—पुरुषोत्तमदेव-रचित (खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, १९१६)

महाभाष्य शब्द-कोष (भंडारकर ओरियंटल इंस्टीटयूट, पूना १९२७ई.)

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, मोन्योर-मोन्योर विलियम्स (आक्सफोर्ड १८९९)

संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी—वामन शिवराम आप्टे-सम्पादित, १९१२

आप्टेज प्रैक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, ३ भाग (प्रसाद-प्रकाशन, पूना)

बुद्धिस्ट संस्कृत हाइब्रिड ग्रामर एँड डिक्शनरी, २ भाग (एजर्टन-सम्पादित)

प्राकृत

अभिधान राजेन्द्र, ७ भाग (रतलाम)

अर्द्धमागधी कोष-मुनि रत्नचन्द्रजी (५ भाग, बम्बई)

पाइअसद्दमहण्णवो (कलकत्ता)

पाइअलच्छीनाममाला (गाटिंजन, १८७९)

पाइअलच्छीनाममाला (भावनगर)

जैनागम शब्द संग्रह (लिंबडी)

अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्द कोप, प्रथम भाग (देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड)

देसीनाममाला, पिशल-सम्पादित (पूना)

देसीनाममाला, पिशल तथा बूलर-सम्पादित (बम्बई, १८८० ई०)

देसीनाममाला मुरलीधर बनर्जी-सम्पादित (कलकत्ता विश्वविद्यालय १९३१)

पाली

पाली-इंग्लिश-डिक्शनरी, रीस डेविड्स तथा विलीयम स्टेड-सम्पादित (पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन)

डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, २ भाग, जी. पी. मलालशेखर-सम्पादित (लंदन)

हिन्दी

वृहद् हिन्दी-कोप (ज्ञानमंडल लि., वाराणसी)

वृहद् जैन शब्दार्णव (द्वितीय खंड, संग्रहकर्ता बिहारीलाल जैन, सम्पादक ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी)

अंग्रेजी

इनसाइक्लोपीडिया आव एथिक्स ऐंड रेलिजन.

ज्यागरैफिकल डिक्शनरी आव ऐंशेंट ऐंड मिडिवल इंडिया—नंदलाल देरचित.(ल्युजाक ऐंड कम्पनी, लंदन १९२०)

आधुनिक ग्रंथ

हिन्दी

सम्पूर्णानंद-अभिनंदन-ग्रंथ (हिन्दी) (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २००७ वि०)

भारतीय सिक्के (हिन्दी) डाक्टर वासुदेव उपाध्याय-लिखित (भारती-भंडार, प्रयाग)

सार्थवाह (हिन्दी) डाक्टर मोतीचन्द्र-लिखित (राष्ट्रभाषा परिषद, विहार, पटना)

हर्षचरित (हिन्दी) डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल-लिखित (विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५३)

धर्म और दर्शन (हिन्दी) डाक्टर बल्देव उपाध्याय-लिखित

हिन्दू भारत का उत्कर्ष (हिन्दी) चिंतामणि विनायक वैद्य-लिखित (ज्ञानमंडल, वाराणसी)

मुंगेर जिला-दर्पण (हिन्दी)

भारतीय इतिहास की रूपरेखा (हिन्दी) २ भाग, जयचन्द विद्यालंकार-लिखित (हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद)

मथुरा-परिचय (हिन्दी) कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित (मथुरा)

अहिच्छत्रा (हिन्दी) कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित (लखनऊ)

बुद्धपूर्व का भारतीय इतिहास (हिन्दी) मिश्रबंधु-लिखित (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

कुशीनगर का इतिहास—धर्मरक्षित-लिखित (कुशीनगर, देवरिया)

प्राचीन भारतवर्ष (गुजराती) डा० त्रिभुवनदास-लिखित (बड़ौदा)

पाणिनीकालीन भारतवर्ष (हिन्दी) वासुदेवशरण अग्रवाल (मोतीलाल बनारसीदास, २०१२ वि.)

वैशाली-अभिनंदन-ग्रंथ (वैशाली-संघ, वैशाली, १९४८ ई०)

प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ (प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ-समिति, टीकमगढ़, १९४६)

द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ (नागरी-प्रचारिणी-सभा, वाराणसी, १९९० वि.)

नेहरू-अभिनंदन-ग्रंथ (विश्वनाथ मोर, १९४९ ई०)

भारतीय अनुशीलन, ओझा-अभिनंदन-ग्रंथ (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, १९९० ई०)

शूब्रिंग-अभिनन्दन-ग्रंथ, हेम्बर्ग १९५१ ई०)

एशियाटिका—वेलर-अभिनंदन-ग्रंथ (लिपजिग, १९५४ ई०)

प्राचीन भारतवर्ष नुं सिंहावलोकन (गुजराती) आचार्य विजयेन्द्र सूरि (यशोविजय-ग्रंथमाला, भावनगर)

हस्तिनापुर (हिन्दी) (यशोधर्म मंदिर, बम्बई)

अंग्रेजी

ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म (अंग्रेजी) डा० विमल चरणला-लिखित (लंदन, १९३२)

ए गाइड टु स्कल्पचर्स इन इंडियन म्यूजियम, २ भाग (दिल्ली)

पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया (अंग्रेजी, ५-वाँ संस्करण) रायचौधरी लिखित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय)

हिस्टारिकल ज्यागरैफी आव इण्डिया (अंग्रेजी) विमलचरण ला-लिखित (सोसाइटी एसियाटिक द' पेरिस, १९५४ ई०)

ट्राइब्स इन ऐंशेंट इण्डिया (अंग्रेजी) विमलचरण ला-लिखित (भंडारकर ओरियंटल इंस्टीटयूट, पूना, १९४३ ई०)

इण्डालाजिकल स्टडीज (अंग्रेजी) भाग १, २ विमलचरण ला-लिखित (इण्डियन रिसर्च इंस्टीटयूट, कलकत्ता)

इण्डालाजिकल स्टडीज, भाग ३, विमलचरण ला-लिखित (गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीटयूट, प्रयाग)

हिस्ट्री आव तिरहुत (अंग्रेजी) एस. एन. सिंह-लिखित (बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता १९२२ ई०)

रिवर आव किंग्स (अंग्रेजी) (राजतरंगिणी का अनुवाद) आर. एस. पण्डित (इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग १९३५)

एक्सकैवेशंस ऐट बानगढ़ (अंग्रेजी) के. एन. दीक्षित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय)

प्री एरियन ऐंड प्री ड्रेवेडियन इन इंडिया—सिलवेन लेवी (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९२९) प्रबोधचन्द्र बागची-अनूदित।

सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री ऐंड सिविलाइजेशन, भाग १, दिनेशचन्द्र सरकार-सम्पादित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९४२)

अशोक ऐंड हिज इंस्क्रिप्शंस—डा० वेणीमाधव बरुआ (न्यू एज पब्लिशर्स लिमिटेड, कलकत्ता १९४६)

मीनिएचर पेंटिंग्स आव द' कल्पसूत्र—डाक्टर नार्मन ब्राउन (अमेरिका)

हिस्ट्री आव बंगाल, भाग १, आर. सी. मजूमदार-लिखित

नालंदा ऐंड इट्स एपीग्राफिक मिटीरियल

मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया ६६, मैनेजर आव पब्लिकेशंस, दिल्ली, हीरानन्द शास्त्री-लिखित।

गजेटियर मुंगेर डिस्ट्रिक्ट (गवर्नमेंट प्रेस, पटना)

एंशेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन पार्जीटर-लिखित (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन १९२२)

द एंशेंट ज्यागरैफी आव इंडिया (द्वितीय आवृत्ति) कनिंघम (चक्रवर्ती चटर्जी ऐंड कम्पनी, कलकत्ता, १९२४)

इंडिया इन द टाइम आव पतंजलि, बी. ए. पुरी-लिखित (भारतीय-विद्या भवन, बम्बई ७)

द' शासन आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन गुप्तास टाइम

रिचार्ड फिक-लिखित (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२०) अनु० एस० के० मैत्र

स्कल्पचर्स इन द' कर्जन म्युजियम, मथुरा, वी. एस. अग्रवाल (प्रिंटिंग ऐंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश १९३३)

मथुरा म्युजियम कैटलग, भाग ३, वासुदेव एस. अग्रवाल (यू. पी. हिस्टारिकल सोसायटी, लखनऊ १९५२)

कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, भाग १, (१९२१ ई.)

द' एज आव इम्पीरियल यूनिटी (हिस्ट्री ऐंड कलचर आव द' इंडियन पीपुल, भाग २, भारतीय विद्या भवन, बम्बई)

हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिस आव द' आजीवक्स—ए. एल. बाशम-लिखित (ल्युजाक कम्पनी, लंदन)

ए हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग २, विंटरनित्स-लिखित (कलकत्ता-विश्वविद्यालय १९३२)

श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर (मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया, संख्या ५० विमलाचरणला लिखित (मैनेजर आव पब्लिकेशन, दिल्ली)

राजगृह इन ऐंशेंट लिटरेचर, विमल चरण ला-लिखित (मेमायर्स आव आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया, संख्या ५८, मैनेजर आव पब्लिकेशंस, दिल्ली)

लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनंस, डा० जगदीशचन्द्र जैन-लिखित (न्यू बुक कम्पनी, बम्बई)

卐

卐

विषय-प्रवेश

卐

श्रीमदर्हते नमः

जगत्पूज्यश्रीविजयधर्मसूरिगुरुदेवेभ्यो नमः

तीर्थंकर महावीर

(१)

भूगोल

जैन-शास्त्रकारों की दृष्टि से इस भूमण्डल के मध्य में जम्बूद्वीप है[१]। वह सबसे छोटा है और उसके चारों ओर लवणोद समुद्र है। लवणोद समुद्र के चारों ओर धातकी खण्ड है। इसी प्रकार एक द्वीप के बाद एक समुद्र और फिर उस समुद्र के बाद एक द्वीप। इन द्वीपों तथा समुद्रों की संख्या असंख्य है[२]। अंतिम और सबसे बड़ा द्वीप स्वयम्भूरमण नामक है। वह स्वयम्भूरमण नामक समुद्र से घिरा हुआ है[३]। शास्त्रकारों ने प्रारम्भ के ८ द्वीप और ८ समुद्रों के नाम इस प्रकार बताये हैं :—

(१) द्वीप

जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड, पुष्कर द्वीप, वरुणवर द्वीप, क्षीरवर द्वीप, घृतवर द्वीप, इक्षुवर द्वीप, नंदीश्वर द्वीप[४]।

---

(१) लोकप्रकाश, सर्ग १५, श्लोक ६.
(२) „ „ „ १८.
(३) „ „ „ २६.
(४) „ „ „ ६–१२.

(२) समुद्र

लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, पुष्कर समुद्र, वरुणवर स० क्षीरोद समुद्र, घृतोद समुद्र, इक्षुद समुद्र, नंदीश्वरोद समुद्र [१]।

जम्बूद्वीप से दूना लवण समुद्र है और लवण समुद्र से दूना खण्ड, इसी क्रम से द्वीप और समुद्र दूने-दूने होते चले गये हैं [२]।

जम्बूवृक्ष होने के कारण इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा [३]।

इस द्वीप का व्यास १ लाख योजन है [४]। इस की परिधि ३,१६,२२ योजन, ३ कोस १२८ धनुष, १३½ अंगुल, ५ यव और १ यूका है [५]। इस का क्षेत्रफल ७,९०,५६,९४,१५० योजन, १॥। कोस, १५ धनुष और २ हाथ है [६]।

जम्बूद्वीप के बीच में सुमेरु नामका पर्वत है [७]। जो १ लाख यो॰ ऊँचा है [८]।

जम्बूद्वीप का दक्षिणी भूखण्ड भरत-क्षेत्र के नाम से विख्यात है। यह अ॰ चन्द्राकार है। इसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में लवण-समुद्र है [९]

---

(१) लोकप्रकाश, सर्ग १५, श्लोक ६–१२

(२) „ „ „ २८

(३) „ „ „ ३१–३२

(४) समवायाङ्गसूत्र, सूत्र १२४, पत्र २०७/२ (जैन धर्म प्र० सभा भावनगर) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक वक्षस्कार १, सूत्र १०, पत्र ६७/

(५) लोकप्रकाश, सर्ग १५, श्लोक ३४–३५

(६) „ „ „ ३६–३७

(७) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, वक्षस्कार ४, सूत्र १०३, पत्र ३५९/२–३६०/

(८) „ „ ४, „ १०३, पत्र ३५९/२

(९) „ „ १, „ १०, पत्र ६५/२

उत्तर दिशा में चूल हिमवंत पर्वत है[१]। उत्तर से दक्षिण तक भरत-क्षेत्र की लम्बाई ५२६ योजन ६ कला है और पूर्व से पश्चिम की लम्बाई १४४७१ योजन और कुछ कम ६ कला है[२]। उसका क्षेत्रफल ५३, ८०,६८१ योजन, १७ कला और १७ विकला है[३]।

भरत-क्षेत्र की सीमा में, उत्तर में चूलहिमवंत नामक पर्वत से पूर्व में गंगा और पश्चिम में सिन्धु नामक नदियाँ निकली है। उस भरत-क्षेत्र के मध्य में ५० योजन विस्तारवाला वैताढय पर्वत है,[४] जो पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में समुद्र का स्पर्श करता है। वह वैताढय पर्वत भरत-क्षेत्र को दो बराबर खण्डों मे विभक्त करता है[५]। उत्तर-भरत और दक्षिण-भरत। चूलहिमवंत से निकली गंगा और सिन्धु नदियाँ वैताढय पर्वत में से होकर लवण समुद्र में गिरती हैं। इस प्रकार ये नदियाँ उत्तर-भरत-खण्डको ३ भागों में और दक्षिण-भरतखंड को ३ भागों में विभक्त करती हैं[६]। इन ६ खण्डों में उत्तरार्द्ध के तीनों खण्डों में अनार्य रहते हैं। दक्षिण के अगल-बगल के खण्डों में भी अनार्य रहते है। जो मध्यका खण्ड है, उस में ही आर्यों के २५॥ देश हैं[७]। उत्तरार्द्ध-भरत उत्तर से दक्षिण तक २३८ योजन ३ कला है और दक्षिणार्द्ध भरत भी २३८ योजन ३ कला है।

वैदिक दृष्टिकोण

श्रीमद्भागवत में भी सात द्वीपों का वर्णन मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। इनमें से

---

(१) ,, ,, १, ,, १० पत्र ६५/२

(२) लोकप्रकाश, सर्ग १६, श्लोक ३०–३१

(३) ,, ,, ,, ३३–३४

(४) ,, ,, ,, ४८

(५) ,, ,, ,, ३५

(६) लोकप्रकाश सर्ग १६ श्लोक ३६

(७) लोकप्रकाश सर्ग १६ श्लोक ४४

पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीपों का परिमाण दूना होता चला गया है। ये द्वीप समुद्र के बाहरी भाग में पृथ्वी के चारों ओर फैले हैं। ... के नाम हैं—

क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, क्षीरोद, दधिमण्डोद और ... ये समुद्र सातों द्वीपों के चारों ओर खाईयों के समान हैं और ... अपने भीतरवाले द्वीप के बराबर हैं[१]।

बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध लोग जगत में चार ही महाद्वीप मानते हैं। उनके मतानुसार उन चारों के केन्द्र में सुमेरु पर्वत है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार सुमेरु के पूर्व में पुब्ब विदेह,[२] पश्चिम में अपरगोयान अथवा अपरगोदान[३] उत्तर में उत्तर कुरु[४] और दक्षिण में जम्बूद्वीप है[५]।

यह जम्बूद्वीप १० हजार योजन बड़ा है।[६] इसमें ४ हजार योजन जल से भरा होने से समुद्र कहा जाता है और ३ हजार योजन में मनुष्य बसते हैं। शेष तीन हजार योजन में चौरासी हजार कूटों (चोटियों) से सुशोभित चारों ओर बहती ५०० नदियों से विचित्र ५०० योजन ऊँचा हिमवान (हिमालय)[७] है।

इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि "जो देश आज हमें भारत के नाम से ज्ञात है, वही बौद्धों में जम्बूद्वीप तथा जैनों और ब्राह्मणों में भारतवर्ष के

---

(१) श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड, स्कन्द ५, अध्याय १ पृष्ठ ५४६
(२) 'डिक्शनेरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड, २, पृष्ठ २३६
(३) 'डिक्शनेरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड, १, पृष्ठ ११७
(४) 'डिक्शनेरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड १, पृष्ठ ३५५
(५) " " " " १, " ९४१
(६) " " " " १, " ९४१
(७) " " " " २, " १३२५-१३२६

नाम से विख्यात है" (विमलचरण लॉ-लिखित 'इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आव बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म', पृष्ठ १)।

आधुनिक भारतवर्ष को ही बौद्ध लोग जम्बूद्वीप की संज्ञा से सम्बोधित करते थे। यही मत ईशानचन्द्र घोष ने जातक प्रथम खण्ड में (पृष्ठ २८२), जयचन्द्र विद्यालङ्कार ने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' भाग १ में (पृष्ठ ४), टी॰ डब्ल्यू॰ रीस डेविस तथा विलियम स्टेड ने 'पाली इंग्लिश डिक्शनरी' (पृष्ठ ११२) में व्यक्त किया है। धर्मरक्षित की 'सुत्तनिपात' की भूमिका (बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय) के पृष्ठ १ से तथा जातक में भदंत आनंदकौसल्यायन द्वारा दिये गये मानचित्र से भी यही बात समर्थित है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैन और वैदिक जहाँ सुमेरु को जम्बूद्वीप के केंद्र में मानते हैं, वहाँ बौद्ध उसे चारों द्वीपों के केन्द्र में मानते हैं और जहाँ जन और वैदिक भारतवर्ष को जम्बूद्वीप का एक 'क्षेत्र' (खण्ड) मानते हैं, वहाँ बौद्ध उसे ही जम्बूद्वीप की संज्ञा देते है। जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में श्री विमलचरण लॉ ने लिखा है—

"जहाँ तक जम्बूद्वीप पन्नति तथा उस पर अवलम्बित अन्य ग्रंथों में जम्बूद्वीप को वर्षों (देशों) में विभाजन की बात है, वह पुराणों के पूर्णतः अनुरूप है। ('इंडिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आव बुद्धिज्म ऐंड जैनिज्म', पृष्ठ १–२)

नाना प्रकार की सुगंधियाँ पृथ्वी पर व्याप्त रहती हैं। और स्थान-स्थ पर वन[1] होते हैं।

इस युग के मनुष्य युगधर्मी होते हैं। और, समग्र लक्षणों से युक्त है है। युगलिये पुरुष भी अल्प मात्रा में रहते हैं। शालि प्रमुख सर्व अन्न व इक्षु प्रमुख सभी वस्तुएं स्वमेव उत्पन्न होती हैं। परन्तु, मनुष्य तीन दिन अन्तर पर अरहर की दाल के प्रमाण भर भोजन करते हैं[2]।

सुषम

इस द्वितीय आरे मे भी सुख-ही-सुख रहता है; पर सुषम-सुषम आरे इतना नहीं। इस युग के प्राणी दो दिनों के बाद आहार करते हैं और व भी बेर के फल-जितनी मात्रा में। इस काल के आरम्भ में मनुष्य की ऊँचा दो कोस और आयु दो पल्योपम की होती है। पर, सुषम-काल समाप्त होते-हों क्रम से घटते रहने के कारण मनुष्य की आयु एक पल्योपम और ऊँचाई ए कोस की रह जाती है। इस इसी आरे में मनुष्य की पसलियाँ १२८ माग र

(१) वनों के नाम निम्नलिखित हैं:—

भेरताल वन, हेरताल वन, मेरताल वन, पभयालवन, साल वन सरल वन, सप्तवर्ण वन, पूअफली वन, खज्जूरी वन, नारियली वन (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, पत्र ९७–२)

और वन की परिभाषा कल्पसूत्र की सन्देहविषौषधि टीका में लिख है—'वनान्येकजातीय वृक्षाणि' जिसमें एक जातीय वृक्ष हों वह वन है और 'वनखंडान्यनेकजातीयोत्तमवृक्षाणि' जिसमें अनेक जाति के उत्तम वृक्ष हों वह वनखंड है। (पत्र ७५)

भगवती शतक सटीक, शतक १, उद्देशक ८, सूत्र ६४

(भाग १, पत्र ६२–२ तथा ६३–१) में लिखा है 'एक जातीय वृक्ष समुदाये' और जिसमें नाना प्रकार के वृक्ष हों उनके लिए 'वणविदुग्गंसि' (वनविदुर्गे) लिखा है।

(२) काललोकप्रकाश पृष्ठ १४६

जाती है। इस आरे में आदमी चार प्रकार के होते हैं :—एका, प्रचुरजंघा, कुसुमा और सशमना। एका पुरुप सर्वश्रेष्ठ ढंग का होता है, प्रचुरजघावाले की जाँघ अत्यन्त पुष्ट होती है, कुसुमा पुरुष फूल के समान कोमल होता है और सुशमना पुरुप सम्यक प्रकार की शक्ति से युक्त होता है।

भूमि का स्वरूप और कल्पवृक्षों का जो वर्णन पूर्व प्रकरण में कहा गया है, तद्रूप ही इस आरे मे भी समझना चाहिए। परन्तु, उनके वर्ण, गन्ध, फल आदि में न्यूनता आ जाती है। इस आरे का भोग ३ कोड़ाकोड़ी व्यतीत हो जाने पर, तीसरे आरे सुषम-दुषम का भोग, प्रारम्भ होता है[1]।

सुषम–दुषम

सुषम आरे की समाप्ति से बाद इस सुषम-दुषम आरे का प्रमाण दो कोटा-कोटि समझना चाहिए। इस आरे को हम तीन विभागों में बाँट सकते है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम। एक-एक विभाग की काल-स्थापना इस प्रकार है—६६६६६६६६६६६६६६६६६$\frac{२}{३}$। इस आरे के प्रथम दो भागों में कल्पवृक्ष पूर्ववत् रहते हैं; पर क्रम से घटते रहते हैं।

इस काल में मनुष्य भी अनुक्रम से घटता जाता है। इस आरे में मनुष्य की ऊँचाई १ कौस, तथा आयुष्य १ पल्योपम होता है। और, मनुष्य को ६४ पँसलियाँ होती है। बालकों का प्रतिपालन ७६ दिवस मात्र करना पड़ता है। उनकी अवस्था ७ प्रकार की होती है और एक-एक अवस्था का भोग ११ दिवस, १७ घड़ी ८ पल के लगभग आता है। इस काल में मनुष्य में प्रेम, राग, द्वेप, गर्व सब की अभिवृद्धि होती है। और, मनुष्य १-१ दिन का अंतर देकर आंवल के बराबर आहार करता है। इस काल में कल्पवृक्ष और पृथ्वी का रस आदि घट जाता है। मनुष्य में फल-फूल-औषधि आदि के संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती रहती है। इस संग्रह- प्रवृत्ति से मनुष्य मे परस्पर कलह की भी मात्रा बढ़ती है। अतः इस तीसरे आरे में जब पल्योपम का आठवाँ भाग शेप रहता है, तो 'कुलकर' का जन्म

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ १७८

दुषम-दुषम

पाँचवें दुषम-आरा की समाप्ति के बाद दुषम-दुषम नाम का छठाँ आरा प्रारम्भ होता है। इस काल में समस्त वस्तुओं का क्षय होता है। यह आरा अति कठिन, अत्यन्त भयंकर, असह्य और प्राणहारी होता है। बारहों दिशाएँ धूम्रमय होती हैं, चारों तरफ धूल से अंधकारमय हो जाता है। इस काल में सूर्य-चन्द्रमा का तेज असह्य और अहितकारी हो जाता है। चन्द्रमा अति शीतल हो जाता है और सूर्य मे अत्यन्त उष्णता आ जाती है। ये सूर्य और चन्द्रमा जो जगत का हित करने वाले हैं, वे दुख देने वाले हो जाते हैं। इस काल मे बरसात का पानी नमकीन होता है। इसके अतिरिक्त खट्टा रस वाला पानी, अग्नि की तरह दाह करने वाला, विषमय रस वाला पानी बरसता है। जैसे वज्र पहाड़ भेदने में समर्थ होता है, उस प्रकार ऐसी वर्षा होती है कि, उसका जल पर्वत को भेद देता है। बारम्बार बिजली पड़ती है और विविध प्रकार के रोग, वेदना और मृत्यु देनेवाली बरसात पड़ती है। 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' में इन मेघों के नाम निम्नलिखित दिये हैं :—

अरसमेघ, विरसमेघ, क्षारमेघ, क्षतिमेघ, विषमेघ

कालसप्तति-प्रकरण में वर्णन मिलता है कि क्षार, अग्नि, विष, अम्ल विद्युत् इन पाँच प्रकार के मेघ सात-सात दिन बरसते हैं।

छठें आरे के प्रारंभ में पृथ्वी अंगार के समान तप्त हो जाती है। कोई आदमी उसे स्पर्श नहीं कर सकता। इस काल में पुरुष कुरूप; निर्लज्ज, कपट, वैर तथा द्रोह करने में तत्पर; मर्यादाहीन, अकार्यकारी, अन्यायी-क्रोध-उत्पात आदि में रुचि रखने वाले विनय-गुण से हीन, तथा दुर्बल होते हैं। मनुष्य की उत्कृष्ट आयु पुरुष की २० वर्ष और स्त्री की १६ वर्ष की होती है तथा ऊँचाई २ हाथ की होती है।

भूमि अति तप्त और असह्य हो जाती है। वैताढ्य पर्वत के उत्तर और गंगा-सिंधु के दोनों तटों पर ९-९ बिलें (गुफाएँ) और दक्षिण और गंगा-सिंधु के दोनों तटों पर ९-९ बिलें होती हैं। बचे-खुचे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि ताप से बचने के लिए इन ७२ बिलों में शरण लेते हैं।[१]

---

(१) काललोकप्रकाश पृष्ठ ६०९

इस प्रकार ६ आरों के समाप्त होने पर अवसर्पिणी पूर्ण होती है और उसके बाद उत्सर्पिणी का प्रारम्भ होता है। उसमें यह काल-क्रम उलटे अनुक्रम से ६, ५, ४, ३, २, और १ होता है अर्थात् दुषम-दुषम, दुषम, दुषम-सुखम, सुखम सुखम-सुखम ! उनका वर्णन भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए [1]

जैन-शास्त्रों में काल-गणना बड़े विस्तृत रूप में मिलती है।

समय[2] से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक के काल-संख्या का कोष्टक

१ निर्विभाज्य काल = समय[2]

१—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सटीक पत्र ११८-१७१ में इन आरों का वर्णन आता है।

(२) भगवतीसूत्र, शतक ६, उद्देश ७, पत्र २७४

(ब) समए आवलिआ आए पाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससहस्स पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववगे अवगे हुहुअंगे हुहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थनिऊरंगे अत्थनिऊरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिआ सीसपहेलिअंगे सीस पहेलिया पलिओवमे सागरोवमे ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरिअट्टे अतीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा.........(मूल सूत्र ११४)

—अनुयोगद्वारसूत्र सटीक पृष्ठ ९९

(२) अद्धारूपः समयोऽद्धा समयः वक्ष्यमाणपट्टसाटिकादिपाटनदृष्टान्तसिद्धः सर्वसूक्ष्मः पूर्वापरकोटिविप्रमुक्तो वर्त्तमान एकः कालांशः...। (सूत्र ९७)

—अनुयोगद्वारसूत्र सटीक पृष्ठ ७४

कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समयं तु।... यः कालः 'परम निरुद्धः' परम निकृष्टः एतदेव व्याचष्टे—'अविभज्यः' विभक्तुमशक्यः, किमुक्तं भवति? यस्य भूयोऽपि विभागः कर्तुं न शक्यते स कालः परमनिरुद्धः, तमित्थम्भूतं परमनिरुद्धं कालविशेषं समयं जानीहि, स च समयो दुरधिगमः तं हि भगवन्तः केवलिनोऽपि साक्षात् केवलज्ञानेन विदन्ति।

—ज्योतिष्करण्डक पृष्ट—५

असंख्यात समय	=	१ आवलिका
संख्यात आवलिका	=	१ उच्छ्वास
"	=	१ निःश्वास
१ उच्छ्वास-निःश्वास	=	१ प्राण
७ प्राण	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
७७ लव	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ दिन
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ मास
२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष
५ वर्ष	=	१ युग
२० युग	=	१०० वर्ष
दस सौ वर्ष	=	१००० वर्ष
सौ हजार वर्ष	=	१ लाख वर्ष
चौरासी लाख वर्ष	=	१ पूर्वांग
" पूर्वांग	=	१ पूर्व
" पूर्व	=	१ त्रुटितांग
" त्रुटितांग	=	१ त्रुटित
" त्रुटित	=	१ अड्डांग
" अड्डांग	=	१ अड्ड
" अड्ड	=	१ अववांग
" अववांग	=	१ अवव
" अवव	=	१ हूहूकांग
" हूहूकांग	=	१ हूहूक
" हूहूक	=	१ उत्पलांग

चौरासी लाख	उत्पलांग	=	१ उत्पल
,,	उत्पल	=	१ पद्मांग
,,	पद्मांग	=	१ पद्म
,,	पद्म	=	१ नलिनांग
,,	नलिनांग	=	१ नलिन
,,	नलिन	=	१ अर्थनिपुराङ्ग
,,	अर्थनिपुराङ्ग	=	१ अर्थनिपुर
,,	अर्थनिपुर	=	१ अयुतांग
,,	अयुतांग	=	१ अयुत
,,	अयुत	=	१ प्रयुतांग
,,	प्रयुताङ्ग	=	१ प्रयुत
,,	प्रयुत	=	१ नयुतांग
,,	नयुतांग	=	१ नयुत
,,	नयुत	=	१ चूलिकांग
,,	चूलिकांग	=	१ चूलिका
,,	चूलिका	=	१ शीर्षप्रहेलिकांग
,,	शीर्षप्रहेलिकांग	=	१ शीर्ष प्रहेलिका[1]

(१) शीर्षप्रहेलिकाङ्काः स्युश्चतुर्णवति युक्शतं ।
अङ्कस्थानाभिधाश्चेमाः श्रित्वा माथुरवाचनाम् ॥ १२ ॥

—काललोकप्रकाश, सर्ग २९, पृ० १४३

इस संख्या में ५४ अंक और १४० सिफर होती है। वह इस प्रकार है :—

७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६-
६८४८०८०१८३२९६००००००००००००००००००००००००००००-
०००-
०००-
००००००००००००००००००००००००००००००

—काललोकप्रकाश, पृष्ठ १४; अज्ञानतिमिरभास्कर, पृष्ठ १४९

(पृष्ठ १७ की पादटिप्पणि का शेषांश)

भगवती सूत्र सटीक शतक ६, उद्देसा ७, पत्र २७६—२; अनुयोगद्वार सटीक पत्र १७६—२; जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक वक्षस्कार २, सूत्र १८, पत्र ... आदि में यही अंक क्रम है।

वल्लभी—वाचनानुसार कालसंख्या-क्रम—

पुव्वाए सयसहस्सं [पुव्व] चुलसीइगुणं भवे लयंगमिह।
तेसिंपि सहसहस्सं चुलसीइगुणं लया होइ ॥ ६४ ॥
तत्तो महालयाणं चुलसीइ चेव सयसहस्साणि।
नलिणंगं नाम भवे एत्तो वोच्छं समासेण ॥ ६५ ॥
नलिण महानलिणंगं हवइ महानलिणमेव नायव्वं।
पउमंगं तह पउमं तत्तोय महापउम अंगं ॥ ६६ ॥
हवइ महा पउमं चिय तत्तो कमलंगमेव नायव्वं
कमलं च महाकमलंगमेव परतो महाकमलं ॥ ६७ ॥
कुमुयंगं तह कुमुयं तत्तो या तहा महा महाकुमुयअंगं।
तत्तो य परतोय महा कुमुयं तुडियंगं योयव्वं ॥ ६८ ॥
तुडिय महातुडियंगं महतुडियं अडडंग अडड परं।
परतोय महाडडअंगं तत्तो य महाअडडमेव ॥ ६९ ॥
उहंगंपिय ऊहं हवइ महल्लं च ऊहगं तत्तो।
महाऊहं हवइ हु सीसपहेलिया होइ नायव्वा ॥ ७० ॥
एत्थं सयसहस्साणि चुलसीई चेव होइ गुणकारो।
एक्केक्कंमि उ ठाणे अह संसा होइ कालंमि ॥ ७१ ॥

—ज्योतिष्करण्डक सटीक, अधिकार २, पृष्ठ ३६

वल्लभी वाचनानुसार शीर्षप्रहेलिका में ७० अंक और १८० सिफर हैं। वह इस प्रकार है :—

१८७९५५१७९५५०११२५९५४१९००९६९९८१३४३०७७०७९७४
४६४२६११९७७७४७६५७२५७३४५७१८६८१६००००००००००००००
००
००
०००
०००

ज्ञान सौरभ प्रकाश, पृष्ठ १४४ प्रकाशक जैन-धर्म-प्रसारक-सभा, भावनगर

इतना ही काल गणित का विषय है। आगे का काल औपमिक है।(१)

औपमिक काल के दो भेद हैं। 'पल्योपम' और 'सागरोपम' (२)

सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके, ऐसे 'परमाणु' सिद्ध पुरुष सब प्रमाणों का 'आदि प्रमाण' कहते हैं।

अनन्त परमाणुओं का समुदाय	=	१ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका
८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ उर्ध्वरेणु
८ उर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ देवकुरु और उत्तरकुरुके मनुष्य का बालाग्र
८ देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्य का बालाग्र	=	१ हरिवर्ष और रम्यक् के मनुष्य का बालाग्र

१—एसो पण्णवणिज्जो कालो संखेज्जओ मुणेयव्वो।
वोच्छामि असंखेज्जं कालं उवमाविसेसेणं ॥ ७२ ॥

२—सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तुं भित्तुं व जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥ ७३ ॥
परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स।
लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ ७४ ॥
जवमज्झा अट्ठ हवन्ति अंगुलं छच्च अंगुला पाओ।
पाया य दो विहत्थी दोय विहत्थी हवइ हत्थो ॥ ७५ ॥
दंडं धणुं जुगं नालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्था।
अट्ठेव धणुसहस्सा जोयणमेगं माणेणं।
एमं धणुप्पमाणं नायव्वं जोयणस्स य पमाणं।
कालस्स परीमाणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ७७ ॥
जं जोयणविच्छिण्णं तं तिगुणं परिरएण सविसेसं।
तं जोयणमुव्विद्धं जाण पलिओवमं नाम ॥ ७८ ॥
—ज्योतिष्करण्डक सटीक, अधिकार २, पत्र ४१-४२

८ हरिवर्ष और रम्यक् के मनुष्य का बालाग्र	=	१ हैमवत ऐरवत के का बालाग्र
८ हैमवत ऐरवत मनुष्य का बालाग्र	=	१ पूर्व विदेह के म बालाग्र
८ पूर्वविदेह के मनुष्य का बालाग्र	=	१ बालाग्र
८ बालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ अंगुल
६ अंगुल	=	१ पाद
१२ अंगुल	=	१ वितस्ति (बालिश
२४ अंगुल	=	१ हाथ
४८ अंगुल	=	१ कुक्षि
९६ अंगुल	=	१ दण्ड, धनु, यूप, न अक्ष अथवा मूसल
२००० धनुष्य का	=	१ कोस
४ कोस का	=	१ योजन
दस कोटाकोटी पल्योपम	=	१ सागरोपम (१)
,, सागरोपम	=	१ उत्सर्पिणी
,, ,,	=	१ अवसर्पिणी
बीस कोटाकोटी ,,	=	१ कालचक्र

(१) सागरोपम वर्ष की व्याख्या करते हुए जैन-शास्त्रों में कहा गया एक योजन लम्बा-चौड़ा और गहरा प्याले के आकार का एक (पल्य) खोदा जाये जिसकी परिधि ३ योजन हो, और उसे कुरु के मनुष्य के १ दिन से ७ दिनों तक के बालाग्र से प्रकार भरा जाये कि उसमें अग्नि, जल तथा वायु तक न कर सके। उस गड्ढे में से १००-१०० वर्ष से एक बालाग्र निक जाये और इस प्रकार एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने का वह पल्य खाली हो जाये उसे एक पल्योपम वर्ष कहते हैं। ऐसे दस क कोटी पल्योपम वर्ष का एक सागरोपम होता है।

—भगवतीसूत्र सटीक शतक ६, उद्देश ७, सूत्र २४८ भाग १, पत्र २७५-२
—लोकप्रकाश, सर्ग १, श्लोक ७३, पृष्ठ १२.

ऋषभदेव

इस सुषमा-दुषमा आरे में जब पल्योपमका ⅛ काल शेष रहता है, तो लकी स्थापना करने के स्वभाववाले, विशिष्ट बुद्धिवाले, लोकव्यवस्था करने-ाले पुरुष विशेष 'कुलकरों' का जन्म अनुक्रम से होता है[१]। जैन-शास्त्रों में , १४ अथवा १५ कुलकरों के नाम मिलते हैं[२]। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में उनके ाम इस प्रकार दिये हैं :—

१ सुमति, २ प्रतिश्रुति, ३ सीमङ्कर, ४ सीमंधर, ५ क्षेमङ्कर, क्षेमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी, १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ प्रसेनजित्, १३ मरुदेव, १४ नाभि, १५ ऋषभ[३]

जिन ग्रन्थों में सात कुलकरों के नाम मिलते हैं, उन में निम्नलिखित ाम आते हैं :—

१–विमलवाहन २–चक्षुष्मान ३–यशस्वी ४–अभिचन्द्र ५–प्रसेनजित ६–मरुदेव ७–नाभि[४]

---

(१) स्थानाङ्गसूत्रवृत्ति, सूत्र ७६७, पत्र ५१८–१

(२) 'तत्र सप्तैव कुलकराः, क्वचित्पञ्चदशापि दृश्यन्ते इति'। स्थानाङ्गसूत्र, वृत्ति, पत्र ५१८–१

(३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पत्र १३२–२
१४ कुलकरों का उल्लेख पउमचरिय, उद्देशा ३, श्लोक ५०-५५ में मिलता है। उस में ऋषभदेव की गणना कुलकरों में नहीं की गयी है।

(४) स्थानाङ्ग सूत्रवृत्ति सूत्र, ५५६, पत्र ३९८–१
आवश्यक चूर्णि, पत्र १२९; आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ २४, श्लोक ८१; त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २ श्लोक १४२-२०६

युगल अपनी युगल संतान को ताड़ के वृक्ष के नीचे रखकर, रमण इच्छा से कदली-गृह में गया। हवा के झोंके से ताड़ का एक फल बालक के सिर पर गिरा और वह मर गया। अब बालिका माता-पिता के पास रह गयी। थोड़े दिनों के बाद बालिका के माता-पिता का भी देहान्त हो गया। बालिका वनदेवी की तरह वन में अकेली घूमने लगी। देवी-सी सुन्दर रूपवाली, उस बालिका को युगल-पुरुषों ने आश्चर्य से देखा। फिर वे उसे नाभि कुलकर के पास ले गये। नाभि कुलकर ने उन लोगों के अनुरोध से बालिका को यह कह कर रख लिया कि, भविष्य में यह ऋषभ की पत्नी बनेगी[१]। इस कन्या का नाम सुनन्दा रखा गया।

कालान्तर में २० लाख पूर्व कुमारावस्था में रहने के बाद, ऋषभदेव का सुमंगला और सुनन्दा के साथ विवाह हुआ। यह इस अवसर्पिणी में विवाह व्यवस्था[२] का प्रारम्भ था।

ऋषभदेव का विवाह हो जाने के पश्चात्, नाभिराज से अनुमति लेकर युगलियों ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक करने का निश्चय किया। युगलिये अभिषेक के लिए जब जल लाने गये, तब इन्द्र ने आकर भगवान् को सुन्दरतम वस्त्राभूषणों से सुशोभित करके, उनका अभिषेक कर दिया। अभिषेक के पश्चात् युगलिये कमल-पत्र में जब जल लेकर लौटे, तो उन्होंने भगवान् के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों पर जल डालना उचित न समझ कर, उनके चरणों पर ही जल अर्पित कर दिया। उन युगलियों के इस विनीत-रूप को देख कर इन्द्र ने कुबेर को एक नगरी बसाने की आज्ञा दी। और, उसका नाम 'विनीता' रखने को कहा और इस देश का नाम, 'इक्खागभूमि'[३], 'विनीतभूमि'[४] हुआ। कालान्तर में यही भूमि 'मध्यदेश' नाम से विख्यात हुई[५]।

---

(१) आवश्यक चूर्णि पत्र १५२-१५३

(२) त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक ८८१

(३) (अ) आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका १६३-१।
(आ) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका पत्र १२०-२।

(४) आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका पत्र १५७-२।

(५) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका श्लोक १५१ पत्र १०६-२।

११

भगवान् ऋषभदेव

इन्द्र के आदेश पर, कुबेर ने १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी 'विनीता' नगरी बसायी और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' रखा। यह अयोध्या नगरी लवण समुद्र से ११४ योजन ११ कला की दूरी पर है और वैताढ्य से भी उतनी ही दूरी पर है। यह चूल हिमवंत पर्वत से ४०२ योजन से कुछ अधिक दूरी पर है। राज्याभिषेक के समय ऋषभदेव की उम्र बीस लाख वर्ष पूर्व[1] थी।

भगवान् ऋषभदेव के लिए शास्त्रों में 'पढम राया' प्रथम राजा, 'पढम भिक्खायरे' प्रथम भिक्षाचर, 'पढम जिणे' प्रथम जिन, 'पढम तित्थंकरे' प्रथम तीर्थंकर संज्ञा मिलती है।[2]

ऋषभदेव ने ही कुम्भकार की, लुहार की, चित्रकार की, जुलाहे की और नापित की कलायें प्रचलित करायीं।

उनके सम्बन्ध में कल्पसूत्र में आता है :—

"उसभे णं अरहा कोसलिए दक्खे दक्खपइण्णे पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमार वासमज्झे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जवासमज्झे वसइ; तेवट्ठिं च पुव्वसयसहस्साइं रज्जवास मज्झे वसमाणे लेहाइआअ गणियप्पहाणाओ सऊणरूय-पज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ, चउसट्ठिं महिलागुणे, सिप्पसयं च कम्माणं, तिन्नि वि पयाहि आए उवदिसइ......"

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सूत्र २११, पत्र ४४४।

दक्ष, सत्यप्रतिज्ञावाले, सुन्दर रूपवाले, सरल परिणामवाले और

---

(१) आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १२७–१।
आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका, पत्र १६५–२।
आवश्यक निर्युक्ति मूल, श्लोक १३१।
आवश्यक चूर्णि पत्र, १५४।
वसुदेव हिंडी पृष्ठ, १६२।
विविध तीर्थकल्प पृष्ठ, २४।

(२) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ४४१।

विनयवान् अर्हंम् कौशलिक ऋषभदेव प्रभु बीस लाख पूर्व तक कुमार रूप में रहे। फिर, तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यावस्था में रहते हुए उन्होंने पुरुषों की ७२ कलाएँ, महिलाओं के ६४ गुण तथा १०० शिल्पों की शिक्षा दी।

७२ कलाओं का उल्लेख समवायाङ्गसूत्र (समवाय ७२) में निम्नलिखित रूप में है।

१ लेहं = लेख
२ गणियं = गणित
३ रूवं = रूप
४ नट्टं = नाट्य
५ गीयं = गीत
६ वाइयं = वाद्य
७ सरगयं = स्वर जानने की कला
८ पुक्खरगयं = ढोल इत्यादि बजाने की कला
९ समतालं = ताल देना
१० जूयं = जूआ
११ जणवायं = वार्तालाप की कला
१२ पोक्खच्चं = नगर के रक्षा की कला
१३ अट्ठावयं = पासा खेलने की कला
१४ दगमट्टियं = पानी और मिट्टी मिलाकर कुछ बनाने की कला
१५ अन्नविहिं = अन्न उत्पन्न करने की कला
१६ पाणविहीं = पानी उत्पन्न कर और शुद्ध करने की कला
१७ वत्थविहिं = वस्त्र बनाने की कला
१८ सयणविहीं = शय्या-निर्माण की कला
१९ अज्जं = संस्कृत-कविता बनानेकी कला
२० पहेलियं = प्रहेलिका रचनेकी कला
२१ मागहियं = छंद विशेष बनाने की कला
२२ गाहं = प्राकृत-गाथा रचने की कला
२३ सिलोगं = श्लोक बनाने की कला
२४ गंधजुत्ति = सुगंधित पदार्थ बनाने की कला
२५ मधुसित्थं = मधुरादिक छःरस बनाने की कला
२६ आभरणविहीं = अलङ्कार बनाने अथवा पहनने की कला

२७ तरुणीपडिकम्मं=स्त्रीको शिक्षा देनेकी कला
२८ इत्थीलक्खणं=स्त्री-लक्षण
२९ पुरिसलक्खणं=पुरुष-लक्षण
३० हयलक्खणं=अश्व-लक्षण
३१ गयलक्खणं=हस्ति-लक्षण
३२ गोलक्खणं=गो-लक्षण
३३ कुक्कुडलक्खणं=कुक्कुट-लक्षण
३४ मिंढयलक्खणं=मेंढे के लक्षण
३५ चक्कलक्खणं=चक्र-लक्षण
३६ छत्तलक्खणं=छत्र-लक्षण
३७ दंडलक्खणं=दंड-लक्षण
३८ असिलक्खणं=तलवार-लक्षण
३९ मणिलक्खणं=मणि-लक्षण
४० कागणिलक्खणं=काकिणी (चक्रवर्ती का रत्न-विशेष) का लक्षण जानना
४१ चम्मलक्खणं=चर्म-लक्षण
४२ चंदलक्खणं=चंद्र-लक्षण
४३ सूरचरियं=सूर्यकी गति आदि जानना
४४ राहुचरियं=राहु की गति आदि जानना
४५ गहचरियं=ग्रहों की गति जानना
४६ सोभागकरं=सौभाग्य का ज्ञान
४७ दोभागकरं=दुर्भाग्य का ज्ञान
४८ विज्जागयं=रोहिणी, प्रज्ञप्ति-विद्या संबंधी ज्ञान
४९ मंतगयं=मंत्रसाधना ज्ञान
५० रहस्सगयं=गुप्त वस्तुका ज्ञान
५१ सभासं=हरवस्तु की हकीकत जानना
५२ चारं=सैन्य का प्रमाण आदि जानना
५३ पडिचारं=सेना को युद्ध में उतारने की कला
५४ वूहं=व्यूह रचने की कला
५५ पडिवूहं=व्यूह के सामने उसे पराजित करनेवाले व्यूह की रचना
५६ खंधावारमाणं=सेना के पड़ाव का प्रमाण जानना
५७ नगरमाणं=नगर-निर्माण
५८ वत्थुमाणं=वस्तुका प्रमाण जानना
५९ खंधावारनिवेसं=सेना के पड़ाव आदि का ज्ञान
६० वत्थुनिवेसं=हर वस्तु के स्थापन कराने का ज्ञान

६१ नगरनिवेसं=नगर बसाने का ज्ञान ६२ ईसत्थं=थोड़े को बहुत करके दिखाने की कला

६३ छरुप्पवायं=तलवार की मूँठ बनाने की कला ६४ आससिक्खं=अश्व-शिक्षा

६५ हत्थि सिक्खं=हस्ति-शिक्षा ६६ धणुवेय्यं=धनुर्वेद

६७ हिरण्णपागं, सुवन्नपागं, मणिपागं, धातुपागं=हिरण्यपाक, सुवर्ण पाक, मणिपाक, धातुपाक

६८ वाहुजुद्धं, दंडजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइं जुद्धं=वाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध

६९ सुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टखेडं, धम्मखेडं चम्मखेडं=सूत्रखेड (सूत बनाने की कला), नालिका खेड (नली बनाने की कला), वर्तखेड (गेंद खेलने की कला), धर्मखेडं, (वस्तु का स्वभाव जानने की कला) चर्मखेडं (चमड़ा बनाने की कला)

७० पत्तच्छेज्जं, कडगच्छेज्जं=पत्र-छेदन, वृक्षांग विशेष छेदने की कला

७१ सजीवं, निज्जीवं=संजीवन, निर्जीवन

७२ सउणरूयं=शकुनरुत-(पक्षी के शब्द से) शुभाशुभ जानने की कला

नायाधम्मकहा पृष्ठ २१; राजप्रश्नीय पत्र ३४०; औपपातिक, सूत्र ४०, पत्र १८५ तथा नंदीसूत्र (सूत्र ४२) पत्र १९४ के अतिरिक्त कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र ४४५, ४४६; कल्पसूत्र सन्देह विषौपधि टीका पत्र १२२-१२३; कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी टीका पृष्ठ २२९ तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सूत्र ३० की टीका में भी कुछ हेर-फेर से ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ३२, श्लोक १३४-१३७ में पुरुष की केवल ३९ कलाएं गिनायी गयी हैं। आवश्यक की मलयगिरि की टीका (पूर्व भाग) में (पत्र १९५-२) में भी ३९ कलाएँ हैं।

स्त्रियों की ६४ कलाओं की चर्चा श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में (वक्षस्कार २, पत्र १३९-२, १४०-१) में इस प्रकार आयी है।

१ नृत्य २ औचित्य

३ चित्र ४ वादित्र

५ मन्त्र	६ तन्त्र
७ ज्ञान	८ विज्ञान
६ दम्भ	१० जलस्तम्भ
११ गीतमान	१२ तालमान
१३ मेघवृष्टि	१४ फलाकृष्टि
१५ आरामरोपण	१६ आकारगोपन
१७ धर्मविचार	१८ शकुनसार
१६ क्रियाकल्प	२० संस्कृत जल्प
२१ प्रासादनीति	२२ धर्मरीति
२३ वर्णिका वृद्धि	२४ स्वर्णसिद्धि
२५ सुरभितैलकरण	२६ लीलासंचरण
२७ हयगज परीक्षण	२८ पुरुष स्त्रीलक्षण
२६ हेमरत्न भेद	३० अष्टादश लिपि परिच्छेद
३१ तत्कालबुद्धि	३२ वास्तुसिद्धि
३३ कामविक्रिया	३४ वैद्यकक्रिया
३५ कुम्भभ्रम	३६ सारिश्रम
३७ अंजनयोग	३८ चूर्णयोग
३६ हस्तलाघव	४० वचनपाटव
४१ भोज्यविधि	४२ वाणिज्यविधि
४३ मुखमण्डन	४४ शालिखण्डन
४५ कथाकथन	४६ पुष्पमन्थन
४७ वक्रोक्ति	४८ काव्यशक्ति
४६ स्फारविधिवेष	५० सर्वभाषाविशेष
५१ अभिधानज्ञान	५२ भूषणपरिधान
५३ भृत्योपचार	५४ गृहाचार
५५ व्याकरण	५६ परनिराकरण
५७ रन्धन	५८ केशबन्धन
५६ वीणानाद	६० वितण्डावाद

६१ अंकविचार ६२ लोकव्यवहार
६३ अन्त्याक्षरिका ६४ प्रश्नप्रहेलिका

विवाह के पश्चात् ६ लाख से कुछ न्यून पूर्व वर्ष तक भगवान् ने सु
मंगला-सुनन्दा के साथ विषय-सुख भोगते हुए, १०० पुत्र और २ पुत्रियों
जन्म दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१ भरत, २, बाहुबलि, ३ शङ्ख, ४ विश्वकर्मा, ५ विमल, ६ सुलक्षण
७ अमल, ८ चित्राङ्ग, ९ ख्यातकीर्ति, १० वरदत्त, ११ दत्त, १२ साग
१३ यशोधर, १४ अवर, १५ थवर, १६ कामदेव, १७ ध्रुव, १८ वत्स
१९ नन्द, २० सूर, २१ सुनन्द, २२ कुरु, २३ अंग, २४ बंग, २
कोसल, २६ वीर, २७ कलिङ्ग, २८ मागध, २९ विदेह, ३० सङ्गम
३१ दशार्ण, ३२ गंभीर, ३३ वसुवर्मा, ३४ सुवर्मा, ३५ राष्ट्र, ३
सुराष्ट्र, ३७ बुद्धिकर, ३८ विविधकर, ३९ सुयश, ४० यशःकीर्ति
४१ यशस्कर, ४२ कीर्तिकर, ४३ सुषेण, ४४ ब्रह्मसेन, ४५ विक्रान्त
४६ नरोत्तम, ४७ चंद्रसेन, ४८ महसेन, ४९ सुसेण, ५० भानु, ५
कान्त, ५२ पुष्पयुत, ५३ श्रीधर, ५४ दुर्द्धर्ष, ५५ सुसुमार, ५६ दुर्जय
५७ अजयमान, ५८ सुधर्मा ५९ धर्मसेन, ६० आनन्दन, ६१ आनंद
६२ नन्द, ६३ अपराजित, ६४ विश्वसेन, ६५ हरिषेण, ६६ जय, ६७
विजय, ६८ विजयन्त, ६९ प्रभाकर, ७० अरिदमन, ७१ मान, ७२
महाबाहु ७३ दीर्घबाहु, ७४ मेघ, ७५ सुघोष, ७६ विश्व, ७७ वराह,
७८ वसु, ७९ सेन, ८० कपिल, ८१ शैलविचारी, ८२ अरिञ्जय, ८३
कुञ्जरबल, ८४ जयदेव, ८५ नागदत्त, ८६ काश्यप, ८७ बल,
८८ वीर, ८९ शुभ मति, ९० सुमति, ९१ पद्मनाभ, ९२ सिंह
९३ सुजाति, ९४ सञ्जय, ९५ सुनाभ, ९६ नरदेव, ९७ चित्तहरः,
९८ सुरवरः ९९ दृढरथ, १०० प्रभञ्जन

दो पुत्रीयों के नाम १ ब्राह्मी और २ सुन्दरी हैं।

—श्रीकल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१-२-१५२-१

तिरसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्य करने के पश्चात्, भगवान् ने भरत आदि को राज्य सौंप दिया और चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन विनीता-नगरी के मध्य से निकल कर सिद्धार्थवन नामक उद्यान में गये, जहाँ अशोक नाम का वृक्ष था। वहाँ उन्होंने चार मुष्टि लोच किया।

चौविहार छठ[1] का तप करके उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, भगवान् ने इन्द्र का दिया देवदूष्य लेकर दीक्षा ग्रहण की।

उस काल में लोग भिक्षा दान को नहीं जानते थे और एकान्त सरल थे। अतः १ वर्ष तक भगवान् को भिक्षा प्राप्त नहीं हुई। १ वर्ष बीत जाने पर, सब से पहले हस्तिनापुर में श्रेयांसकुमार से प्रभु ने ईख का ताजा रस ग्रहण किया। जगत में यही भिक्षा-प्रथा का प्रारम्भ था।

दीक्षा के दिन से एक हजार वर्ष तक प्रभु का छद्मस्थ काल जानना चाहिए। उसमें सब मिलाकर प्रमाद काल केवल १ दिन-रात का था। इस तरह आत्म-भावना भाते हुए १ हजार वर्ष पूर्ण होने पर, शरद ऋतु के चौथे महीने, सातवें पक्ष, फाल्गुन मास की कृष्ण-एकादशी के दिन सुबह के समय पुरितमाल (प्रयाग) नगर में शकटमुखी नामक उद्यान में वट के वृक्ष के नीचे चौविहार अट्ठम[2] तप किये हुए, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, ध्यानान्तर में वर्तते हुए, प्रभु को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन उत्पन्न हुए।

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था, तिरसठ लाख पूर्व राज्यावस्था, तिरासीलाख पूर्व गृहस्थावस्था, एक हजार वर्ष छद्मस्थ-पर्याय, एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवली-पर्याय, एक लाख पूर्व चारित्र्यपर्याय, इस प्रकार कुल चौरासी लाख पूर्व का सर्वायु पूर्ण होने पर वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के क्षय हो जाने पर, इसी अवसर्पिणी

---

(१) बिना जल ग्रहण किये दो दिनों का उपवास

(२) बिना जल ग्रहण किये तीन दिनों का उपवास

में सुषमा-दुषमा नामक तीसरे आरे में, केवल तीन वर्ष और साढ़े आ
महीने शेष रहने पर (तीसरे आरे के नवासी पक्ष शेष रहने पर) शरद ऋ
के तीसरे महीने, पांचवे पक्ष में माघ मास की कृष्ण त्रयोदशी के दिन, अष्टा
पद पर्वत के शिखर पर दश हजार साधुओं के साथ चौविहार, छः उपवास
का तप करके अभिजित नामक नक्षत्र में चन्द्रयोग प्राप्त होने पर, प्रातः क
पल्यङ्कासन[1] से बैठे हुए निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् क्रमशः ये तीर्थङ्कर हुए :—

२ अजित, ३ संभव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि (पुष्पदन्त), १० शीतल, ११ श्रेयांस (श्रेयान्) १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्त (अनन्तजित), १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत (सुव्रत), २१ नमि, २२ नेमि (अरिष्टनेमि)

इनके पश्चात् २३-वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् हुए।

(१) पद्मासन

(४)

भगवान् पार्श्वनाथ

आर्यक्षेत्र में ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, वलदेव, प्रतिवासुदेव आदि ६३ शलाका पुरुष जन्म लेते रहे हैं। भगवान् महावीर के पूर्व तक के तीर्थंकरों का वर्णन करते हुए 'कल्पसूत्र' में आता है—

सेसेहिं इक्कवीसाए तित्थयरेहिं इक्खागुकुल समुप्पन्नेहिं कासवगुत्तेहिं (कल्पसूत्र, सूत्र २, सुबोधिका टीका, पत्र २५) अर्थात् २१ तीर्थंकरों का जन्म इक्ष्वाकुकुल और काश्यप-गोत्र में हुआ और केवल मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरिवंश में जन्मे।

इसी आर्यक्षेत्र में स्थित, काशी जनपद की वाराणसी नामक राजधानी में अश्वसेन नामक राजा राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकु-वंश और काश्यप-गोत्र के थे। उनकी पत्नी का नाम वामादेवी था। फाल्गुन शुक्ला ४ की रात्रिको प्राणत नामक दशम देवलोक से च्यवकर के पुरुषादानीय[१] भगवान् पार्श्वका जीव माता वामादेवी की कुक्षि में गर्भरूप में आया। उनके गर्भ में आने पर वामादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। वामादेवी ने महाराज से जब स्वप्नों की बात कही, तो महाराज अश्वसेन ने उत्तर दिया—"आप तीन भुवन के स्वामी तीर्थंकर को जन्म देनेवाली हैं।"

---

१ (अ) पासे अरहा 'पुरिसादाणीए' पुरुषाणां प्रधानः पुरुषोत्तम इति। अथवा समवायाङ्गवृत्तावुक्तम्—"पुरुषाणां मध्ये आदानीयः—आदेयः पुरुषादानीयः" (पत्र १४-२) [उत्तराध्ययन बृहद्वृत्तौ—"पुरुषश्चासौ पुरुषाकारवर्तितया आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीयः, पुरुष-

भगवान् जब गर्भ में थे, तब उनकी माता ने रात को पार्श्व में सरक
हुआ काला सर्प देखा। स्वप्न देखते ही उनकी नींद खुल गयी। उन्हें
यह बात जब महाराज से कही तो महाराज ने कहा—"आप महातेजस्वी म
गुणी एवं महाज्ञानी पुत्र को जन्म देनेवाली हैं। अतः आपको बड़ी स
धानी से गर्भ की रक्षा करनी चाहिए।"

(पृष्ठ ३३ की पादटिप्पणि का शेषांश)

विशेषणं तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थंकर इति ख्यापनार्थम्। पुरुषैर्वा आ
नीयः—आदानीयज्ञानादिगुणतया पुरुषादानीयः (पत्र २७०-२
—पवित्रकल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्रसूरिप्रणीत कल्पसूत्र टिप्पनकम् पृष्ठ

(आ) पुरुषाणां मध्ये आदानीयः, आदेयो ग्राह्यनामा पुरुषादानीय
पूज्याः, पुरुषश्चासौ पुरुषाकारवर्तितया आदानीयश्चादेयवाक्य
पुरुषादानीयः।

—*कल्पसूत्र, सन्देह-विषौषधि-टीका*, पत्र १

(इ) पुरिसादाणीए त्ति पुरुषादानीयः पुरुषश्चासौ पुरुषाकार-वर्तित
आदानीयश्च आदेयवाक्यतया पुरुषादानीयः—पुरुषप्रधान इत्यर्थः, पु
विशेषणं तु पुरुष एव प्रायस्तीर्थंकर इति ख्यापनार्थं पुरुषैर्वादानी
ज्ञानादिगुणतया स पुरुषादानीयः।

—*कल्पसूत्र-किरणावलि*, पत्र १३२-

(उ) पुरुषश्चासौ आदानीयश्च आदेयवाक्यतया आदेयनामतया
पुरुषादानीयः पुरुषप्रधान इत्यर्थः।

—कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र १४९, पत्र ३९

(ए) पुरुषाणां मध्ये आदानीयः—आदेयः पुरुषाऽऽदानीयः

—भगवतीसूत्र, अभयदेवसूरी की टीका, भाग
शतक ५, उद्देशा ९, पत्र २४८–२

(ओ) मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया आश्रयणीयाः पुरुषाऽऽदानीयाः
महतोऽपि महीयांसो भवन्ति।

—सूत्रकृताङ्ग, १ श्रु, अ ९, पत्र १८६-

भगवान् महावीर के निर्वाण से ३५० वर्ष, पूर्व, पौष वदि १० के दिन, शाखा नक्षत्र का योग होने पर, माता वामादेवी ने एक बड़े सुन्दर और स्वी बालक को जन्म दिया। स्वप्न-सूचना के अनुसार उनका नाम र्श्वकुमार' रक्खा गया।

) इतिहासकार भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष के रूपमें मानते । 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया', जिल्द १, पृष्ठ १५३ में 'द' हिस्ट्री व जैनाज' में जार्ल कार्पेण्टियर ने लिखा है—"प्रोफेसर याकोवी तथा य विद्वानों के मत के आधार पर, पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष और जैनधर्म के न्वे स्थापनकर्ता के रूप में माने जाने लगे है। कहा जाता है कि महावीर २५० वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ। वे सम्भवतः ईसा पूर्व ८-वीं शता- १ में रहे होंगे।" डॉ० याकोवी ने भगवान् पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक पुरुष ने का समर्थन 'सेक्रेड बुक आव द' ईस्ट' (जैन-सूत्राज) भाग ४५, पृष्ठ XI–XXII में किया है। 'स्टडीज इन जैनिज्म' संख्या १, पृष्ठ ९ में होंने लिखा है—

"परम्परा की अवहेलना किये विना हम महावीर को जैन-धर्म का संस्थापक नहीं कह सकते।....उनके पूर्व के पार्श्व (अंतिम से पूर्व के तीर्थंकर) को जैनधर्म का संस्थापक मानना अधिक युक्तियुक्त है।... पार्श्व के परम्परा के शिष्यों का उल्लेख जैन-आगम ग्रंथों में मिलता है। ....इससे स्पष्ट है कि पार्श्व ऐतिहासिक पुरुष हैं..." 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर आव इण्डियन पीपुल' खण्ड २ में 'जैनिज्म' में डॉक्टर ए० एम० घाटगे ने (पृष्ठ ४१२) लिखा है—"पार्श्व का ऐतिहासिकत्व जैन-आगम-ग्रंथों से सिद्ध है।" विमलचरण ला ने भी 'इण्डालाजिकल स्टडीज' भाग ३ पृष्ठ २३६-२३७) में भी उनके ऐतिहासिक पुरुष होने का समर्थन किया है।

जिस स्थान पर भगवान् कायोत्सर्ग में लीन थे, उस स्थान पर ईश्वर
एक विशाल चैत्य निर्मित कराया और उसमें भगवान् की मूर्ति स्थापित की
वह चैत्य 'कुक्कुटेश्वर'[१] के नाम से विख्यात हुआ।

उसके बाद भगवान् पुनः विहार के लिए निकले। विहार करते हुए
एक ग्राम में पहुँचे और एक तापस के आश्रम में गये। वहाँ कूएँ के नि
वट के वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े हो गये। यहाँ मेघमालि ने अपने पूर्व
का स्मरण करके नाना प्रकार के उपसर्ग उपस्थित किये। उसने पहले
हाथी और बिच्छुओं से भगवान् पर आक्रमण किया। पर, जब भगवान्
भय का कोई लक्षण प्रकट न हुआ, तो वह स्वयं लज्जित हो गया। फि
मेघमाली ने अपार वृष्टि की। अवधि-ज्ञान से धरणेन्द्र ने मेघमाली के उ
सर्ग को देखा और अपने सात फनों से उसने भगवान् को छत्र लगा
उनकी रक्षा की। धरणेन्द्र ने यहाँ भगवान् की बड़ी स्तुति की। पर
मेघमालि के उपसर्ग और धरणेन्द्र की स्तुति दोनों पर ही भगवान् तट
रहे। हार कर मेघमाली भी भगवान् के चरणों में आ गिरा[२]। यहाँ
भगवान् काशी आश्रमपद उद्यान में गये। यहाँ दीक्षा लेने के बाद (८३ दि
तक आत्मचिंतन करते हुए ८४ वें दिन) घाति कर्मों के क्षय हो जाने पर, चै
वदि ४ के दिन, भगवान् को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुए। अश्वसे
उनकी पत्नी वामा, तथा पार्श्वकुमार की पत्नी प्रभावती भगवान् के प्रति आद
प्रकट करने के लिए वहाँ आये[३]।

केवल-ज्ञान के बाद भगवान् गर्जनपुर[४], मथुरा[५], वीतभय[६]

(१) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरिकृत, सर्ग ६, श्लोक १६७.

(२) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरिकृत, सर्ग ६, श्लोक २१३.

(३) पार्श्वनाथ-चरित्र, भावदेव सूरिकृत सर्ग ६, श्लोक २४४-२४५.

(४) पासनाह-चरियं, देवभद्र-रचित पत्र २२१

(५) ,, ,, ,, पत्र ४८०, वर्तमान मथुरा।

(६) जैन-ग्रन्थों में इसे सिन्धु-सौवीर की राजधानी बताया गया है।

ावस्ती[1], गजपुर[2], (हस्तिनापुर), मिथिला[3], काम्पिल्य[4], पोतनपुर, म्पा[5], काकन्दी, शुक्तिमती[6], कोशलपुर[7], रत्नपुर[8], आदि नगरों विहार करते हुए वाराणसी[9], गये। वाराणसी से आप आमलकप्पा[10] ार सम्मेतशिखर[11] गये। यहीं पर आपका निर्माण हुआ (निर्वाण)

१) जैन-ग्रन्थों में इसे कुणाल की राजधानी बताया गया है।

२) जैन-ग्रन्थो में इसे कुरु की राजधानी बताया गया हैं। यह स्थान मेरठ जिले में है।

३) जैन ग्रन्थों में इसे विदेह की राजधानी बताया गया है।

४) यह पांचाल की राजधानी थी। फरुखाबाद जिले में कायमगज से पाँच कोस की दूरी पर स्थित है।

५) यह अंग देश की राजधानी थी। भागलपुर जिले में आज भी इसी नाम से विख्यात है।

६) यह चेदि की राजधानी थी।

७) यह कौशल की राजधानी थी। वर्तमान अयोध्या।

८) यह रत्नपुर (नौराई) अयोध्या से १४ मील की दूरी पर है।

९) पासनाह-चरिअं, पत्र ४८१

१०) बौद्ध-ग्रन्थों में इसे बुलिय जाति की राजधानी बताया गया है। यह १० योजन विस्तृत था। इसका संबंध वेठद्वीप के राजवंश से बताया गया है। श्री बील का कथन है कि वेठद्वीप का द्रोण ब्राह्मण शाहाबाद जिले में मसार से वैशाली जानेवाले मार्ग में रहता था। अतः अल्लकप्प वेठद्वीप से बहुत दूर न रहा होगा (संयुत्त-निकाय, बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय, पृष्ठ ७)। यह अल्लकप्प ही जैन-साहित्य में वर्णित आमलकप्पा है। यहाँ नगर से बाहर अंबसाल चैत्य में महावीर का समवसरण हुआ था। यहाँ महावीर ने सूर्याभ के पूर्वभव का निरूपण किया था।

(११) पार्श्वनाथ पर्वत।

भगवान् पार्श्वनाथ के आठ गणधर[१] थे। (१) शुभ[२] (शुभदत्त) (२) आर्य घोष (३) वसिष्ठ (४) ब्रह्मचारी (५) सोम (६) श्रीधर (७) वीरभद्र (८) यशस्वी। उनके १६०० साधु थे, उनमें प्रमुख आर्यदत्त थे। ३८००० साध्वियाँ थी, उनमें प्रमुख पुष्पचूला थी। १६४००० व्रतधारी थे—उनमें प्रमुख सुव्रत थे। ३२७००० श्राविकाएं थी—उनमें सुनन्दा थीं। इनके अतिरिक्त उनके और भी परिवार थे।

---

(१) (अ) तस्याष्टौ 'गणाः' समानवाचनक्रियाः [साधु] समुदायाः, अष्टौ 'गणधराः' तन्नायकाः सूरयः। इदं च प्रमाणं स्थानाङ्गे (सूत्र ६१७) पर्युषणाकल्पे (सूत्र १५६) च श्रूयते। दृश्यते च किल अन्यथा, तत्र चोक्तम्—"दसनवगं, गणाण माणं जिणिंदाणं। (निर्यु० गा० २६८) ति, कोऽर्थ ? पार्श्वस्य दश गणा गणधराश्च तदिह द्वयोरल्पायुपत्वादिकारणेनाविवक्षाऽनुमातव्येति।

—पवित्र कल्पसूत्र, पृथ्वीचन्द्र सूरि-प्रणीत कल्पसूत्र-टिप्पनकम्, पृष्ठ १

(आ) श्रीपार्श्वस्य अष्टौ, आवश्यके (आवश्यक निर्युक्ति गाथा २६८) तु दश गणाः, दश गणधराश्चोक्ताः।

इह स्थानाङ्गे च द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणान्नोक्तौ इति व्याख्यातं :—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र ३८१

आवश्यक निर्युक्ति में गणधरों की संख्या १० बतलायी गयी है, पर उनमें दो अल्पायु होने के कारण यहाँ नहीं गिनाये गये हैं। ऐसा ही उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति की मलयगिरि की टीका (पत्र २०६), एक विंशति स्थान प्रकरणम् (पत्र ३०), प्रवचनसारोद्धार पूर्वभाग (पत्र ८६) में आया है।

(२) स्थानाङ्ग ८ में पार्श्वनाथ के गणधरों के नाम हैं। वहाँ प्रथम गणधर का नाम शुभ है। पासनाह-चरियं में इनका नाम शुभदत्त है। (पत्र २०२) समवाय में आया 'दिन्न' शब्द भी वस्तुतः यही द्योतित करता है। कल्पसूत्र में यही नाम शुभ तथा आर्यदत्त दोनों रूपों में आया है

भगवान् पार्श्वनाथ ने चतुर्याम[1] धर्म का उपदेश दिया।

(१) प्राणातिपात विरमण—किसी भी जीव की हिंसा न करना
(२) मृषावाद विरमण —किसी प्रकार का झूठ न बोलना
(३) अदत्तादान विरमण—किसी प्रकार की चोरी न करना
(४) परिग्रह विरमण —आरंभ-समारंभ की वस्तुओं का त्याग[2]

साधनावस्था के ८३ दिन निकाल कर शेष ७० वर्षों तक भगवान् ने धर्मोपदेश किया।

३० वर्ष गृहस्थावस्था, ८३ दिन छद्मावस्था, ८३ दिन कम ७० वर्ष केवली अवस्था—इस प्रकार कुल १०० वर्षों का आयुष्य विताकर श्रावण सुदि ८ दिन (७७७ ई० पू.) में सम्मेतशिखर नामक पर्वत पर एक मास का अनशन करके ३३ पुरुषों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ ने समाधिपूर्वक निर्वाण-पद प्राप्त किया।

जैन शास्त्रों में भगवान् महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व भगवान् पार्वनाथ का निर्वाण बतलाया गया है।

आर्य-क्षेत्र

सब से पहले हमें इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए कि, 'आर्यावर्त'

पृष्ठ ४० की पादटिप्पणि का शेषांश

स्पष्ट है कि शुभ, शुभदत्त, दत्त तथा आर्यदत्त वस्तुतः एक ही व्यक्ति के नाम हैं।

---

(१) चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंच सिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी॥ २३॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, त्रयोविंशतिमध्ययनम् 'नेमिचन्द्राचार्यकृत टीका' पत्र २९७-१

(२) 'वय'त्ति व्रतानि-महाव्रतानि तानि च द्वाविंशतिजिनसाधूनां चत्वारि, यतस्ते एवं जानन्ति यत् अपरिगृहीतायाः स्त्रियः भोगाऽसंभवात् स्त्री अपि परिग्रह एवेति, परिग्रहे प्रत्याख्याते स्त्री प्रत्याख्यातव, प्रथमचरमजिनसाधूनां तु तथा ज्ञानाऽभावात् पञ्च व्रतानि।
—कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका पत्र, ५

अथवा 'मध्यदेश' की सीमा क्या थी और जैन, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों में उसकी व्याख्या किस रूप में उपलब्ध है।

(क) जैन-दृष्टिकोण।

१—'वृहत् कल्पसूत्र सटीक'[१] में आर्य-देश और उनकी राजधानियाँ इस प्रकार गिनायी गया हैं :—

रायगिह मगह चंपा अंगा तह तामलित्ति वंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा वाणारसी चेव कासी य॥
साकेत कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कंपिल्लं पंचाला अहिछत्ता जंगला चेव॥
बारवई य सुरट्ठा विदेह महिला य वच्छ कोसंबी।
नंदिपुरं संडिल्ला भद्दिलपुरमेव मलया य॥
वेराड मच्छ वरुणा अच्छा तह मत्तियावइ दसन्ना।
सुत्तीवई य चेदि वीयमयं सिंधुसोवीरा॥
महुरा या सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरि वट्टा।
सावत्थी य कुणाला कोडीवरिसं च लाढा य॥
सेयविया वि य नगरी केगइअद्धं च आरियं भणियं।

आर्यदेश	राजधानी
१. मगध	राजगृह
२. अंग	चम्पा
३. बंग	ताम्रलिप्ति
४. कलिंग	कांचनपुर
५. काशी	वाराणसी
६. कोशल	साकेत
७. कुरु	गजपुर (हस्तिनापुर)

१—वृहत् कल्पसूत्र सटीक, आगमप्रभाकर मुनिराज पुण्यविजय-संपादित, विभाग ३, पृष्ठ ६१३।

८. कुशार्त (¹) शौरिक (सौरिपुर)

१–"सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट" खण्ड २२, (पृष्ठ २७६) में डाक्टर याकोबी ने लिखा है कि, प्राकृत का 'सोरिअपुर' संस्कृत का 'शौरिकपुर' है। निश्चित रूप में यह कृष्ण का नगर है। उसी ग्रंथमाला के खण्ड ४५ (पृष्ठ ११२ में उन्होंने लिखा है कि, ब्राह्मण-ग्रंथों के अनुसार वसुदेव मथुरा में रहते थे। जैनों ने इस नगर का जो नाम दिया है, वह 'शौरी' शब्द से बना है—जो 'कृष्ण' का समानार्थी है। कृष्ण के दादा का नाम 'सूर' था। अतः 'सोरिअपुर' को 'शौरिकपुर' अथवा 'शौर्यपुर' होना चाहिए था। बाद के टीकाकारों ने जिस रूप में शब्द-निर्माण किया, वह अशुद्ध है।

याकोबी महोदय ने 'सोरिअपुर'-सम्बन्धी इस टिप्पणी में दो भूलें की हैं। एक तो यह कि, मथुरा और सोरिअपुर को एक नगर मान लिया है, जब कि वे दो नगर थे, एक नहीं। 'मथुरा' के लिए जैन-साहित्य में 'महुरा' शब्द आया है (वसुदेव-हिण्डी, पृष्ठ ३६६)। यह मथुरा शूरसेन देश में थी और 'सौरिपुर' कुशार्त-देश में, जो एक पथक् राज्य था और जिसका वर्णन २५॥ आर्य देशों में है।

दूसरी बात यह है कि, 'शौरि' शब्द 'कृष्ण' का समानार्थक मानकर, याकोबी ने 'सोरिअपुर' का सम्बन्ध कृष्ण से जोड़ दिया। पर, वस्तुतः बात यह थी कि, 'सोरिअपुर' नगर कृष्ण के पितामह सोरी ने बसाया था (वासुदेव-हिण्डी पृष्ठ १११, ३५७)। वह कृष्ण से तीन पीढ़ी पहले से ही इसी नाम से बसा हुआ था। और, रही मथुरा—वह तो सोरिअपुर के बसने से भी बहुत पूर्व से बसी हुई थी। कृष्ण के पितामह शूर से भी सैकड़ों वर्ष पूर्व से शूरसेन जनपद था (मथुरा-परिचय, कृष्णदत्त वाजपेयी-लिखित पृष्ठ १४) और उस जनपद की राजधानी मथुरा थी। अतः कहना चाहिए कि, मथुरा और सोरिअपुर को एक करने का प्रयास डाक्टर याकोबी की भ्रांति थी। 'अभिधान-चिंतामणि-कोश' (पृष्ठ २२३) में मथुरा के तीन नाम आये हैं—मथुरा, मधुरापघ्नं और मधुरा।

डा० याकोबी के मत का ही समर्थन जार्ल कार्पेंटियर ने उत्तराध्ययन सूत्र (पृष्ठ ३५८) में किया है। उन्होंने भी तथ्य की खोज-बीन करने का प्रयास नहीं किया।

९. पांचाल	काम्पिल्य
१०. जंगल (जांगल) (¹)	अहिच्छत्रा
११. सौराष्ट्र	द्वारावती
१२. विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशाम्बी
१४. शांडिल्य	नन्दिपुर
१५. मलय	भद्दिलपुर
१६. मत्स्य	वैराट
१७. अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
१८. दशार्ण	मृत्तिकावती
१९. चेदि	शुक्तिमती
२०. सिन्धु-सौवीर	वीतभय
२१. शूरसेन	मथुरा
२२. भंगी	पावा

१—'जांगल' से तात्पर्य है—जंगल में बसा हुआ प्रदेश (वस्ट लैण्ड)। वह जिस देश मे होता है, उस देश के नाम से पुकारा जाता है, जैसे 'कुरु-जांगल', 'माद्रेय जांगल'। उत्तर पांचाल देश और गंगा के बीच में 'कुरु-जांगल, देश बसा हुआ था। और, उसमें काम्यक-वन था। 'कुरु' के ३ भाग थे—कुरु, कुरुक्षेत्र और कुरु-जांगल। महाभारत के अनुसार अहिच्छत्रा उत्तर पांचाल की राजधानी थी।

कुछ विद्वान् अहिच्छत्रपुर अथवा अहिच्छत्रा को वर्तमान 'नागौर' (नाग-पुर) मानते हैं। 'नागौर' को 'नागपुर' का वाचक मान कर समानार्थक रूप देकर 'अहिच्छत्रा' की खोज का उनका प्रयास सर्वथा भ्रामक है। पुरातत्व-विभाग ने अब अहिच्छत्रा की अवस्थिति-सम्बन्धी सभी भ्रमों का निवारण कर दिया है। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले के रामनगर गाँव के आसपास इसके अवशेष बिखरे पड़े हैं। यह स्थान आँवला नामक-रेलवे-स्टेशन से १० मील की दूरी पर है। (अहिच्छत्रा, कृष्णदत्त बाजपेयी-लिखित, पृष्ठ १)

हमने कुरु-जांगल का जो स्थान बताया है, वह रामायण के अयोध्या-काण्ड के ६८-वें सर्ग के १३-वें श्लोक, तथा महाभारत के आदिपर्व के १०९-वें सर्ग के पहले तथा २४-वें श्लोक और वन-पर्व के १०-वें सर्ग के ११-वें श्लोक; ५-वें सर्ग के ३-रे श्लोक और २३-वें सर्ग के ५-वें श्लोक से भी स्पष्ट है।

२३. वर्त्त (¹) — मासपुरी
२४. कुणाल — श्रावस्ती
२५. लाढ — कोटिवर्ष
२५॥. केकय — श्वेतविका

इसी मध्यखंड के आर्यदेशों में ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, और बलदेव आदि उत्तम पुरुष उत्पन्न होते है। (लोकप्रकाश, सर्ग १६, श्लोक ४५)

१–'पार्श्वनाथ-चरितम्' (श्री हेमविजय गणि-विरचित, पृष्ठ ६०) में इसे (वृत्ता मासपुरी...) 'वृत्त' रूप में लिखा है। मूल प्रकृतरूप 'वट्ट' का संस्कृत में 'वृत्त' और 'वर्त्त' दोनों रूप बनते हैं। सम्भवतः इसी कारण लेखक ने 'वृत्त' शब्द का प्रयोग किया है।

'काव्य-मीमासा' (गायकवाड़-ओरियण्टल-सीरीज, तृतीयावृत्ति, अध्याय १७, पृष्ठ ६३, पंक्ति २१) में 'वर्त्तक' शब्द आया है। उसके सम्पादकों ने (पृष्ठ XLI) मल्लवर्त्तक को एक देश के रूप में माना है और परिशिष्ट १ (पृष्ठ ३०२) में इस प्रदेश की अवस्थिति मल्लपर्वत अथवा पार्श्वनाथ पहाड़ी के आसपास बताया है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद द्वारा प्रकाशित काव्य-मीमांसा में अनुवादक केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने परिशिष्ट २, पृष्ठ २६३ में 'मल्लवर्त्तक' को अंग्रेजी के अनुरूप एक साथ लिख डाला है। ऐसा ही भ्रामक प्रयोग 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित्र' [पत्र ३७-१, पर्व ४, सर्ग २, श्लोक ६६] में भी हुआ है।

'काव्यानुशासनम्' (महावीर-जैन-विद्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित) में (प्रथम खण्ड, १८२) सभी देशों के नाम एक साथ मिलाकर लिख दिये गये हैं। अनुक्रमणिका (पृष्ठ ५५५) में 'वर्त्तक' शब्द लिख कर प्रश्नचिह्न देकर शंका प्रकट की गयी है और पृष्ठ ५५१ पर 'मल्लवर्त्तक' एक साथ दिया है।

'मल्लवर्त्तक' वस्तुतः एक ही देश का नाम नहीं है और ऐसा भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि, मल्लपर्वत का उस देश से कोई सम्बन्ध था।

'मल्ल' और 'वर्त्तक' दोनों को एक साथ मिलाना वस्तुतः जैन तथा वैदिक ग्रंथों के विरुद्ध है।

२–ये २५॥ आर्यदेश सर्वदा के हैं। (१) समय-समय पर इनमे परिवर्तन होते रहते है। जैन-ग्रंथों मे ही १६ जनपदों की भी चर्चा मिलती है:—

१. अंगाणं, २. वंगाणं, ३. मगहाणं, ४. मलयाणं ५. मालवगाणं ६. अच्छाणं, ७. वच्छाणं, ८. कोच्छाणं, ९. पाढाणं, १०. लाढाणं, ११. वज्जाणं, १२. मोलीणं, १३. कासीणं, १४. कोसलाणं, १५. अवाहाणं, १७. संभुत्तराणं। (२)

१ अंग, २ वंग, ३ मगध, ४ मलय, ५ मालव, ६ अच्छ, ७ वच्छ, ८ कोच्छ, ९ पाढ, १० लाढ-राढ, ११ वज्ज (वज्जी), १२ मोलि (मल्ल), १३ काशी, १४ कोशल, १५ अवाह, १६ सुम्भोत्तर (सम्होत्तर)। पर, इनमें 'महाजनपद' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

३–महावीर स्वामी के समय में 'आर्यक्षेत्र' की मर्यादा इस रूप मे थी—

१–प्रज्ञापना-सूत्र-मलयगिरि कृत टीका पत्र ५५–२।
सूत्रकृतांग सटीक, प्रथम भाग, पत्र १२२।
प्रवचन-सारोद्धार सटीक, पत्र ४४६ (१-२) आदि।
२–भगवती-सूत्र सटीक, १५-वाँ शतक, सूत्र ५५४ (पृष्ठ २७)।

(पृष्ठ ४५ की पादटिप्पणि का शेषांष)

महाभारत (सभापर्व) में भीम के दिग्विजय के प्रकरण में (अध्याय ३१ श्लोक ३) पूर्व में 'मल्ल' देश की अवस्थिति बतायी गयी है। वहाँ भी 'मल्ल' शब्द अकेला आया है, 'मल्लवर्त्तक' के रूप में नहीं।

'बृहत् कल्पसूत्र' (भाग ३, पृष्ठ ९१३) में जहाँ २५॥ आर्य देश गिनाये गये है, वहाँ 'वर्त्त' नाम पृथक देश के रूप में आया है।

'कल्पसूत्र' ("सेक्रेड बुक्स आव द' ईस्ट", खण्ड २२, पृष्ठ २९०) में इसी 'मासपुरी' से 'मासपुरिका' शाखा का प्रारम्भ बताया गया है। डाक्टर याकोबी ने इस 'मासपुरिका' शब्द को अशुद्ध रूप में 'मासपूरिका' लिखा है। वस्तुतः शब्द का शुद्धरूप 'मासपुरिका' होना चाहिए।

'प्रवचन-सारोद्धार' की टीका में (पत्र ४४६–२) आया है—'मासपुरी नगरी वर्त्तो देशः।' यहाँ 'वर्त' देश के रूप में आया है। इसका 'मल्ल' से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'भगवती-सूत्र' (१५-वाँ शतक) मे जहाँ जनपदों के नाम गिनाये गये हैं, वहाँ भी 'मल्ल' नाम अकेला आया है, 'मल्लवर्त्तक' के रूप में नहीं।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंग-मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए। एताव ताव कप्पइ। एताव ताव आरिए खेत्ते। णो से कप्पइ एत्तो बाहिं। तेण परं जत्थ नाण-दंसण-चरित्ताइं उस्सप्पंति त्ति बेमि॥ (१)

—अस्य व्याख्या—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां पूर्वस्यां दिशि यावदङ्ग-मगधान् 'एतु' विहर्तुम्। अङ्गानां—चम्पा-प्रतिबद्धो जनपदः। मगधा—राजगृहप्रतिबद्धो देशः। दक्षिणस्यां दिशि यावत् कौशाम्बीमेतुम्। प्रतीच्यां दिशि स्थूणाविषयं यावदेतुम्। उत्तरस्यां दिशि कुणालाविषयं यावदेतुम्। सूत्रे पूर्वदक्षिणादिपदेभ्यस्तृतीया-निर्देशो लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्। एतावत् तावत क्षेत्रमवधीकृत्य विहर्तुं कल्पते। कुतः? इत्याह—एतावत् तावद् यस्मादार्यं क्षेत्रम्। नो "से" तस्य निर्गन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा कल्पते 'अतः' एवंविधाद् आर्यक्षेत्राद् बहिर्विहर्तुम्। 'ततः परं' बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपति-कालादारभ्य यत्र ज्ञान-दर्शन-चरित्राणि 'उत्सर्पन्ति' स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्त्तव्यम्। 'इतिः' परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थंकर-गणधरोपदेशेन, न तु स्वमनीषिकयेति सूत्रार्थः। २

ऊपर के पाठ के अनुसार आर्यक्षेत्र की सीमा पूर्व दिशा में मगध तथा अंग की सीमा तक, दक्षिण में कौशाम्बी की सीमा तक, पश्चिम में स्थूणा (कुरुक्षेत्र) की सीमा तक तथा उत्तर में कुणाल देश की सीमा तक थी। इसी आर्यक्षेत्र मे साधुओं और साध्वियों को विहार करने का आदेश था।

४—केवल-ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् महावीर ने आर्यक्षेत्र की सीमा इस प्रकार बाँधी :—

१—बृहत्त कल्पसूत्र वृत्तिसहित, विभाग ३, पृष्ठ ९०५—९०६।

२—वही, पृष्ठ ९०७।

मगहा कोसंबी या थूणाविसओ कुणालविसओ य।
एसा विहारभूमी एतावंताऽरियं खेत्तं ॥ ([1])

यह आर्यक्षेत्र धर्मप्रधान भूमि है। पर, आर्यक्षेत्र की सीमा में ... पर परिवर्तन होते रहते हैं। एक काल का आर्यक्षेत्र दूसरे काल में अन... क्षेत्र और एक काल का अनार्यक्षेत्र दूसरे काल में आर्यक्षेत्र घोषित ... रहते हैं।

५—'पृथ्वीचन्द्र-चरित्र' में श्री लब्धिसागरसूरि ने लिखा है :—
विहाराद्विरहात्साधोरार्या भूता अनार्यकाः।
अनार्या अभवनदेशाः क्वचार्या अपि संप्रति। ([2])

६—इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध है। सम्राट् ... के समय में—भगवान् महावीर के समय के—बहुत से अनार्यदेश ... हो गये।

'ततः परं' बहिर्देशेषु अपि सम्प्रतिनृपतिकालादारभ्य यत्र ... दर्शन-चारित्राणि 'उत्सर्पन्ति' स्फातिमासादयन्ति तत्र विहर्त्तव्यम् 'इतिः' परिसमाप्तौ। ब्रवीमि इति तीर्थंकर-गणधरोपदेशेन, न तु ... मनीषिकयेति सूत्रार्थः। ([3])

(ख) बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध आधार पर भारत के भूगोल और आर्यदेश की चर्चा करते 'संयुक्त-निकाय' की भूमिका में श्री भिक्षु जगदीश काश्यप ने लिखा है[4] :

"बुद्धकाल में भारतवर्ष तीन मंडलों, पाँच प्रदेशों और सोलह ... पदों में विभक्त था। महामंडल, मध्यमंडल और अन्तर्मंडल ये तीन ... थे। जो क्रमशः ९००, ६००, और ३०० योजन विस्तृत थे। सम्पूर्ण भारत

१—बृहत्कल्पसूत्र सटीक, भाग ३, पृष्ठ ९१३ (आत्मानन्द जैन सभा भाव नगर द्वारा प्रकाशित)

२—आर्यदेश-दर्पण, पृष्ठ ४५।

३—बृहत्कल्पसूत्र वृत्तिसहित (संघदास का भाष्य) भाग ३, पृष्ठ ९०७।

४—भूमिका पृष्ठ १.

ï (जम्बूद्वीप) का क्षेत्रफल १०,००० योजन था। मध्यप्रदेश, उत्तरापथ, परान्तक, दक्षिणापथ और प्राच्य—ये पांच प्रदेश थे। हम यहाँ इनका संक्षेप में र्णन करेंगे, जिससे बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय प्राप्त हो सके।

"मध्यम देश"

"...बुद्ध ने मध्यम देश में ही विचरण करके बुद्धधर्म का उपदेश किया ा। तथागत पदचारिका करते हुए पश्चिम में मथुरा (अंगुत्तर निकाय ५, , १०। इस सूत्र में मथुरा नगर के पाँच दोष दिखाये गये हैं) और कुरु ं थुल्लकोट्ठित (मज्झिम निकाय, २, ३, ३२। दिल्ली के आसपास का कोई त्कालीन नगर) नगर से आगे नहीं बढ़े थे। पूरब में कजंगला निगम के ुखेलु वन (मज्झिम निकाय ३. ५. १७। कंकजोल, संथाल परगना, बिहार) ौर पूर्व-दक्षिण की सललवती नदी (वर्तमान सिलई नदी, हजारीबाग और ीरभूमि) के तीर को नहीं पार किया था। दक्षिण में सुंसुमारगिरि (चुनार, जिला मिर्जापुर) आदि विंध्याचल के आसपास वाले निगमों क ही गये थे। उत्तर में हिमालय की तलहटी के सापुग (अंगुत्तर निकाय ४. ४. ५ ४.) निगम और उसीरध्वज (हरिद्वार के पास कोई पर्वत) पर्वत से ऊपर जाते हुए नहीं दिखायी दिये े। विनयपिटक में मध्यदेश की सीमा इस प्रकार बतलायी गयी है—"पूर्व ों कजंगला निगम...। पूर्व-दक्षिण में सललवती नदी....। दक्षिण दिशा में ेतकण्णिक निगम (हजारीबाग जिले में कोई स्थान)...। पश्चिम में थूण (आधुनिक थानेश्वर) नामक ब्राह्मणों का ग्राम...। उत्तर दिशा में उसीर-ध्वज पर्वत...(विनयपिटक ५. ३. २.)

मध्यम देश ३०० योजन लम्बा और २५० योजन चौड़ा था। इसका परिमंडल ९०० योजन था। यह जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) का एक वृहद् भाग था। तत्कालीन १६ जनपदों में से १४ जनपद इसी मे थे—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जी, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक और अवन्ति। शेष दो जनपद गन्धार और कम्बोज उत्तरापथ में पड़ते थे।"

गौतम बुद्ध को जब जन्म लेना हुआ तो उन्होंने कुल, देश पर विचार किया और निश्चय किया कि इसी मध्य देश में बुद्ध, आदि जन्म लेते रहे हैं, वहीं मैं भी जन्म लूँगा। (निदान कथा, पृष्ठ ...

२–'महावग्ग' (भाग ५, पृष्ठ १२-१३) के अनुसार 'मज्झिम देश' सीमा पूर्व में कजंगल तक (जिसके बाहर महासाल (१) नगर था), पूर्व में सललवती (सारावती) नदी तक, दक्षिण में सतकण्णिक ... और पश्चिम में थूना (कुरुक्षेत्र) के ब्राह्मण-प्रदेश तक (२) और ... उशीरध्वज पर्वत तक थी। (३)

३–'जातकट्ठ कथा' में मज्झिम देश की परिभाषा निम्नलि... में है :—

मज्झिमदेसो नाम पुरत्थिमदिसाय कजंगलं नाम निगमो, अपरेन महासाला, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो, मज्झे, दक्खिणाय दिसाय सळ्लवती नाम नदी, ततो परं पच्चन्तिमा पदा ओरतो मज्झे, दक्खिणाय दिसाय सेतकण्णिकं नाम निगमो, परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, पच्छिमाय दिसाय थूनं ब्राह्मणगामो, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ओरतो मज्झे, उत्त... दिसाय उसीरद्धजो नाम पब्बतो, ततो परं पच्चन्तिमा जनपदा ... मज्झेति एवं विनये वुत्तो पदेसो।(४)

१–विमलचरण ला ने यहाँ 'महासाल' से नगर का अर्थ लिया है, दूसरों ने उसे 'वन' लिखा है। मेरे विचार में भी 'वन' ही ठीक है। ... रिकल ज्यागरैफी आव इंडिया' (पृष्ठ १३) में भी लेखक ने यही भूल की

२–श्री ला ने पश्चिम की सीमा लिखते हुए "द्र द ब्राह्मण ... आव थून" लिखा है; पर मूल में 'थूनं नाम ब्राह्मणगामो—थून ... ब्राह्मणगाँव—लिखा है। मेरे विचार से ला महोदय ने मूल का अर्थ ... रूप में दिया है।

३–'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ १–२।

४–जातकट्ठ कथा—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १...

—मध्यदेश के पूर्व दिशा में कजंगल नामक कस्वा है, उसके वाद वड़े ल ('के बन) हैं और फिर आगे सीमांत देश। मध्य में सललवती नामक ी है, उसके आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश है। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक मक कस्वा है, उसके बाद सीमान्त देश है। पश्चिम में थून नामक ब्राह्मणों । गांव है, उसके वाद सीमान्त देश है। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक ंत है, उसके वाद सीमान्त देश। ([1])

४—आर्यदेश की यही परिभाषा अन्यत्र भी मिलती है। "मध्य- त की पूर्व दिशा में कजंगल नामक कस्वा है, उसके वाद वड़े शाल के वन) हैं, फिर आगे सीमान्त देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक दी है, उसके वाद सीमान्त-देश; दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक स्वा है, उसके वाद सीमान्त-देश; पश्चिम दिशा में थून नामक ब्राह्मण- ाम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक र्वत है, उसके वाद सीमान्त देश। इस प्रकार विनय (पिटक) में मध्यदेश ा वर्णन है। ([2])

५—बुद्ध के समय में १६ महाजनपद थे, जिनमें निम्नलिखित १४ ानपद मज्झिम देश में आते थे—और शेष दो जनपद गंधार ([3]) (जिसकी ाजधानी तक्षशिला थी) तथा कम्बोज ([4]) उत्तरापथ में पड़ते थे। ([5])

१–बुद्धचर्या, पृष्ठ १।

२–जातक प्रथम खंड, निदान–कथा, पृष्ठ ११६, (भदंत आनंद कौस- ्यायन का हिन्दी-अनुवाद)।

३–जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी साहित्यों में गंधार देशका वर्णन मिलता है और उसे उत्तरापथमें बताया गया है। यह 'विषय' पश्चिमी पंजाब के रावलपिण्डी जिले से लेकर सीमा-प्रान्त के पेशावर जिले तक फैला रहा होगा। गंधार की तीन राजधानियों के वर्णन मिलते है— (१) पुष्कलावती (२) तक्षशिला तथा (३) पुरुषपुर.

पुष्कलावती की पहचान चारसद्दा से की जाती है। ('ए गाइड टू स्कल्पचर्स इन इंडियन म्यूजियम' भाग १, पृष्ठ १०४) तक्षशिला वर्तमान टैक्सिला और पुरुषपुर वर्तमान पेशावर है। (वही, पृष्ठ १०४)

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥[1]

—अर्थात् उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में विन्ध्य तक, पश्चिम में वि॰ तक और पूर्व में प्रयाग तक ।

२—वराहमिहिर ने मध्यदेश के अन्तर्गत निम्नलिखित देशों की ग॰ की है :—

भद्रारिमेदमाण्डव्यसाल्वनीपोज्जिहानसङ्ख्याताः ।
मरुवत्सघोषयामुनसारस्वतमत्स्यमाध्यमिकाः ॥
माथुरकोपज्योतिषधर्मारण्यानि शूरसेनाश्च ।
गौरग्रीवोद्देहिकपाण्डुगुडाश्वत्थपाञ्चालाः ॥
साकेतकङ्ककुरुकालकोटिकुकुराश्च पारियात्रनगः ।
औदुम्बरकापिष्ठलगजाह्वयाश्चेति मध्यमिदम् ॥[2]

—भद्र, अरिमेद, मांडव्य, साल्व, नीप, उज्जिहान, संख्यात, मरु, घोष, यमुना तथा सरस्वती से सम्बद्ध प्रदेश, मत्स्य, माध्यमिक, उपज्योतिष, धर्मारण्य, शूरसेन, गौरग्रीव, उद्देहिक, पाण्डु, गुड, पाञ्चाल, साकेत, कंक, कुरु, कालकोटि, कुकुर, परियात्र पर्वत, कापिष्ठल, और हस्तिनापुर मध्यदेशान्तर्गत प्रदेश है ।

इसी आर्यक्षेत्र में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और ब॰ ६३ शलाका पुरुष और महापुरुष जन्म लेते रहे हैं ।

विदेह

इस मध्यदेश अथवा आर्यावर्त के अन्तर्गत एक प्रदेश विदेह था, सम्बन्ध में जैन, बौद्ध तथा वैदिक ग्रन्थों में पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं ।

(१) मनुस्मृति, २-२१ ।
(२) बृहत्संहिता, अध्याय १४-श्लोक २, ३, ४ ।

(क) जैन-दृष्टिकोण

जैनों के मतानुसार 'विदेह' एक जनपद था और उसकी राजधानी मिथिला थी।[1]

१—"इहेव भारहे वासे पुव्वदेसे विदेहा नाम जणवओ, संपइ काले तीरहुत्तिदेसो त्ति भण्णइ। जत्थ पइगेहं महुरमंजुलफलभारोणयाणि कयलीवणाणि दीसंति। पहिया य चिविडयाणि दुद्धसिद्धाणि पायसं च भुंजंति। पए पए वावीकूवतलायनईओ अ महुरोदगा, पागयजणा वि सक्कयभासविसारया अणेगसत्थपसत्थ अइ निउणा य जणा। तत्थ रिद्धित्थिमिअसमिद्धा मिहिला नाम नयरी हुत्था। संपयं जगइ[2] त्ति पसिद्धा। एयाए नाइदूरे जणयमहारायस्स भाउणो कणयस्स निवासट्ठाणं कणइपुरं वट्टइ।[3]

इसी भारतवर्ष में पूर्व देश में विदेह नाम का देश है, जो (ग्रन्थकार के समय—विक्रमी १४-वीं शताब्दी—में) तिरहुत के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँ प्रत्येक घर में मीठे और सुन्दर फलों के भार से नमे हुए केले के वन दृष्टिगोचर होते हैं। पथिक दूध में पकाये हुए चिवड़े और खीर खाते हैं। स्थान-स्थान पर मीठे पानी वाले कूएँ, बावड़ी, तालाब और नदियाँ हैं। सामान्य जन भी संस्कृतज्ञ तथा शास्त्र-प्रशास्त्र में प्रवीण हैं और अनेक ऋद्धियों से समृद्ध मिथिलानाम की नगरी है। इस समय 'जगई' नाम से प्रसिद्ध है। उसके समीप जनक महाराजा के भाई कनक का निवास-स्थान कनकीपुर है।

२— 'मिहिल विदेहा य'—मिथिला नगरी विदेहा जनपदः।[4]

इसी प्रकार विदेह देश के अनेक उल्लेख प्रज्ञापना-सूत्र सटीक, सूत्रकृताङ्ग टीका, त्रिषष्टिशालाका पुरुष-चरित्र (पर्व २) इत्यादि ग्रन्थों में मिलते हैं।

---

(१) इसी में मल्लिनाथ भगवान्, श्री नेमिनाथ भगवान्, अकम्पित गणधर और नमि नामके प्रत्येकबुद्ध हुए हैं। यहाँ महावीर स्वामी ने ६ चौमासे किये थे।

(२) आज भी उसे 'जगती' कहते हैं।

(३) विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ३२।

(४) प्रवचन सारोद्धार वृत्ति सहित पृष्ठ ४४६

(ख) बौद्ध-दृष्टिकोण

बौद्ध-ग्रन्थों में विदेह की चर्चा इस रूप में मिलती है :—

१—विदेह देश ३०० योजन विस्तार वाला था और इसकी राज मिथिला का विस्तार सात योजन था। इस विदेह देश में १६००० १६००० भाण्डार, १६००० नर्तकियाँ थीं। विदेह से चम्पा तक एक सड़क थी, जिसकी लम्बाई ६० योजन थी। विदेह देश के पार्श्व में और कोशल नाम के देश थे।[1]

२—"ज्यागरफी आव अर्ली बुद्धिज्म' में विदेह की चर्चा निम्नलि रूप में मिलती है :—

"मिथिला विदेहों की राजधानी थी। पौराणिक कथाओं में उसे महाप जनक का देश कहा गया है ...।[2]

(ग) वैदिक दृष्टिकोण

"वेदों के ब्राह्मण-खण्ड से प्रतीत होता है कि, विदेह लोग बड़े ही सुसंस्कृत और सभ्य थे। यह भूखण्ड संहिताओं के काल में भी 'विदेह' रूप से ही विख्यात था। यजुर्वेद-संहिता में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि विदेह की गाएँ[3] प्राचीन काल में बड़ी विख्यात[4] थीं।" इसी प्रकार का उल्लेख महाभारत में भी आया है।[5]

१—ब्राह्मण-ग्रन्थों से प्रकट होता है कि, विदेह-माधव द्वारा बसाये जाने के कारण इसका नाम विदेह पड़ा। शतपथ-ब्राह्मण में आता है :—

---

(१) गन्धार जातक (४०६) बंगला-अनुवाद खंड ३, पृष्ठ २०८,
गन्धार जातक (४०६) हिन्दी-अनुवाद खंड ४, पृष्ठ २६,
'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ६३५, ८७६।

(२) 'ज्यागरफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ ३०

(३) कृष्ण-यजुर्वेद (कीथ का अनुवाद) खंड १, पृष्ठ १३८।

(४) 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया', पृष्ठ २३५।

(५) महाभारत, (निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित), शांतिपर्व, अध्याय ३२ श्लोक २०।

"सहोवाच। विदेघो (हो) माथ (ध) वः कुत्राहंभवानीत्यत एवहे प्राचीनं भुवनमिहिहोवा च। सैषा तर्हि कोशलविदेहानां मर्यादा तेहि माथ (घ) वाः।१७।"[1]

२—'शक्ति-सङ्गम-तंत्र' में लिखा है :—

गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्त्याभिधो मनुः॥

—गण्डकी नदी से लेकर चम्पारन तक का प्रदेश विदेह अथवा तीरभुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था।

३—'बृहत् विष्णु-पुराण' के मिथिला-खण्ड में विदेह के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है :—

एषा तु मिथिला राजन् विष्णुसायुज्यकारिणी
वैदेही तु स्वयं यस्मात् सकृद् ग्रन्थि,वमोचिनी॥[2]

उसी ग्रन्थ में और उल्लेख आया है :—

गङ्गाहिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे।
तैरभुक्तिरिति ख्यातो देशः परमपावनः॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशत् व्यायामः परिकीर्त्तितः॥
गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन॥
मिथिला नाम नगरी तत्रास्ते लोकविश्रुता।
पञ्चभिः कारणैः पुण्या विख्याता जगतीत्रये॥ (३)

इन श्लोकों के अनुसार विदेह के पूर्व में कौशिका (आधुनिक कोशी), पश्चिम में गण्डकी, दक्षिण में गङ्गा और उत्तर में हिमालय प्रदेश था। उसका विस्तार पूर्व से पश्चिम तक १८० मील (२४ योजन) और उत्तर से दक्षिण तक १२५ मील (१६ योजन) था। इस तीरभुक्ति अथवा विदेह में मिथिला नामक नगर था।

---

(१) शतपथ-ब्राह्मण, प्रथम काण्ड, अ० ४, आ० १, १७।
(२) बृहत् विष्णु-पुराण, 'मिथिला खंड'।
(३) वही।

४—इसी पुराण में मिथिला के १२ नाम गिनाये गये हैं।

मिथिला तैरभुक्तिश्च, वैदेही नैमिकाननम्।
ज्ञानशीलं कृपापीठं, स्वर्णलाङ्गलपद्धतिः॥
जानकी जन्मभूमिश्च, निरपेक्षा विकल्मषा।
रामानन्दकुटी, विश्वभावनी नित्यमङ्गला॥
इति द्वादश नामानि मिथिलायाः॥
सदाभूवनसम्पन्नो नदीतीरेषु संस्थितः।
तीरेषु भुक्तियोगेन तैरभुक्तिरिति स्मृतः॥ (१)

—नदी के किनारे पर स्थित भुक्ति (प्रान्त) होने के कारण इसका नाम 'तीरभुक्ति' रखा गया–जिसका आधुनिक रूप तिरहुत है।

५—भविष्यपुराण में आता है कि, निमि के पुत्र मिथि ने मिथिला बसायी थी।

निमेः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः।
पूर्वं भुजबलैर्येन तैरहूतस्य पार्श्वतः॥
निर्मितं स्वीयनाम्ना च मिथिलापुरमुत्तमम्।
पुरीजननसामर्थ्याज्जनकः स च कीर्तितः॥ (२)

६—श्रीमद्भागवत् में निमि के पुत्र जनक द्वारा मिथिला अथवा विदेह के बसाये जाने का उल्लेख है।

अराजकभ नृणां मन्यमाना महर्षयः।
देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत॥
जन्मना जनकः सोऽभूत वैदेहस्तु विदेहजः।
मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता॥ (३)

७—'भारत-भूगोल' में विदेह-देश की सीमा इस प्रकार बतायी गयी है :—

गङ्गायाः उत्तरतः विदेहदेशः। देशोऽयं वेदोपनिषत्पुराणगीयमानानां जनकानां राज्यम्। अस्यैव नामान्तरं मिथिला। राज्यस्य

(१) वही।
(२) देखिये–'भारत-भूगोल:' पृष्ठ ३७ पुष्ठ।
(३) श्रीमद्भागवत्, स्कंध ९, अध्याय १३, श्लोक १२, १३।

राजधान्या अपि मिथिलैव नामधेयं बभूव। सम्प्रति नेपालदेश-सन्निकृष्टा (१) जनकपुरी नाम नगरी जनकानां राजधानी सम्भाव्यते मिथिलानाम्ना नृपतिना स्थापितं मिथिलाराज्यमिति पुराणानि कथयन्ति। (२)

—अर्थात् गङ्गा के उत्तर में विदेह-देश है। इसका नामान्तर मिथिला है। इसकी राजधानी भी मिथिला थी। वर्तमान जनकपुरी ही प्राचिन राजधानी थी। पुराणों के अनुसार मिथिला नामक राजा ने मिथिला राज्य की स्थापना की थी।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि, विदेह एक प्रान्त था। जिसके १२ नामों में 'तीरभुक्ति' भी एक नाम था। 'भुक्ति' का अर्थ 'प्रान्त' होता है। गुप्तकालीन शिलालेखों मे भी एक स्थान पर 'भुक्ति' 'प्रान्त' के अर्थ में आया है। (३) अतः स्पष्ट है कि, आर्यावर्त में विदेह नामक एक प्रान्त था, जिसकी राजधानी मिथिला थी।

---

(१) जनकपूर नेपाल राज्य के अन्तर्गत है, न कि, उसके निकट—देखिये 'सर्वे आव इण्डिया' का मानचित्र संख्या ७२ एफ (स्केल १" = ४ मील)

(२) भारत-भूगोलः, पृष्ठ ३७।

(३) पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया (हेमचन्द्र राय चौधरी-लिखित) ५-वाँ संस्करण, पृष्ठ ५६०.

卐

वैशाली

वैशाली प्राचीन भारत की एक बहुत ही महत्वपूर्ण नगरी थी। वैशाली नगर और उनके अधिपति वृज्जियों का उल्लेख सभी धर्मों के ग्रन्थों में मिलता है। बाद में मिथिला से उठकर विदेह की भी राजधानी यहाँ आ गयी[1]।

(क) बौद्ध-दृष्टिकोण

लिच्छिवियों के समान वज्जी (राष्ट्र) भी वैशाली के साथ सम्बद्ध था। वैशाली केवल लिच्छिवियों की ही राजधानी नहीं थी; वरन् पूरे संघ के लिए समान रूप से महत्व वाला नगर था। राकहिल ('लाइफ आव बुद्ध', पृष्ठ ६२) द्वारा उद्धृत एक बौद्ध-परम्परा से ज्ञात होता है कि, वैशाली नगर में तीन जिले (डिस्ट्रिक्ट्स) थे और ये विभाग सम्भवतः किसी समय तीन वंशों की राजधानियाँ थी[2]।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि, वैशाली न केवल लिच्छिवियों की राजधानी थी; वरन् सम्पूर्ण वज्जी-संघ की राजधानी थी[3]। वैशाली के

---

(१) 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास' (श्यामविहारी मिश्र तथा शुकदेव विहारी मिश्र-लिखित) पृष्ठ ३७१।
'भारतीय इतिहास की रूपरेखा,' भाग १, पृष्ठ ३१०-३१३।
'हिस्ट्री आव तिरहुत', एस० एन० सिंह-लिखित पृष्ठ ३४-३५।

(२) 'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म,' पृष्ठ १२; 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया,' पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ १२०।

(३) समूचे वृजिसंघ की राजधानी भी वैसाली (वैशाली) ही थी—'भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृष्ठ ३१३।

अन्तर्गत तीन परकोटे थे, इसका उल्लेख 'जातकट्ठ कथा' के 'एक पण्ण जातक' में निम्नलिखित रूप में मिलता है :—

"वेसालिनगरं गावुतगावुतन्तरे तीहि पकारेहि परिक्खित्तं, तीसु ठानेसु गोपुरट्टालकोट्ठकयुत्तं।"

—वैशाली नगर में दो-दो मील पर (गावुत=गव्यूति) एक-एक परकोटा बना था। और, उसमें तीन स्थानों पर अट्टालिकाओं सहित प्रवेशद्वार बने हुए थे[१]।

इसी प्रकार का उल्लेख लोमहंस-जातक में भी है :—

"...वेसालियं तिण्णं पाकारानं अन्तरे....।"[२]

२—अजातशत्रु को वैदेहीपुत्र कहा जाता है। इससे प्रकट है कि बिम्बिसार (श्रेणिक) ने लिच्छिवि-राजकुमारी से विवाह करके लिच्छिवियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था[३]।

३—विदेह का एक राजा कराल जनक बड़ा कामी था और एक कन्या पर आक्रमण करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला। कराल शायद विदेह का अन्तिम राजा था; सम्भवतः उसकी हत्या के बाद ही वहाँ की राजसत्ता का अन्त हो गया, और संघ-राज्य स्थापित हो गया। सातवीं-छठी-शताब्दी ई० पू० में विदेह के पड़ोस में वैशाली में भी संघ राज्य था; वहाँ लिच्छिवि लोग रहते थे। विदेहों और लिच्छिवियों के पृथक संघों को मिलाकर फिर इकट्ठा एक ही संघ अथवा गण बन गया था, जिसका नाम वृजि-(या वज्जि) गण था।...समूचे वृजि-संघ की राजधानी भी वेसाली (वैशाली) ही थी। उसके चारों तरफ तिहरा परकोटा था, जिसमें स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देने की मीनार) बने हुए थे[४]।

(१) जातकट्ठकथा, पृष्ठ ३६६।
(२) जातकट्ठकथा पृष्ठ २८३।
(३) 'ज्यागरफी आव अर्ली बुद्धिज्म,' पृष्ठ १३।
(४) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृष्ठ ३१०-३१३।

(ख) वैदिक-दृष्टिकोण

१—रामायण में आता है:—

> इक्ष्वाकोऽस्तु नरव्याघ्रपुत्रः परमधार्मिकः।
> अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः॥
> तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरीकृता[१]।

—अर्थात् इक्ष्वाकु की रानी अलम्बुषा के पुत्र विशाल ने विशाल नगरी बसायी।

जिस समय विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को लेकर जनकपुर जा रहे थे, उन्हें रास्ते में वैशाली पड़ी थी। उन्होंने राम-लक्ष्मण को वैशाली के उन्नत शिखर और भव्य भवन दिखलाये थे और एक रात्रि वहीं व्यतीत की थी। रामायण में उल्लेख है कि उस समय वहाँ सुमति नाम का राजा राज्य करता था[२]। इस प्रकार सुमति अयोध्या के राजा दशरथ का समकालीन था। विष्णु-पुराण में सुमति विशाल की दसवीं पीढ़ी में बताया गया है[३]।

२—श्रीमद्भागवत-पुराण में भी विशाल द्वारा वैशाली बसाये जाने का उल्लेख है:—

> "विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्[४]।"

३—विष्णुपुराण में भी विशाल द्वारा इस नगर के बसाये जाने का उल्लेख है[५]।

४—पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी-व्याकरण में भी वैशाली के समान वृजियोंका उल्लेख किया है–देखो–'मद्रवृज्यो कन्' (सूत्र ४-२-१३१)।

५—इन प्रमाणोंसे वैशाली की प्राचीनता सिद्ध है। इस वैशाली नग

(१) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, आदि काण्ड, सर्ग ४७, श्लोक–११-१२

(२) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, भाग १, टी० एम० कृष्णाचार्य-सम्पादित बालकाण्ड, सर्ग ४७ श्लोक १७, १८, १९

(३) 'हिस्ट्री ऑव तिरहुत', पृष्ठ २१ (श्यामनारायण-रचित)

(४) श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अ० २, श्लोक ३३

(५) विष्णुपुराण (विलसन-अनूदित), खंड ३, पृष्ठ २४६

तंत्रकी स्थापना कब हुई, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर सूरजदेवनारायण तथा प्रो. हरिरंजन ने अपना मत इस रूपमें प्रकट किया है।

"इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वैशाली गण की स्थापना वैशाली के राजा सुमति का आतिथ्य स्वीकार करने वाले रामायण के नायक राम और महाभारतयुद्ध के बीच के समयमें हुई।.... राम के पुत्र कुश के बाद से बृहद्बल तक–जो उस वंशका अन्तिम राजा था और महाभारत युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारा गया–अट्ठाइस राजाओं की सूचि पुराणों में मिलती है (देखिये वी० रंगाचार्य लिखित–प्री मुस्लिम इंडिया' पृष्ठ ३६४–३६५) उस युद्धकी निश्चित तिथि का ढूंढ निकालना किसी प्रकार भी आसान नहीं है। किन्तु महाकाव्यों एवं पुराणों के प्रमाणों के आधार पर डा० हेमचंद्र रायचौधरी का विचार है कि अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का राज्याभिषेक करीब १४-वीं सदी ई० पू० के मध्य हुआ था (हेमचंद्र रायचौधरी लिखित 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंण्ट इण्डिया', पृष्ठ १६) यदि ऐसी बात हो तो बुद्ध के कई शताब्दी पूर्व वैशाली प्रजातंत्रका अस्तित्व मानना पड़ेगा।'

६—केन्द्रीय सरकारकी राजधानी नेपालकी तराई मे स्थित जनकपुर[२] से उठकर वैशाली (मुजाफरपुर जिले में स्थित बसाढ़) आगयी जो ६-व शताब्दी ई० पू० में बड़े महत्व का नगर हो गया ([३])।

(ग) जैन-दृष्टिकोण

१— इतश्च वसुधावध्वा मौलिमाणिक्यसन्निभा।
वैशालीति श्रीविशाला नगर्यस्त्यगरीयसी॥
आखंडल इवाखंडशासनः पृथ्वीपतिः।
चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत्॥([४])

---

(१) वैशाली-अभिनंदन-ग्रन्थ पृष्ठ, १००–१०१।
(२) राइस डेविड्स की मान्यतानुसार विदेह की राजधानी मिथिला वैशालीसे उत्तर-पश्चिम में ३५ मीलकी दूरी पर थी। (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६) और जातकों के अनुसार चम्पा से मिथिला ६० योजन दूर थी। (जातक, हिन्दी-अनुवाद भाग ६, पृष्ठ ३६)
(३) 'हिस्ट्री आव तिरहुत' एस. एन. सिंह-लिखित पृष्ठ ३४–३५।
(४) त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्र, पर्व १०, पृष्ठ ७७, श्लोक १८४, १८५।

(ख) वैदिक-दृष्टिकोण

१—रामायण में आता है:—

इक्ष्वाकोऽस्तु नरव्याघ्रपुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः॥
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरीकृता[१]।

—अर्थात् इक्ष्वाकु की रानी अलम्बुषा के पुत्र विशाल ने विशाल नगरी बसायी।

जिस समय विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को लेकर जनकपुर जा रहे थे, उन्हें रास्ते में वैशाली पड़ी थी। उन्होंने राम-लक्ष्मण को वैशाली के उन्नत शिखर और भव्य भवन दिखलाये थे और एक रात्रि वहीं व्यतीत की थी। रामायण में उल्लेख है कि उस समय वहाँ सुमति नाम का राजा राज्य [illegible] था।

२—श्रीमद्भागवत-पुराण में भी विशाल द्वारा वैशाली बसाये जाने का उल्लेख है:—

"विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्[४]।"

३—विष्णुपुराण में भी विशाल द्वारा इस नगर के बसाये जाने का उल्लेख है[५]।

४—पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी-व्याकरण में भी वैशाली के शाक्य वृज्जियोंका उल्लेख किया है—देखो—'मद्रवृज्यो कन्' (सूत्र ४-२-१३१)।

५—इन प्रमाणोंसे वैशाली की प्राचीनता सिद्ध है। इस वैशाली [illegible]

(१) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, आदि काण्ड, सर्ग ४७, श्लोक—११-१२।
(२) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, भाग १, टी० एम० कृष्णाचार्य-सम्पादित बालकाण्ड, सर्ग ४७ श्लोक १७, १८, १९
(३) 'हिस्ट्री ऑव तिरहुत', पृष्ठ २१ (श्यामनारायण-रचित)
(४) श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अ० २, श्लोक ३३
(५) विष्णुपुराण (विल्सन-अनूदित), खंड ३, पृष्ठ २४६

तंत्रकी स्थापना कब हुई, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर सूरजदेवनारायण तथा प्रो. हरिरंजन ने अपना मत इस रूपमें प्रकट किया है।

"इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वैशाली गण की स्थापना वैशाली के राजा सुमति का आतिथ्य स्वीकार करने वाले रामायण के नायक राम और महाभारतयुद्ध के बीच के समयमें हुई।....' राम के पुत्र कुश के बाद से बृहद्वल तक-जो उस वंशका अन्तिम राजा था और महाभारत युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारा गया–अट्ठाइस राजाओं की सूचि पुराणों में मिलती है (देखिये वी० रंगाचार्य लिखित–प्री मुस्लिम इंडिया' पृष्ठ ३६४–३६५) उस युद्धकी निश्चित तिथि का ढूंढ निकालना किसी प्रकार भी आसान नहीं है। किन्तु महाकाव्यों एवं पुराणों के प्रमाणों के आधार पर डा० हेमचंद्र रायचौधरी का विचार है कि अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का राज्याभिषेक करीब १४-वीं सदी ई० पू० के मध्य हुआ था (हेमचंद्र रायचौधरी लिखित 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेण्ट इण्डिया', पृष्ठ १६) यदि ऐसी बात हो तो बुद्ध के कई शताब्दी पूर्व वैशाली प्रजातंत्रका अस्तित्व मानना पड़ेगा।'[1]

६—केन्द्रीय सरकारकी राजधानी नेपालकी तराई में स्थित जनकपुर[2] से उठकर वैशाली (मुजाफरपुर जिले में स्थित बसाढ) आगयी जो ६-व शताब्दी ई० पू० में बड़े महत्व का नगर हो गया ([3])।

(ग) जैन-दृष्टिकोण

१— इतश्च वसुधावध्वा मौलिमाणिक्यसन्निभा।
वैशालीति श्रीविशाला नगर्यस्त्यगरीयसी॥
आखंडल इवाखंडशासनः पृथ्वीपतिः।
चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत्॥([4])

(१) वैशाली-अभिनंदन-ग्रन्थ पृष्ठ, १००–१०१।

(२) राइस डेविड्स की मान्यतानुसार विदेह की राजधानी मिथिला वैशालीसे उत्तर-पश्चिम में ३५ मीलकी दूरी पर थी। (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६) और जातकों के अनुसार चम्पा से मिथिला ६० योजन दूर थी। (जातक, हिन्दी-अनुवाद भाग ६, पृष्ठ ३६)

(३) 'हिस्ट्री आव तिरहुत' एस. एन. सिंह-लिखित पृष्ठ ३४–३५।

(४) त्रिषष्टिशालाका पुरुष-चरित्र, पर्व १०, पृष्ठ ७७, श्लोक १८४, १८५।

—अर्थात् धन-धान्य से भरपूर और विशाल वैशाली नगरी थी। उस पर चेटक का शासन था।

२—तए णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दन्तिसहस्सेहिं तेत्तीसाए आससहस्सेहिं तेत्तीसाए रहसहस्सेहिं तेत्तीसाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढिए जाव रवेणं सुभेहिं वसईहिं सुभेहिं पायरासेहिं नाइविगिट्ठेहिं अन्तरावासेहिं वसमाणे वसमाणे अंगजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए, जेणेव वेसाली नयरी, तेणेव पहारेत्थ गमणाए (१)

—अर्थात् तब राजा कूणीय ३३ हजार हाथियों, ३३ हजार घोड़ों, ३३ हजार रथों, और ३३ करोड़ मनुष्यों सहित, बड़े ठाठ-बाठ से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ठहर कर कलेवा आदि करता हुआ अंग (२) जनपद के बीचों-बीच में से निकल कर विदेह जनपद में होता हुआ वैशाली नगरी की ओर बढ़ा।

वैशाली अथवा आधुनिक बसाढ़

चाहे राजा विशाल द्वारा बसाये जाने के कारण इसका नाम विशाला अथवा वैशाली पड़ी हो, अथवा दीवारों को तीन बार हटा कर विशाल किये जाने के कारण इसका नाम वैशाली रखा गया हो; पर यह सिद्ध है कि, प्राचीन काल में 'वैशाली' एक मुख्य नगरी थी। आज कल यह स्थान—

१-निरयावलियाओ, पृष्ठ २६।

२-डा० त्रिभुवनदास ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतवर्ष' में अङ्ग देश को मध्य भारत बताया है। इसी पुस्तक के प्रथम भाग (पृष्ठ ४६) के नक्शे के अनुसार यदि कूणिय राजा के मार्ग को निर्धारित करना चाहें, तो राजा कूणिय को मगध देश के बीच में से होकर जाना पड़ा होगा। पर, ऊपर दिये 'निरयावलियो' के प्रमाण के अनुसार अङ्गदेश से विदेह जाने के लिए बीच में कोई देश नहीं पड़ता। अतः निश्चित है कि, डाक्टर साहब की स्थापना केवल कल्पना मात्र है।

फ़रपुर जिले में—वसाढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। वसाढ़ के आसपास ों तक फैले हुए पुराने अवशेष इसकी पुष्टि करते हैं। बसाढ़ के आसपास या, कोलुआ, कूमन छपरागाछी, वासुकुण्ड वस्तुतः वैशाली के निकट के ाज्यग्राम, कोल्लाग-सन्निवेश, कर्मारग्राम और कुण्डपुर की अवस्थिति सूचना देते हैं।

यह वसाढ़ गाँव ही प्राचीन काल की वैशाली थी, इस ओर सब से ले कनिंघम का ध्यान गया।[१] वीवियन द' सेंट मार्टिन ने भी उनसे मति प्रकट की।[२] यद्यपि कुछ अन्य यूरोपीय विद्वानों ने कुछ अन्य मान्य-ं स्थापित कीं; पर विसेंट स्मिथ ने उन्हें निराधार सिद्ध करके वसाढ़ को वैशाली सिद्ध कर दिया।[३] स्मिथ ने अपनी मान्यता के समर्थन में निम्न-खित प्रमाण पेश किये हैं :—

१—केवल थोड़े से परिवर्तन से प्राचीन नाम अब भी प्रचलित है।

२—पटना तथा अन्य स्थानों से भौगोलिक सम्बन्धों पर विचार करने भी बसाढ़ ही वैशाली ठहरता है।

३—सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री युआन च्वाङ द्वारा दिये गये वर्णन भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

४—वसाढ़ की खुदाई में 'सीलें' (मुहरें) मिली हैं, जिन पर 'वैशाली' म दिया हुआ है।[४]

-'आक्यॉलाजिकल–सर्वे–रिपोर्ट', प्रथम भाग, पृष्ठ ५५–५६; भाग १६, पृष्ठ ६।

'इंडालाजिकल-स्टडीज', भाग ३, पृष्ठ १०७।

-'इंडालाजिकल-स्टडीज', भाग ३, पृष्ठ १०७।

-'जर्नल आव रायल एशियाटिक-सोसाइटी', १९०२, पृष्ठ २६७।

-'एंसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन एंड एथिक्स', भाग १२, पृष्ठ ५६७–५६८।

स्मिथ महोदय का अन्तिम तर्क पूर्णतः अकाट्य है।

भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने बसाढ़ की जो खुदाई की है, उससे वैशा की स्थिति में किञ्चित् मात्र शंका की गुंजाइश नहीं रह जाती। ख़ु में प्राप्त मुहरों में स्पष्ट रूप से 'वैशाली' नाम आया है और एक मुहर ऐ भी मिली है, जिसमें वैशाली के साथ 'कुण्ड' शब्द भी जुटा है। उस लिखा है :—

'वैशाली नाम कुंडे कुमारामात्याधिकरण (स्य)'[1]

वज्जीगणतंत्र[2] की राजधानी वैशाली थी। इस देश के ग लिच्छिवि क्षत्रिय थे[3] और वे गंगा के उत्तर विदेह देश में बसते थे। कुछ लोग लछुआर (जिला मुंगेर, मोदागिरि) को लिच्छिवियों की राजधानी म रहे हैं; पर आगे दिये गये प्रमाणों के प्रकाश में पाठक स्वयं अपनी बु से निर्णय कर सकते हैं कि उनकी धारणा कितनी भ्रामक है :—

१—राजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ, 'महावीर की वास्तविक जन्मभूमि' श्री मिश्र-लिखित, पृष्ठ ५८४।

२—लिच्छिवि और विदेहों के राष्ट्र का नाम 'वज्जी' था। वज्जी का अलग जाति नहीं थी। 'महापरिनिब्बान सुत्त' की टीका में लिखा है :—

'रठस्स पन वज्जी समञ्ञा' अर्थात् वज्जी राष्ट्र का नाम था।

३—'दिव्यावदान' में इसका रूप 'लिच्छवी' है; परन्तु 'महावस्तु' इसी को 'लेच्छवी'-रूप में लिखा है। बौद्ध-ग्रन्थों का जो अनुवाद चीनी-भा में हुआ है, उनमें लिच्छवि के लिए जो चीनी शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उन 'लिच्छवी' और 'लेच्छवी' दोनों रूप होते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' और 'कल्पसूत्र' आदि जैन-शास्त्रों में इसका प्राकृत-रूप 'लेच्छई' है, जिसका टीकाकारों अनुसार संस्कृत-रूप 'लेच्छकी' होता है। कुल्लूकभट्ट और राघवानन्द सर टीकाकारों ने इसे 'निच्छिवि' लिखा है, जो कि सम्भवतः प्राचीन बंगला 'ल' और 'न' के सादृश्य से भ्रांति हो गयी प्रतीत होती है। मनुसंहिता जाली और बुहलर दोनों ने 'लिच्छिवि' पाठ रखा है (देखो 'ट्राइब्स ऐंसेंट इंडिया', पृष्ठ २६४-२६६)। कुल्लूक भट्ट से मेधातिथि ६०० वर्ष

(क) वैशाली लिच्छिवियों की राजधानी थी[१] और लिच्छिवियों की राजधानी होने के कारण यह मगध अथवा अंग देश में नहीं हो सकती; क्योंकि वहाँ लिच्छिवियों का राज्य कभी नहीं रहा है। उनका राज्य, गंगा के उत्तर, विदेह में था।

(ख) वज्जी (लिच्छिवि और विदेहों का राष्ट्र) और मगध जनपदों के बीच गंगा नदी की सीमा थी।[२]

(ग) बिम्बिसार ने राजगह (राजगृह) से लेकर गंगा तक का पूरा मार्ग झण्डों और बन्दनवारों से सजाया था। उसी तरह से लिच्छिवियों ने वैशाली से लेकर गंगा तक का मार्ग तोरण आदि से सज्जित किया था।[३]

(घ) मगध के उत्तर और गंगा के उस पार वज्जियों का राज्य था (मुख्य नगर—वैशाली) और उससे भी उत्तर की ओर मल्ल बसते थे।[४]

(पृष्ठ ६६ की पादटिप्पणि का शेषांश)

और गोविन्दराज ३०० वर्ष पूर्व हुए है। इन दोनों ने 'लिच्छवी' पाठ दिया है। 'पाइअसद्दमहण्णवो' में 'लिच्छवि' और 'लेच्छइ' दोनों पर्यायवाची हैं, और 'लेच्छइ' का संस्कृत-रूप 'लेच्छकि' लिखा है।

'लिच्छवि' और 'वज्जी' (संस्कृत 'वृज्जि') पर्यायवाची हैं। (देखिये 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया', पृष्ठ ३११)

मनु ने लिच्छिवियों को 'व्रात्य' लिखा है। (मनुस्मृति अध्याय १०, श्लोक १०) अर्थात् लिच्छवि—मनु के मत से—हीन क्षत्रिय थे। परन्तु, लिच्छवि हीन क्षत्रिय नहीं थे। मनु ने उन्हें व्रात्य इसलिए लिखा प्रतीत होता है; क्योंकि ये लोग ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी न होकर अर्हतों और चैत्यों की पूजा करते थे। इसका वर्णन अथर्ववेद में भी मिलता है।

---

(१) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ ६४०।
(२) संयुत्त निकाय, पहला भाग, पृष्ठ ३।
(३) 'ज्यागरैफी आव अर्ली बुद्धिज्म', पृष्ठ १०।
(४) 'लाइफ आव बुद्ध', ई०.जे० टामस-रचित, पृष्ठ १३।

(ञ) लिच्छिवि-वंश की शक्तिशाली राजधानी वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़) नगर प्रारम्भिक दिनों में बौद्ध-धर्म का एक दुर्ग था।[१]

इस वज्जीसंघ में बहुत से इतिहासकार ८ कुल मानते हैं।[२] मिश्रबंधुओं ने उन कुलों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं:—विदेह, लिच्छिवि, ज्ञात्रिक, वज्जी, उग्र, भोग, ऐक्ष्वाकु और कौरव।[३]

पर, तथ्य यह है कि, आर्यों के केवल ६ ही कुल थे। प्रज्ञापनासूत्र सटीक में उनका उल्लेख इस प्रकार आया है :—

कुलारिया छव्विहा पं., तं.—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा, णाया, कोरव्वा सेत्तं कुलारिया। (४)

इसी प्रकार का उल्लेख स्थानाङ्गसूत्र में भी मिलता है—

छव्विधा कुलारिता मणुस्सा पं., तं.—उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा ण्णाता, कोरव्वा (५) (सूत्र ४९७)

—आर्यों के ६ कुल थे। वे इस प्रकार थे—उग्र, भोग, राजन्य, ऐक्ष्वाकु ज्ञातृ (लिच्छिवि, वैशालिक) तथा कौरव।

इतिहासकारों द्वारा ८ कुल गिनाने का कारण यह है कि, सुमंगल-विलासिनी (६) में एक स्थान पर 'अट्ठकुलका' (७) शब्द आता है।

---

(१) '२५०० इयर्स आव बुद्धिज्म', पृष्ठ ३२०।
(२) 'द' ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इण्डिया,' कनिंघम-रचित, पृष्ठ ५१२–५१६। 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया,' ला-रचित, पृष्ठ ३११
(३) बुद्धपूर्व का भारतीय इतिहास, पृष्ठ ३७१।
(४) प्रज्ञापना सूत्र (सटीक) पत्र ५६।१।
(५) स्थानाङ्ग सूत्र (सटीक) पत्र ३५८।१।
(६) सुमङ्गल विलासिनी, भाग २, पृष्ठ ५१६।
(७) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ८१३।

परंतु, इस 'अट्ठकुलका' शब्द का वज्जी-संघ के कुलों से कोई सम्बन्ध नहीं था— यह 'अष्टकुलिक' शब्द वस्तुतः 'न्याय की समिति' के लिये व्यवहार में आया है। (१)

डाक्टर वी० ए० स्मिथ ने लिच्छिवियों को तिब्बती (२) लिखा है और डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण के उन्हें ईरानी (३) बताया है। इन दोनों की मान्यताएँ भ्रमपूर्ण हैं। लिच्छिवि विशुद्ध क्षत्रिय थे—यह बात पूर्णरूप से निर्विवाद है। (४)

बुद्ध के निधन के बाद, जब अस्थि लेने के लिए विभिन्न राष्ट्रों के लोग उपस्थित हुए, तो लिच्छिवियों ने स्वयं अपने सम्बन्ध में कहा था—

"भगवा पि खत्तियो, मयं पि खत्तिया
मयं पि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं
मयं पि भगवतो सरीरानं थूपं च
महं च करिस्सामा" ति।

दीघनिकाय, खण्ड २ (महावग्गो), पृष्ठ १२६।

"भगवान् भी क्षत्रिय (थे), मैं भी क्षत्रिय (हूँ), भगवान् के शरीरों (=अस्थियों) में मेरा भाग भी वाजिब है। मैं भी भगवान् के शरीरों का स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूँगा।"[५]

लिच्छियों का गोत्र वाशिष्ठ था। महावस्तु में आता है कि, बुद्ध ने लिच्छिवियों के लिए—"वाशिष्ठ गोत्र वालों..." का प्रयोग किया था।[६]

(१) दीघनिकाय, राहुल-जगदीश-कृत हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ११८।
(२) 'इंडियन ऐंटीक्वैरी', १९०३, पृष्ठ २३३।
(३) इंडियन ऐंटीक्वैरी', १९०८, पृष्ठ ७९।
(४) महावस्तु, जे० जे० जेन्स-कृत अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २०६।
(५) दीघनिकाय, राहुल सांकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप कृत हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १५०, महापरिनिब्बान सुत्त, स्तूप-निर्माण।
(६) महावस्तु, जे० जे० जेन्स-कृत अंग्रेजी-अनुवाद, भाग १, पृष्ठ २२५, २३५, २४८।

मुद्गलायन ने भी लिच्छिवियों को इसी रूप में सम्बोधित किया था।[1] वैशाली के लिच्छिवि-वंश की ही भगवान् महावीर की माता थीं। 'कल्पसूत्र' में उल्लेख आया है—"महावीरस्स माया वासिट्ठसगुत्तेणं"[2]। इसी प्रकार का उल्लेख 'आचाराङ्ग' में भी है।[3]

'महावस्तु' में भी आता है—"**वैशालकानां (वैशालिकानां) लिच्छवीनां वचनेन**"[4]। इससे स्पष्ट है कि, विशाल राजा के कुल वाले वैशालिक और लिच्छिवि दोनों ही समानार्थी शब्द थे और उन दोनों में कोई अन्तर नहीं था। महाराज विशाल क्षत्रिय थे और उनके पूर्वज अयोध्या से आये थे। (देखिये पृष्ठ ६२) अतः किसी भी रूप में लिच्छिवियों को विदेशी नहीं माना जा सकता।

बसाढ़ मुजफ्फरपुर जिले के रत्ती परगने में है। यहाँ जथरिया नाम एक जाति बसती है। राहुल सांकृत्यायन की कल्पना है कि, यह 'जथरिया' शब्द 'ज्ञातृक' का ही विकृत रूप है[5]। इस 'ज्ञातृ' कुल में पैदा होने के कारण महावीर 'नात-पुत्त' अथवा 'ज्ञातपुत्र' के नाम से विख्यात हुए। राहुल सांकृत्यायन की यह भी कल्पना है कि यह 'रत्ती' शब्द 'ज्ञातृकों' की 'नादिका' का विकृत रूप है। उसका रूप-परिवर्तन राहुलजीने इस रूप में दिया है—नादिका = ज्ञातृका = नातिका = लातिका = रत्तिका = रत्ती (बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६३) वस्तुतः ये 'ज्ञात' इस रत्ती परगने के ही राजा थे।

बुद्ध के समय में वैशाली गंगा से ३ योजन (२४ मील) की दूरी पर थी और बुद्ध ३ दिनों में गंगा-तट से वैशाली पहुँचे थे।[6] युआन च्वाङ ने गंगा

(१) 'लाइफ आव बुद्ध' राकहिल-रचित, पृष्ठ ६७।
(२) कल्पसूत्र, १०६।
(३) आचाराङ्ग सूत्र। श्रुतस्कंध २, अध्याय १५, सूत्र ४।
(४) महावस्तु, सेनार्ट-सम्पादित, भाग १।२५४।
(५) बुद्धचर्या, पृष्ठ १०४, ४६३।
(६) 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स,' भाग २, पृष्ठ ९४१।

वैशाली की दूरी १३५ ली (२७ मील) लिखी है।[1] आजकल मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़ गाँव पटना से २७ मील और हाजीपुर से २० मील उत्तर है। इससे दो मील की दूरी पर स्थित बखरा के पास अशोक-स्तम्भ है। सबसे पहले सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम ने इस स्तम्भ का निरीक्षण किया था। और, इन्हीं लोगों ने बसाढ़ के ध्वंसावशेषों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया।

१९०३-४ में डा० ब्लाख की देख-रेख में खोदायी का काम हुआ। बाद में १९१३-१४ में डाक्टर स्पूनर ने यहाँ खोदायी शुरू की। विशालगढ़ की खुदाई में बहुत सी मुहरें तथा ऐसे पदार्थ मिले, जिससे वैशाली की स्थिति पूर्ण रूप से सुदृढ़ हो गयी। और, अब तो यहाँ बुद्ध की अस्थियाँ मिल जाने से, उसके बारे में किञ्चित् मात्र शंका नहीं की जा सकती। इस अस्थि की चर्चा चीनी यात्री युवान च्वाङ् ने भी की है। उसके यात्रा-वर्णन के आधार पर पुरातत्ववेत्ता वर्षों से उसे ढूंढ़ निकालने के प्रयास में थे।[2]

यह स्थान अब तक राजा 'विशाल के गढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। यह आयताकार है और ईंटों से भरा है। इसकी परिधि लगभग एक मील है। डाक्टर ब्लाख के अनुसार यह गढ़ उत्तर की ओर ७५७ फुट, दक्षिण की ओर ७८० फुट, पूर्व की ओर १६५५ फुट और पश्चिम की ओर १६५० फुट लम्बा है। पास के खेतों की अपेक्षा खंडहरों की ऊँचाई लगभग ८ फुट है। दक्षिण को छोड़ कर इसके तीन ओर खाई है। इस समय यह खाई १२५ फुट चौड़ी है; परन्तु कनिंघम ने इसकी चौड़ाई २०० फुट लिखी है। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस किले के तीन ओर खाई थी। वर्षा और जाड़ों में किले का रास्ता दक्षिण पार्श्व की ओर से रहा होगा।

गढ़ के निकट लगभग ३०० गज दक्षिण-पश्चिम में एक स्तूप है। यह

(१) 'ऐंशेण्ट ज्यागरेफी आव इंडिया'—कनिंघम-रचित पृष्ठ ६५४।

(२) 'इलस्ट्रेटेड वीक्ली आव इंडिया', १३ जुलाई १९५८, पृष्ठ ४६-४७, 'एक्सकैवेशंस ऐट वैशाली', ए० एस० अल्टेकर-लिखित।

ईंटों का बना है और आस-पास के खेतों से २३ फुट ८ इंच ऊँचा है। ए
पर इसका व्यास १४० फुट है। चीनी यात्रियों ने इसकी चर्चा नहीं की।
स्तूप के किनारे खोदने पर, मध्य युग के, सुन्दर काम किये, प्रस्तर के
स्तम्भ मिले हैं।

गढ़ से पश्चिम की ओर बावन पोखर के उत्तरी भीटे पर एक छो
सा आधुनिक मन्दिर है। वहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व, विष्णु, हर-गौरी, ए
सप्तमातृका एवं जैन-तीर्थङ्करों की कितनी ही खण्डित मध्यकालीन मूर्ति
प्राप्त हुई हैं।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ जो अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज मिले
वह राजाओं, रानियों तथा अन्य अधिकारियों के नाम सहित सैकड़ों मु
हैं। इन में से कुछ मुद्राओं पर निम्नलिखित आलेख उत्कीर्ण हैं:—

१ महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त-पत्नी महाराजश्रीगो-
विन्दगुप्तमाता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

—महाराज श्री चन्द्रगुप्त की पत्नी, महाराज श्री गोविन्दगुप्त की
महादेवी ध्रुवस्वामिनी।

२ युवराज भट्टारक-पादीय बलाधिकरण।
—माननीय युवराज की सेना का कार्यालय।

३ श्री परमभट्टारक पादीय कुमारामात्याधिकरण।
—राजा की सेवा में लीन कुमार के मंत्री का कार्यालय।

४ दण्डपाशाधिकरण।
—दण्डाधिकारी का कार्यालय।

५ तीरभुक्त्युपरिकाधिकरण।
—तिरहुत (तीरभुक्ति) के राज्यपाल का कार्यालय।

६ तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थापकाधिकरण।
—तिरहुत (तीरभुक्ति) के समाचार-संशोधक का कार्यालय।

७ · वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण ।
—वैशाली नगरी के राज्य-शासन का कार्यालय ।

जनश्रुति के अनुसार, वहाँ बावन पोखरे (पुष्करिणियाँ) थे। परन्तु, कनिंघम ५२ में केवल १६ का पता पा सके। वैशाली के राजाओं के राज्याभिषेक के लिए इन पोखरों का जल काम में लाया जाता रहा होगा।

बनिया और चकरामदास

बसाढ़ गढ़ के उत्तर-पश्चिम में, लगभग एक मील की दूरी पर, बनिया गाँव है, इसका दक्षिणी भाग चकरामदास है। एच० वी० डब्ल्यू० गैरिक ने यहाँ प्राप्त दो प्रस्तर मूर्तियों का उल्लेख किया है—जो माप में २′–२″ × १४″ × ३″ और १′–१०″ × १′ × ३″ थीं। यहाँ सिक्के, मृत्तिका-पात्र आदि भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ मिली वस्तुओं में मिट्टी का बना दीवट भी है। गले के आभूषण भी यहाँ मिले हैं। गढ़ और चकरमदास के बीच लगभग आधा मील लम्बा पोखर है, जो घुड़दौड़ के नाम से प्रसिद्ध है। चकरामदास के दक्षिण-पश्चिम में कुछ ऊँचे स्थल हैं, जिन पर प्राचीन खंडहर हैं।

कोलुआ

गढ़ से उत्तर-पश्चिम में लगभग १ मील की दूरी पर कोलुआ नामक स्थान में अशोक का स्तम्भ (बखरा से दक्षिण-पूर्व दिशा में १ मील की दूरी पर), स्तूप, मर्कटह्रद (आधुनिक नाम—रामकुण्ड) है। वैशाली के सम्बन्ध में युवान च्वांङ ने जो वर्णन लिखा है, उनसे इन सब स्थानों का ठीक-ठीक मेल बैठता है। युआन च्वांङ ने वैशाली के राज-प्रासाद की परिधि ४-५ 'ली' लिखी है। वर्तमान गढ़ की परिधि ५००० फुट से कुछ कम है। ये दोनों स्थितियाँ एक-दूसरे के अत्यंत निकट हैं। युआन च्वाङ ने लिखा है—"उत्तर-पश्चिम में अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है और ५०-६० फुट ऊँचा पत्थर का एक स्तम्भ है, जिसके शिखर पर सिंह की मूर्ति है। स्तम्भ के दक्षिण में एक तालाब है। जब बुद्ध इस स्थान पर रहते थे, तब उनके ही उपयोग के लिए यह निर्मित किया गया था। पोखर से कुछ दूर पश्चिम

में एक दूसरा स्तूप है। यह उस स्थान पर बना है, जहाँ बन्दरों ने बुद्ध को मधु अर्पित किया था। पोखर के उत्तर-पूर्व कोने पर बन्दर की एक मूर्ति है।"[1]

आजकल की स्थिति यह है कि, कोलुआ में एक स्तम्भ है, जिस पर सिंह की मूर्ति है; इसके उत्तर में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप है; स्तूप के दक्षिण की ओर रामकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध पोखर है, जो कि बौद्ध-इतिहास में 'मर्कट-ह्रद' के नाम से ज्ञात है।

यहाँ की जनता अशोक-स्तम्भ को 'भीम की लाठी' कहती है। यह भूमि से २१ फुट ९ इंच ऊँचा है। स्तम्भ का शीर्ष भाग घंटी के आकार का और २ फुट १० इंच ऊँचा है। इसके ऊपर एक प्रस्तर-खण्ड पर उत्तराभिमुख सिंह बैठा है। जनरल कनिंघम ने १४ फुट नीचे तक इसकी खुदाई की थी और तब भी स्तम्भ उन्हें उतना ही चिकना मिला था, जितना कि, वह ऊपर है। स्तम्भ से उत्तर में २० गज की दूरी पर एक ध्वस्त स्तूप है। यह १५ फुट ऊँचा है। धरती पर इसका व्यास ६५ फुट है। इसमें लगी ईंटों का आकार १२"×९।"×२॥" है। स्तूप के ऊपर एक आधुनिक मन्दिर है। इसमें बोधिवृक्ष के नीचे भूमिस्पर्श-मुद्रा में बैठी बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, जो मुकुट, हार और कर्णाभूषण पहने है। बुद्ध के सिर के दोनों ओर दो मूर्तियाँ मुकुट और आभूषण पहने हैं। उनके हाथ इस प्रकार हैं, मानो वे प्रार्थना कर रही हों। इन दोनों छोटी मूर्तियों में प्रत्येक के नीचे निम्नलिखित पंक्तियाँ नागरी में लिखी हैं :—

१ देयधर्म्मोऽयम् प्रवरमहायानयायिनः करणिकोच्छा (=उत्साहस्य) मा (णि) क्य-सुतस्य.

२ यदत्रपुण्यम् तद् भवत्वाचार्योपाध्याय-मातापितोरात्मनः पूर्व्वंगमम (कृ)—

३ त्वा सकल-स (त्) त्वराशेरनुत्तर-ज्ञानावाप्तयेति।"

(१) "बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आव वेस्टर्न इंडिया", द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६७-६

—अर्थात् माणिक्य के पुत्र, लेखक और महायान के परम अनुयायी उत्साह का धर्मपूर्वक किया गया यह दान है। इससे जो भी पुण्य हो, वह आचार्य, उपाध्याय, माता-पिता और अपने से लेकर समस्त प्राणिमात्र के अनन्त कल्याण की प्राप्ति के लिए हो।

स्तम्भ से ५० फुट पर ही रामकुण्ड अथवा मर्कटह्रद है, जिसके किनारे कूटागारशाला थी। इस कूटागारशाला में ही, बुद्ध ने आनन्द को अपने निर्वाण की सूचना दी थी। वहाँ खुदाई करने पर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली एक मोटी दीवार पायी गयी है, जो कि पक्की ईंटो की है। इसकी ईंटें १५॥″×६॥″×२″ की हैं। दीवार के पश्चिमी छोर पर एक छोटे स्तूप के अवशेष पाये गये हैं। इस स्तूप की ईंटें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। इसमें ७। इंच व्यास की एक गोलाकार ईंट मिली थी, जिसका ऊपरी भाग गोल था। इसके बीच में एक चौकोर छेद था। कनिंघम का मत है कि यह स्तूप के शिखर की ईंट रही होगी। कोलुआ, बनिया और बसाढ़ से पश्चिम में 'न्योरी-नाला' नामक नदी का पुराना पाट बहुत दूर तक चला गया है। अब इसमें खेती होती है।

यहाँ जन-श्रुति प्रसिद्ध है कि, प्राचीन वैशाली के चारों कोनों पर चार शिवलिङ्ग स्थापित थे। इसका आधार क्या है, इसे नहीं कहा जा सकता और इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। उत्तर-पूर्वी 'महादेव' जो भ्रमनद्धपरागाछी में हैं, वास्तव में बुद्ध की मूर्ति हैं, जो चतुर्मुख है। उत्तर-पश्चिम में एक संगमरमर का लिङ्ग बना है, जो बिलकुल आधुनिक है। इन दोनों को यहाँ की जनता बहुत भक्ति-भाव से पूजती है।

चीनी यात्रियों के काल में वैशाली

फाहियान और युआन च्वाङ् दोनों ही ने अपने यात्रा-ग्रंथों में वैशाली का उल्लेख किया है।

फाहियान ने लिखा है:—"वैशाली नगर के उत्तर स्थित महावन में कूटागार-विहार (बुद्धदेव का निवास-स्थान) है। आनन्द का अर्द्धाङ्ग स्तूप है। इस

नगर में अम्बपाली वेश्या रहती थी, उसने बुद्ध का स्तूप बनवाया है। अब तक वैसा ही है। नगर के दक्षिण तीन 'ली' पर अम्बपाली का बाग है, जिसे उसने बुद्धदेव को दान दिया था कि, वे उसमें रहें। बुद्ध परिनिर्वाण के लिए, जब सब शिष्यों सहित वैशाली नगर के पश्चिम से निकले, तो दाहिनी ओर घूमकर नगर को देखकर शिष्यों से कहा—मेरी अन्तिम विदा है।' पीछे लोगों ने वहाँ स्तूप बनवाया।

"यहाँ से पश्चिम की ओर तीन-चार 'ली' पर एक स्तूप है। बुद्ध के परिनिर्वाण से सौ वर्ष पीछे, वैशाली के भिक्षुओं ने विनय—दस शील-विरुद्ध आचरण किया।

"....इस स्थान से ४ योजन चल कर पाँच नदियों के संगम पहुँचे। आनन्द मगध से परिनिर्वाण के लिए वैशाली चले। देव ने अजातशत्रु को सूचना दी अजातशत्रु तुरत रथ पर पर सेना के साथ नदी पर पहुँचा। वैशाली के लिच्छिवियों ने आनन्द का आगमन सुना, तो उन्हें लेने के लिए नदी पर पहुँचे। आनन्द ने सोचा—'आगे बढ़ता हूँ, तो अजातशत्रु बुरा मानता है और लौटता हूँ तो लिच्छिवि रोकते हैं।' परिणामस्वरूप आनन्द ने नदी के बीच में 'तेजोकसिण' [1] (तेज:कृत्स्न) योग के द्वारा परिनिर्वाण लाभ किया। शरीर को दो भागों में विभक्त कर एक-एक भाग दोनों किनारों पर पहुँचाया गया। दोनों राजाओं को आधा-आधा शरीरांश मिला। वे लौट आये और उन्होंने अपने-अपने स्थानों पर स्तूप बनवाए।"

युआन च्वाङ् ने लिखा है—"इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५ हजार 'ली' है। भूमि उत्तम तथा उपजाऊ है, फल-फूल बहुत अधिक होते हैं—विशेषकर आम और मोच (केला) अधिकता से होते हैं और मँहगे बिकते हैं। जलवायु सहज और मध्यम प्रकार की है तथा मनुष्यों का आचरण शुद्ध और सच्चा है। बौद्ध और बौद्धेतर दोनों ही मिलकर रहते हैं। यहाँ के

१—यह एक प्रकार का योगाभ्यास है, जिसमें अग्नि का तेज दृष्टि पर लगा कर धीरे-धीरे सारे भूमण्डल को देखने की भावना करने में आती है।
—बुद्धचर्या पृष्ठ ५८१

संघाराम हैं; परन्तु सब-के-सब खंडहर हो गये हैं। तीन या पाँच ऐसे हैं जिनमें बहुत-ही कम संख्या में साधु रहते हैं। दस-बीस मन्दिर देवताओं के हैं जिनमें अनेक मतानुयायी उपासना करते हैं। जैन धर्मानुयायी काफी संख्या में है।

"वैशाली की राजधानी बहुत-कुछ खँडहर है। पुराने नगर का घेरा ६० से ७० 'ली' तक है और राजमहल का विस्तार ४-५ 'ली' के घेरे में है। बहुत थोड़े-से लोग इसमें निवास करते हैं। राजधानी से पश्चिमोत्तर ५-६ 'ली' की दूरी पर एक संघाराम है। इसमें कुछ साधु रहते हैं। ये लोग सम्मतीय संस्था के अनुसार हीनयान-सम्प्रदाय के अनुयायी है।'

क्षत्रियकुण्ड

बसाढ़ के निकट वासुकुण्ड स्थान है, जो प्राचीन कुण्डपुर (जिसमें क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड दो भाग थे) का आधुनिक नाम है। जैन-शास्त्रों में इसका स्थान-निर्देश करते हुए लिखा है—

१—अत्थि इह भरहवासे मज्झिमदेसस्स मण्डणं परमं।
सिरिकुण्डगामनयरं वसुमइरमणीतिलयभूयं ॥७॥

—नेमिचन्द्रसूरिकृत महावीरचरियं, पत्र २६

भारत के मज्झिम (मध्य) देश में कुण्डग्राम नगर है।

२—जम्बूद्दीवे णं दीवे भारहे वासे....दाहिणमाहिणकुंडपुर-संनिवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसन्निवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ।

—आचाराङ्गसूत्र (टीका सहित), पत्र ३८८

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुरसन्निवेश से (चलकर)

(१) 'बुद्धिस्ट रेकार्ड आव वेस्टर्न वर्ल्ड', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ६६-६७।

उत्तर क्षत्रियकुण्ड-सन्निवेश में ज्ञातृक्षत्रियों के काश्यपगोत्रीय सिद्धार्थ की (पत्नी) वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में अशुभ को हटा कर शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करके गर्भ-प्रवेश कराता है।

३—भगवान् को आचाराङ्ग आदि सूत्रों में 'विदेह' (विदेहवासी) क गया है। यद्यपि टीकाकारों ने इसके एकही-जैसे अर्थ किये हैं; पर वे नहीं हैं। नीचे हम 'कल्पसूत्र' के आधार पर 'विदेह' के अर्थ का ... करते हैं। उससे पाठकगए अपना निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

(क) कल्पसूत्र में आया विदेह-सम्बन्धी पाठ निम्नलिखि में है :—

"नाए नायपुत्ते नायकुलचन्दे विदेह विदेहदिन्ने विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु।"—सूत्र ११०

यही पाठ आचाराङ्ग-सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावना अध्ययन, पृ० ... पत्र ३८६।२ में भी है।

कल्पसूत्र की 'सुबोधिका-टीका' में श्री विनयविजय जी ... 'विदेह' शब्द का अर्थ इस रूप में किया गया है :—

"(विदेहे) वज्रऋषभनाराचसंहननसमचतुरस्रसंस्थानमनोहरत्वाद् विशिष्टो देहो यस्य स विदेहः" (पत्र २६२, २६३)

पर, यह अर्थ संगत नहीं है। मालूम पड़ता है कि, 'आवश्यकचूर्णि' पाठ की ओर उनका ध्यान नहीं गया। अगर गया होता, तो ऐसा अर्थ वे करते। 'आवश्यक-चूर्णि' का पाठ इस रूप में है :—

"...णाते णातपुत्ते णातकुलविणिवट्टे विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिते वज्जरिसभणारायसंघयणे अणुलोमवायुवेगे कंकग्गहणी कवोयपरिणामे।"

—ऋ. के. पेढ़ी. रतलाम-प्रकाशित 'आवश्यक-चूर्णि,' पत्र २४...

इसमें 'विदेह' शब्द अलग होते हुए भी, 'कल्पसूत्र' के टीकाकार ने अर्थ किया है, वह यहाँ पृथक रूप से—

"समचउरंससंठाणसहिते वज्जरिसभणारायसंघयणे"

। शब्दों में निहित है। इससे मालूम पड़ता है, उनका लक्ष्य भगवान् की
न्मभूमि की तरफ—जो मुख्य विषय था—न जाते हुए, उनके मुख्य
क्षणों ('वज्र ऋषभनाराचसंहनन' और समचतुरस्र संस्थान') की
ार अधिक गया।

डाक्टर याकोबी ने 'विदेह' शब्द का अर्थ बहुत ठीक किया है। उन्होंने
क्रेड बुक आव द' ईस्ट' के २२-वें खण्ड के पृष्ठ २५६ पर इसका अर्थ 'विदेह-
सी' लिखा है। परन्तु, 'विदेहजच्चे' का उनका 'विदेह-निवासी' अर्थ ठीक
हीं है। 'विदेहजच्चे' का अर्थ 'विदेह देश में श्रेष्ठ' होना चाहिए—कारण
ह है कि, 'जच्चो जात्यः', का अर्थ 'उत्कृष्टः' होता है (आवश्यक-निर्युक्ति
ारिभद्रीय टीका, पत्र १८३।१)

(ख) अब हम अपने समर्थन में कल्पसूत्र की 'सन्देहविषौषधि-टीका'
जिनप्रभसूरि-कृत) का उद्धरण देते हैं :—

"एतेषां च पदानां कापि वृत्तिर्न दृष्टा, अतो वृद्धाम्नायादन्य-
ापि भावनीयानि" (पत्र ६२)

अर्थात्—'इन पदों की टीका कहीं भी नहीं देखी गयी है, अतः 'वृद्धा-
नाय' से भिन्न भी इसके अर्थ हो सकते हैं।' हमारी धारणा की पुष्टि उप-
क्ति उद्धरण से पूरी-पूरी होती है। इस में सन्देह का किञ्चित् मात्र स्थान
हीं है।

(ग) हमारी मान्यता का समर्थन 'कल्पसूत्र' के बंगला-अनुवाद (वसंत-
कुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०-कृत) से भी होता है। वे लिखते हैं—

"दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श-रूपवान्, आलीन (कूर्मवत् आत्मगुप्त), भद्रक
(सुलक्षण), विनीत, ज्ञात (सुविदित, प्रसिद्ध), ज्ञातिपुत्र, ज्ञातिकुलचन्द्र,
वैदेह, विदेहदत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेहसुकुमार, श्रमण भगवान् महावीर
त्रिशवत्सर विदेहदेशे काटाइया माता पितार देवत्वप्राप्ति हइले गुरुजन ओ
महत्तर गणेर अनुमतिलइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त कारिया छिलेन।"

(कल्पसूत्र, अनुवादक : वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए० कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १६५३, पृष्ठ २७)

इन सब प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि, भगवान् का जन्म विदेह देश में हुआ था—न कि, मगध देश में और न अंग देश में। इसकी पुष्टि दिगम्बर-ग्रंथों से भी होती है।

(४) दिगम्बर-शास्त्रों में भी कुण्डपुर की स्थिति जम्बूद्वीप, भारतवर्ष के विदेह के अंतर्गत वर्णित है :—

(क) उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा
तज्जन्मभक्तिभरतः प्रणतोत्तमाङ्गाः।
घण्टानिनादसमवेतनिकायमुख्याः
दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः॥ १७–६१॥
—महाकवि असग (९८८ ई०)-रचित 'वर्द्धमान-चरित'

(ख) सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः॥४॥
—आचार्य पूज्यपाद (विक्रमी ५-वीं शताब्दी)-रचित 'दशभक्ति', पृष्ठ ११६

(ग) अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रियः॥१॥
तत्राखण्डलनेत्राळीपद्मिनीखण्डमण्डनम्।
सुखांभः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम्॥५॥
—आचार्य जिनसेन (विक्रमी ८-वीं शताब्दी)-रचित 'हरिवंश-पुराण' खण्ड १, सर्ग २।

(घ) ....
भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनाङ्गणे॥२५१॥
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः।
.... ॥२५२॥

आचार्य गुणभद्र (विक्रमी ९-वीं शताब्दी)-रचित 'उत्तर पुराण' पृष्ठ ४६०, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित।

(ङ)..

विदेहविषये कुण्डसञ्ज्ञायां पुरि भूपतिः ॥७॥
नाथो नाथकुलस्यैकः सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक्।
तस्य पुण्यानुभावेन प्रियासीत् प्रियकारिणी ॥८॥

—उपर्युक्त, पृष्ठ ४८२

भगवान् के जन्मस्थान के सम्बन्ध में शंका करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि, दिगम्बर-ग्रंथों में 'कुण्डपुर' शब्द आता है, 'क्षत्रियकुण्ड' नहीं। पर, वस्तुतः तथ्य यह है कि, श्वेताम्बर-ग्रंथों में भी मुख्य रूप से कुण्डपुर ही नाम आता है। उस ग्राम का मुख्य नाम कुण्डपुर ही था—क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड तो उसके दो विभाग थे। श्वेताम्बर-ग्रंथों में कुण्डपुर कितने स्थानों पर आया है, उसकी तालिका हम नीचे दे रहे हैं।

आवश्यक निर्युक्ति—पृष्ठ ६५, श्लोक १८०। पृष्ठ ८३, श्लोक ३०४। पृष्ठ ८६, श्लोक ३२४, ३३३। पृष्ठ ८७, श्लोक ३३६।

कल्पसूत्र सूत्र ९६, १०० (दो बार), १०१, ११५।

आवश्यक सूत्र (हारिभद्रीय टीका) पत्र १६०।२, १८०।१, १८०।१, १८३।१, १८३।१, १८३।२, १८४।१, २१६।२।

महावीर-चरियं—नेमिचन्द्र-कृत, पत्र २६।२ श्लोक ७, ३३।१ श्लोक ६, ३५।२ श्लोक २७, ३६।१ श्लोक ४३।

महावीर-चरियं—गुणचन्द्रगणि-कृत, पत्र ११५।२, १२४।१, १३५।१, १४३।१, १४३।२।

पउमचरियं—विमलसूरि-कृत, उद्देसा २, श्लोक २१।

वराङ्ग-चरितम्—जटासिंह नन्दि-विरचित, पृष्ठ २७२, श्लोक ८५।

आवश्यकचूर्णी पूर्वार्द्ध २४३, २४४, २५० (तीन बार), ... (दो बार), २६५ (तीन बार), २६६ ४१६।

आवश्यकचूर्णी उत्तरार्द्ध १६४।

आवश्यक चूर्णी में कुण्डपुर १३ स्थानों पर आया है, जब कि ... कुण्ड केवल ३ स्थानों पर (पत्र २३६, २४०, २४३) और 'माहण' २ स्थानों पर (पत्र २३६, २४०)। इसी से स्पष्ट है कि, ... मुख्य है।

'आवश्यक निर्युक्ति' (पृष्ठ ८३। श्लोक ३०४) में महावीर स्वामी ... जन्म-स्थान स्पष्टरूप से कुण्डपुर बताया गया है :—

> अह चित्तसुद्धपक्खस्स तेरसीपुव्वरत्तकालम्मि।
> हत्थुत्तराहिं जाओ कुंडग्गामे महावीरो ॥३९४॥

—चैत्र सुदी १३ को मध्य-रात्रि के समय उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में महा... स्वामी का जन्म कुण्डग्राम में हुआ।

इसी प्रकार पृष्ठ ६५ पर भी जहाँ तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ ... गयी हैं, वहाँ भी श्लोक १८० में महावीर स्वामी का जन्मस्थान कुण्डपुर लिखा है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि, भगवान् महावीर का जन्म ... नामक ग्राम में हुआ। उसका उत्तर भाग 'क्षत्रिय कुण्ड' और दक्षिण ... 'ब्राह्मण कुण्ड' के नाम से विख्यात था। और, वह मज्झिम देश तथा वि... के अंतर्गत था। हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि, मज्झिम देश आर्या... का नामान्तर मात्र है। इसी के अन्तर्गत विदेह देश है। और, कुण्डपुर ... विदेह का एक नगर था।

भगवान् को शास्त्रों में 'वेसालिय' कहा गया है। अतः इससे ... है कि, वैशाली देश अथवा नगर से उनका सम्बन्ध होना आवश्यक है। ... चूँकि अब वैशाली की स्थिति स्पष्ट है, अतः उसके सम्बन्ध में किसी ... रूप में शंका करने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

ँ अब हम 'वेसालिय' शब्द पर विचार करेंगे। क्योंकि, कुछ लोग 'वेसा-
ाय' शब्द के कारण भगवान् का जन्म-स्थान वैशाली नगर मानते हैं।
'शालिक' शब्द पर प्राचीन टीकाकारों ने भी विचार किया है—

(१) विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा
विशालं प्रवचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः ॥

—सूत्रकृतांङ्ग शीलांकाचार्य की टीका, अ० २, उद्दे० ३, पत्र ७८-१।

ाकी माता विशाला हैं, जिन्होंने विशाल राजा के कुल में जन्म लिया है,
ाके वचन विशाल हैं, वह वैशालिक कहलाते हैं।

(२) 'वेसालिअसावए' त्ति—विशाला—महावीर-जननी तस्या, अपत्यं
ते वैशालिको भगवान्, तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति
ालिक श्रावकः

—भगवतीसूत्र, अभयदेव सूरि-कृत टीका
भाग १, शतक २, उद्देश १, पृष्ठ २४६
—भगवतीसूत्र, दानशेखर गणिकृत-टीका, पृष्ठ ४४

विशाला (त्रिशला) महावीर स्वामी की माता थीं। इससे (विशाला के
होने के कारण) वे 'वैशालिक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके रसपूर्ण
न को जो सुनता है, वह वैशालिक-श्रावक है।

(३) विशालकुलोद्भवत्वाद् वैशालिकः

—सूत्रकृताङ्ग—शीलङ्काचार्य की टीका, पृष्ठ ७८-१

विशाल कुल में उत्पन्न होने से भगवान् महावीर का नाम वैशालिक पड़ा।
यहाँ 'कुल' से तात्पर्य जनपद से है (अमरकोष, निर्णय सागर प्रेस,
२५०) अतः 'विशालकुलोद्भवत्वाद्' का अर्थ हुआ—

विशालदेशोद्भवत्वाद् वैशालिकः

—विशाल देश में उत्पन्न होने से भगवान् का नाम वैशालिक पड़ा।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि, भगवान का नाम 'वैशालिक' होने से यह
द नहीं होता कि, उनका जन्म विशाला नगरी में हुआ था। जिस प्रकार

'वैशाली' नाम की नगरी थी, ठीक उसी प्रकार 'वैशाली' के नाम से वह
पद भी विख्यात था। और, उस देश के निवासी 'वैशालिक' कहे जाते

वह जनपद अथवा देश भी वैशाली कहा जाता था, हमारे इस मत
समर्थन में कितने ही प्रमाण उपलब्ध हैं।

(१) अम्बपाली गणिका लिच्छवियों से सभिक्षुसंघ बुद्ध को लि
अपने निमंत्रण को अपने लिए करवाने के लिए प्रार्थित होकर उनसे
में कहती है—

सचे'पि मे अय्यपुत्ता वेसालिं साहारं दस्सथ एवंमहन्तं भ
दस्सामी'ति'

'आर्य पुत्रो! यदि वैशाली जनपद भी दो, तो भी इस महान
(भोजन) को न दूंगी।"

—दीघनिकाय, महापरिनिब्बान-सुत्त, पृष्ठ १
(महाबोधि-ग्रन्थमाला, पुष्प ४, १९३६ ई

(२) इसी प्रकार प्रसिद्ध चीनी-यात्री युवान् च्वाङ् अपने यात्रा
में लिखता है :—

"वैशाली-देश की परिधि ५००० ली से भी अधिक है (१)

(३) महावस्तु भाग १, पृष्ठ २५४ में "वैशालकानां लिच्छवीनां
का प्रयोग हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि, 'वैशाली' देश का नाम भी था।

(३) पार्जिटर ने लिखा है :—

"राजा विशाल ने विशाला अथवा वैशाली नगरी को बसाया और
धानी बनायी।...यह राज्य भी वैशाली ही कहा जाता था और राजा
लिक राजा कहे जाते थे। यह 'वैशालिक' शब्द उस युग में उत्पन्न
लिए प्रयुक्त होता था। (२)

१—'बुद्धिस्ट रेकार्ड आव वेस्टर्न इंडिया' खण्ड २, पृष्ठ ६६।

२—'एंशेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन', पृष्ठ ९७।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि, 'वैशालिक' नाम के कारण भगवान् महावीर का जन्म-स्थान वैशाली नगर मानना पूर्णतः त्रुटिपूर्ण होगा। और, हम ऊपर शास्त्रीय प्रमाणों से यह बात भी सिद्ध कर आये हैं कि, भगवान् का जन्म वैशाली देश में, कुण्डपुर के 'क्षत्रियकुण्ड-सन्निवेश' में हुआ था। यह कुण्डपुर वैशाली का उपनगर नहीं था; बल्कि एक स्वतंत्र नगर था।

अब हमें कुण्डपुर के ब्राह्मण-कुण्ड सन्निवेश और क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश की भी स्थिति समझ लेनी चाहिए। ब्राह्मणकुण्ड क्षत्रियकुण्ड के निकट था और दोनों के बीच में बहुशाल चैत्य था। एक बार भगवान् विहार करते हुए ब्राह्मणकुण्ड आये और गाँव के निकट बहुशाल-चैत्य में ठहरे थे। यह कथा भगवती-सूत्र के शतक ९, उद्देश्य ३३ में वर्णित है। उसमें उल्लेख हैं :

"तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे नामे नयरे होत्था !" (भगवती सूत्र, भाग ३, पृष्ठ १६५)

—ब्राह्मणकुण्ड ग्राम की पश्चिम दिशा में, क्षत्रियकुण्ड ग्राम में जमालि नामक क्षत्रियकुमार रहता था। जब भगवान् के बहुशाल-चैत्य में पहुँचने की सूचना क्षत्रियकुण्ड में पहुँची, तो वहाँ से एक बड़ा जनसमूह क्षत्रियकुण्ड के बीच से होता हुआ, ब्राह्मणकुण्ड की ओर चला। जहाँ बहुशाल चैत्य था, वहाँ आया। इस भीड़ को देखकर जमालि भी वहाँ आया। 'भगवती-सूत्र' में लिखा है :—

"जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव माहणकुंडग्गामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए...." (पृष्ठ १६७)

भगवान् के प्रवचन से जमालि के हृदय में दीक्षा लेने की इच्छा हुई। इसलिए अपने माता-पिता से आज्ञा लेने के बाद एक विशाल जनसमूह के साथ—

सत्थवाहप्पभियओ पुरओ संपट्ठिया खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झं

मज्झेणं जेणेव माहणकुण्डग्गामे नयरे, जेणेव बहुसालए चेइए, समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।" (पृष्ठ १७७)

—क्षत्रियकुण्ड के बीचो-बीच से निकल कर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम की बहुशाल चैत्य में—जहाँ महावीर स्वामी थे—वहाँ (जमालि) आया।

इससे स्पष्ट है कि, ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड एक दूसरे के निकट थे।

इस क्षत्रियकुण्ड ग्राम में 'ज्ञातृ' क्षत्रिय रहते थे। इस कारण बौद्ध... में इसका 'ज्ञातिक' 'ञातिक' अथवा 'नातिक' नाम से उल्लेख हुआ है 'नातिक' के अतिरिक्त कहीं-कहीं 'नादिक' शब्द भी आया है।

(१) 'संयुक्त-निकाय' की बुद्धघोष की 'सारत्थप्पकासिनी-टीका' ... आया है—

"ञातिकेति द्विन्नं ञातकानं गामे"

(२) 'दीघनिकाय' की 'सुमंगल-विलासिनी-टीका' में लिखा है :—

नादिकाति एतं तळाकं निस्साय द्विण्णं चुल्लपितु महापितुपुत्तानं गामा। नादकेति एकस्मिं ञातिगामे।"

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि, 'ञातिक' और 'नादिक' दोनों एक ही ... के नाम हैं। ज्ञातृयों की बस्ती होने के कारण यही ज्ञातिग्राम अथवा 'ञातिक' कहलाया और तड़ाग (तालाब) के निकट होने से यही 'नादिक' नाम से विख्यात हुआ।

'नातिक' की अवस्थिति के सम्बन्ध में 'डिक्शनरी' आफ पाली प्रापर नेम्स' में उल्लेख आया है कि, वज्जी देश के अन्तर्गत वैशाली और ... के बीच में यह स्थान स्थित था (¹)। उसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड पृष्ठ ७१ पर 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के अनुसार राजगृह और कपिलवस्तु के बीच के आये स्थानों को इस प्रकार गिनाया गया है :—"कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन दूर था। राजगृह से कुशीनारा २५ योजन की दूरी पर था। यह...

१—'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', खण्ड १, पृष्ठ ६७६

रिनिब्बान-सुत्त में उन स्थानों के नाम आये है, जहाँ बुद्ध अपनी अन्तिम यात्रा में ठहरे थे। उनका क्रम इस प्रकार है :—

"अम्बलत्थिका, नालन्दा, पाटलीग्राम, (जहाँ बुद्ध ने गङ्गा पार की), कोटिगाम, नादिका, वेसाली, भण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बूगाम, भोगनगर, पावा। फिर ककुत्थ नदी—जिसके उस पार आम तथा साल के बाग थे। ये बाग मल्लों के थे।"

बुद्ध की इस अन्तिम यात्रा से स्पष्ट है कि, कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) अथवा नातिक वज्जी (विदेह) देश के अंतर्गत था। 'महापरिनिब्बान-सुत्त' के चीनी-संस्करण में इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट है। उस में लिखा है कि, यह वैशाली से ७ 'ली' की दूरि पर था। (१)

कनिंघम ने अपने ग्रंथ 'ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इंडिया' में लिखा है कि, एक ली = १/६ मील। (२) अतः कहना चाहिए कि वैशाली और कुण्डग्राम के बीच की दूरि १ १/६ मील थी। (३)

१—'साइनो-इंडियन-स्टडीज', वाल्यूम १। भाग ४, पृष्ठ १६५। जुलाई १९४५, 'कम्परेटिव स्टडीज इन द' परिनिब्बान सुत्त ऐंड इटस् चाईनीज वर्जन, फाच-लिखित।

२—'ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इंडिया', पृष्ठ ६५८

३—इस नादिक अथवा नातिक ग्राम का उल्लेख ९-वीं शताब्दी तक मिलता है। सुवर्ण दीप के राजा वालपुत्र ने दूत भेजकर देवपाल से नालंदा में निर्मित अपने विहार के लिए पांच गांव देने का आग्रह किया। अनुरोध को स्वीकार कर के देवपाल ने जो पांच गांव दिये थे, उनमें नाटिका और हस्तिग्राम भी थे। 'मेमायर्स आव द' आर्कालाजिकल सर्वे आव इंडिया' संख्या ६६ 'नालंदा एण्ड इट्स इपीग्राफिक मिटीरियल, में हीरानन्द शास्त्री ने इन गांवों की पहचान गंगा के दक्षिण में की है। पर, यह उनकी भूल है। ये गांव गंगा के उत्तर में स्थित थे।

क्षत्रियकुण्ड के वज्जी देश में होनेवाली मेरी स्थापना की पुष्टि ऐतिहासिक प्रमाणों से और पुरातत्त्व विभाग के प्रमाणों से होती है।

इन प्रमाणों द्वारा भगवान् महावीर के जन्मस्थान की सिद्धि कर के बाद, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती लिछुआड़ के निकट स्थित क्षत्रियकुण्ड, जो आजकल भगवान् महावीर जन्मभूमि मानी जाती है, स्थापना-तीर्थ मात्र है—भगवान् का जन्मस्थान नहीं है। और, जो लोग यह कहकर कि, भगवान् बोलते थे, उन्हें मगधवासी सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, वे नितान्त पर हैं; क्योंकि अर्द्धमागधी तो उस समय सम्पूर्ण २५॥ आर्यदेशों की थी। सिद्ध है कि, सभी देशों में अर्द्धमागधी-भाषा और ब्राह्मी-लिपि थी। बुद्ध शाक्य-देश के वासी थे; पर वे भी मागधी में ही उपदेश थे।[1] अतः भाषा को आधार मानकर इन शास्त्रीय तथा को गलत सिद्ध करने की चेष्टा कुचेष्टा मात्र कही जायेगी।

शास्त्रों में भगवान् को विशाल राजा के कुल का कहा गया है। राजा वैशाली के राजा थे। अतः भगवान् को वैशाली से हटाकर सम्बद्ध करना पूर्णत. भ्रामक है।

लिछुआड़ से क्षत्रियकुंड जाने का मार्ग भी पहले नहीं था। पहले मथुरापुर होकर क्षत्रियकुंड जाया करते थे।[2] यह मार्ग तो १८७४ ई० मुर्शिदाबाद वाले रायबहादुर धनपतसिंह के (लिछुआड़ में) मन्दिर धर्मशाला बनवाने के बाद बना।[3]

लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी, लिछुआड़ नहीं। लिछुआड़ लिच्छिवियों से सम्बद्ध करना सिद्ध-इतिहास के पूर्णतः विरुद्ध है। लिछुआ

१— 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स', भाग २, पृष्ठ ४०४.

२— प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग १ में, संकलित (१७५० वि सौभाग्य विजय-रचित तीर्थमाला।

३— मुंगेर जिला गजेटियर, पृष्ठ २२८।

और निकट की बहुआर नदी लम्बाई में ८-६ मील मात्र है।[१] उसकी गण्डकी से क्या तुलना की जा सकती है—जो १६२ मील लम्बी है।

एक लेखक ने लिखा है कि, गिद्धौर-नरेश अपने को राजा नन्दिवर्द्धन (महावीर स्वामी के सांसारिक बड़े भाई) का वंशज बताते हैं।[२] यह भी तथ्यों के पूर्णतः विपरीत स्थापना है। गिद्धौर के वर्तमान नरेश की वंश-परम्परा के सम्बन्ध में उल्लेख आया है :—

"यहाँ एक बहुत पुराने घराने के राजपूत जमींदार रहते हैं। इनके पूर्वज पहले बुन्देलखंड के महोवा राज्य के स्वामी थे। इनको दिल्ली के अन्तिम हिन्दू-राजा पृथ्वीराज ने हराया था। मुसलमानों से खदेड़े जाने पर ये लोग मिर्जापुर आये। यहाँ से वीर विक्रमशाह ने आकर मुंगेर जिले में अपना राज्य कायम किया। शुरू में इन लोगों ने खैरा पहाड़ी के पास अपना किला बनवाया, जहाँ अब भी उसके चिह्न मौजूद हैं।"[३]

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने 'हिन्दू भारत का उत्कर्ष' नामक ग्रन्थ में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है।[४]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि, वर्तमान गिद्धौर-नरेश के पूर्वज बुन्देलखंड के चन्देल थे। वे चन्द्रवंशी थे। उनका गोत्र चन्द्रात्रेय था। उनकी राजधानी परपंडा[५] नहीं, पटसंडा[६] थी, और भगवान् के सम्बन्ध में जो शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनके पूर्वज कोशल-देशवासी थे, उनकी पहले की राजधानी अयोध्या थी और उनका गोत्र काश्यप था। कल्पसूत्र में आता है :—

१—मानचित्र ७२ L—१।
२—क्षत्रियकुंड, पृष्ठ ९।
३—मुंगेर-जिला-दर्पण, पृष्ठ ४५-४६
४—हिंदूभारत का उत्कर्ष, पृष्ठ ६३।
५—क्षत्रियकुण्ड, पृष्ठ ९।
६—मानचित्र ७२।एल। १

"नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तिअस्स कासवगुत्तस्स"

—श्री कल्पसूत्र, सूत्र २६,

उनका वंश ज्ञातृवंश था, जो कि, इक्ष्वाकु-वंश का ही नामान्तर है। 'ज्ञातृवंश' का अर्थ आवश्यक चूर्णि में 'वृषभ स्वामी के परिवार के लोग' किया गया है।

णाता णाम जे उसभसामिस्स सयणिज्जगा ते णातवंसा।

—आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र २४५।

जिनप्रभसूरि कृत 'कल्पसूत्र' की 'सन्देह-विषौषधि-वृत्ति' (पत्र ३०, ३१) में भी इसका यही अर्थ किया गया है :—

"तत्र ज्ञाताः श्रीऋषभस्वजनवंशजाः इक्ष्वाकु-वंश्या एव" "ज्ञाता इक्ष्वाकुवंशविशेषाः।"

कुछ भ्रान्त धारणाएँ

डाक्टर हार्नेल तथा डाक्टर याकोबी ने जैनशास्त्रों की विवेचना करते हुए कुछ भ्रान्त धारणाओं की स्थापनाएँ की हैं। डाक्टर हार्नेल के मतानुसार—

(१) वाणियागाम (संस्कृत–वाणिज्यग्राम) यह वैशाली के नाम से प्रसिद्ध नगर का दूसरा नाम था।

—'महावीर तीर्थंकर नी जन्मभूमि' (डा० हार्नेल का लेख)
जैन-साहित्य-संशोधक खण्ड १, अंक ४, पृष्ठ २१८।

(२) कुण्डग्राम नाम भी वैशाली का ही था और वैशाली ही भगवान् की जन्मभूमि थी।

—डाक्टर हार्नेल का उपर्युक्त लेख

(३) सन् १६३० में डाक्टर याकोबी ने एक लेख लिखा था कि, शाली,—मूल वैशाली, वाणियागाम और कुण्डगाम—इन तीनों का मूह था। कुण्डगाम में कोल्लाग नामक एक मुहल्ला था।

—भारतीय विद्या (सिंघी-स्मृति-ग्रन्थ), पृष्ठ १८६

(४) इस कोल्लाग-सन्निवेश से सम्बद्ध, परन्तु उससे बाहर, द्विपलाश नाम का एक चैत्य था। साधारण चैत्य की भाँति उसमें एक चैत्य और उसके आसपास उद्यान था। इस कारण से विपाकसूत्र (१, २) में उसे 'दूइपलास-उज्जाण' रूप में लिखा गया है। और, यह नायकुल का ही था, इसलिए उसका 'नायसण्डवणे उज्जाणे' अथवा 'नायसण्डे उज्जाणे' इत्यादि रूप में (कल्पसूत्र ११५ और आचाराङ्ग २; १५; सू० २२) वर्णन किया गया है।

—जैन-साहित्य-संशोधक, खण्ड १, अंक ४, पृष्ठ २१६।

(५) महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डग्राम अथवा वैशाली नगर के कोल्लाग नाम के मोहल्ले में बसनेवाली 'नाय' जाति के क्षत्रियों के मुख्य सरदार थे!...सिद्धार्थ का कुण्डपुर अथवा कुण्डग्राम के राजा के रूप में सर्वत्र वर्णन नहीं किया गया है, अपितु इसके विपरीत सामान्य-रूप में उन्हें साधारण क्षत्रिय- (सिद्धत्थे खत्तिये) रूप में वर्णन किया है, जो एक-दो स्थानों पर उन्हें राजा (सिद्धत्थे राया) रूप में लिखा है, उसे अपवाद ही समझना चाहिए।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख

(ख) सिद्धार्थ एक बड़ा राजा नहीं, अपितु अमीर मात्र था।

—डाक्टर हर्मन याकावी-लिखित 'जैन सूत्रो नी प्रस्तावना' अनुवादक शाह अम्बालाल चतुरभाई, 'जैन-साहित्य-संशोधक' खण्ड १, अङ्क ४, पृष्ठ ७१।

(६) महावीर की जन्मभूमि कोल्लाग ही थी, और इसी कारण से उन्होंने जब संसार त्यागा तब स्वाभाविक रीति से ही अपनी जन्मभूमि के पास स्थित द्विपलाश नाम के अपने ही कुल के चैत्य में जाकर रहे। (देखो, कल्पसूत्र ११५-११६)

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख।

(७) उन (सिद्धार्थ) की पत्नी का नाम त्रिशला था। उनका भी उल्लेख क्षत्रियाणी के रूप में किया गया है। जहाँ तक मुझे स्मरण है उन्हें देवी-रानी कहीं नहीं लिखा गया है।

—डाक्टर याकोबी का उपर्युक्त लेख

(८) (क) सन्निवेश से तात्पर्य मुहल्ले से है।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख

(ख) कुण्डग्राम को आचाराङ्ग में एक 'सन्निवेश' रूप में लिखा गया है जिसका अर्थ टीकाकारों ने 'यात्री अथवा काफिले (सार्थवाह) का विश्राम-स्थान' किया है।

—डाक्टर याकोबी का लेख

(९) 'उवासगदसाओ' में सूत्र ७७ और ७८ में वाणियागाम के प्रसङ्ग में प्रयुक्त 'उच्चनीचमज्झिमकुलाइं'—ऊँच, नीच, और मध्यमवर्ग वाला—विशेषण दुल्व (राकहिल-लिखित 'लाइफ आव बुद्ध,' पृष्ठ ६२) में आये हुए निम्नलिखित वर्णन से मिलता है—"वैशाली के तीन विभाग थे, जिसमें पहले विभाग में सुवर्ण कलश वाले ७००० घर थे, बीच के विभाग में रजत कलश वाले १४००० घर थे और अन्तिम विभाग में ताम्रकलश वाले २१००० घर थे। इन विभागों में ऊँच, मध्यम और नीच वर्ग के लोग क्रम से रहते थे।

—डाक्टर हारनेल का उपर्युक्त लेख

परन्तु, डा० हारनेल और डा० याकोबी दोनों की ही ... शास्त्रों से मेल नहीं खातीं। शास्त्रों के प्रमाणों को यहाँ उपस्थित करके, ... उपयुक्त टिप्पणियों की छान-बीन करेंगे।

(१) 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्' में भगवान् के वैशाली से वाणिज्यग्राम की ओर जाने का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि, दोनों पृथक्-पृथक् नगर थे।

नाथोऽपि सिद्धार्थपुराद् वैशालीं नगरीं ययौ।
शंखः पितृसुहृत्तत्राभ्यानर्च गणराट् प्रभुम्॥ १३८॥

ततः प्रतस्थे भगवान् ग्रामं वाणिजकं प्रति ।
मार्गे गंडकिकां नाम नदीं नावोत्ततार च ॥ १३९ ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, पत्र ४५

-अर्थात् भगवान् वैशाली से वाणियागाम की ओर चले और रास्ते में उन्हें गण्डकी नदी को पार करना पड़ा।

(२)-(३) ऊपर हमने सप्रमाण यह स्थापना की है कि, वैशाली ब्राह्मण-कुण्ड, क्षत्रियकुण्ड गण्डकी के पूर्वी तट पर थे और कर्मारग्राम, कोल्लाग सन्निवेश, वाणिज्यग्राम और द्विपलाश चैत्य पश्चिमी तट पर।[1] ये वस्तुतः एक ही नगर के भिन्न-भिन्न नाम नहीं थे। स्थान-स्थान पर भगवान् का एक नगर से दूसरे नगर में जाने का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं दो नगरों का नाम एकत्र आया भी है, तो उसे वर्तमान प्रयोग की भाँति समझना चाहिए—जैसे हम भाषा में कह देते हैं—दिल्ली–आगरा, जयपुर–जोधपुर, लाहौर–अमृतसर, बनिया-बसाढ़। यहाँ इकट्ठे इस प्रयोग का अभिप्राय उनकी निकटता बताना मात्र होता है।

(४) डा० हार्नेल ने कोल्लागसन्निवेश के निकट एक द्विपलाश चैत्य उद्यान (दूइपलास उज्जाण) बताया है और उस पर नाय-कुल का अधिकार बताया है। डाक्टर साहब की सम्मति में 'नायसण्ड उज्जाण' और 'दूइ-

---

१– 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक पुस्तक के पृष्ठ ५ पर स्थिति इस प्रकार बताई गयी है—"वैशाली के पश्चिम परिसर गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम तट पर स्थित ब्राह्मणकुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, और कोल्लागसन्निवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे। हमारी सम्मति में यह स्थिति ठीक नहीं है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने 'धर्म और दर्शन' में पृष्ठ ८५ पर इसी मान्यता को दोहराया है। मेरे विचार में उन्होंने भी "श्रमण भगवान् महावीर" के लेखक का ही अनुसरण किया है।

पलास उज्जाण' एक ही थे। डाक्टर साहब ने जिन ग्रन्थों के प्रमाण दि उनके अनुसार 'दूइपलास उज्जाण' तो वाणिज्यग्राम के उत्तर-पूर्व में था 'नायसण्ड उज्जाण' (ज्ञातखण्डवन उद्यान) कुण्डपुर (क्षत्रियकुण्ड) बाहर था।

(क) विपाकसूत्र में लिखा है—

तस्स णं वाणियगामस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए दूईपलासे ना उज्जाणे होत्था।

—विवागसुयं, पृष्ठ

(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका (निर्णयसागर प्रेस) पत्र २८१ में लिखा है–

कुण्डपुरं नगरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव नायसंडवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि, 'नायसंडवण' और 'दुइपलासउज्जाण' दोनों भिन्न-भिन्न थे।

(५) डाक्टर हार्नेल और डाक्टर याकोबी दोनों ने ही सिद्धार्थ को राजा न मान कर 'अमीर' अथवा 'सरदार' माना है। उनका विचार है कि,दो-एक स्थानों के अतिरिक्त ग्रंथों में सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। परन्तु, इसके विपरीत जैन-ग्रंथों में न केवल सिद्धार्थ को राजा कहा गया है, अपितु उसके अधीनस्थ अन्य कर्मचारियों का भी वर्णन किया गया है—'कल्पसूत्र' में लिखा है—

"तएणं से सिद्धत्थे राया तिसलाए खत्तियाणीए..."

इसमें सिद्धार्थ को राजा बतलाया गया है (कल्पसूत्र, सूत्र ५१) आगे चलकर सूत्र ६२ में लिखा है—

"कप्परुक्खए विव अलंकियविभूसिए नरिंदे, सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं मंगलजयसद्दकयालोए अणेगगणनायग – दंडनायग – राईसर – तलवर-

डंबिय-कोडुम्बिय-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-
ीढमद्द-नगर-निगमसिट्ठि-सेणावइ - सत्थवाह - दूअ - सन्धिवाल-
द्धिं संपुरिवुडे..."

इसका अभिप्राय यह है कि, राजा सिद्धार्थ कल्पवृक्ष की भाँति मुकुटवस्त्र ादि से विभूषित 'नरेन्द' थे (प्राचीन साहित्य में 'नरेन्द्र' शब्द का प्रयोग राजाओं के लिए हुआ है ।) उनके नीचे निम्नलिखित पदाधिकारी थे :—

१. गणनायक	२. दण्डनायक	३. युवराज	४. तलवर
५. माडम्बिक	६. कौटुम्बिक	७. मंत्री	८. महामंत्री
६. गणक	१०. दौवारिक	११. अमात्य	१२. चेट
१३. पीठमर्द्दक	१४. नागर	१५. निगम	१६. श्रेष्ठी
१७. सेनापति	१८. सार्थवाह	१६. दूत	२०. सन्धिपाल

इन लोगों से राजा सिद्धार्थ परिवृत्त था । आवश्यकचूर्णि में भी यही वर्णन मिलता है ।

यदि डाक्टर याकोबी के मतानुसार सिद्धार्थ केवल 'उमराव' होते, तो उनके लिए 'श्रेष्ठी' शब्द का प्रयोग किया जाता, न कि, 'नरेन्द्र' का ।

'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ साधारण 'क्षत्रिय' के अतिरिक्त 'राजा' भी होता है । इसकी पुष्टि टीकाकारों और कोषों से भी होती है । 'अभिधान-चिन्तामणि' में आता है—

"क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसंभवः ।'[१]

सिद्ध है कि 'क्षत्रिय', 'क्षत्र' आदि शब्दों का प्रयोग राजा के लिए भी होता है ! 'प्रवचन सारोद्धार' सटीक में एक स्थान पर आता है— 'महसेणे य खत्तिए'[२] इस पर टीकाकार ने लिखा है—चन्द्रप्रभस्य महासेनः क्षत्रियो राजा"[३] । इससे स्पष्ट है कि, प्राचीन परम्परा में 'राजा' के स्थान

१—अभिधानचिन्तामणि सटीक, पृष्ठ—३४४

२—प्रवचन सारोद्धार सटीक, पत्र ८४

३—वही सटीक, पत्र ८४

पर ग्रन्थकार 'क्षत्रिय' शब्द का भी प्रयोग करते थे। हमारे इस मत की पुष्टि 'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इण्डिया' में डाक्टर विमलचरण लाने भी की है-

"पूर्वमीमांसा-सूत्र (द्वितीय भाग) की टीका में शबर स्वामी ने लिखा है—"राजा' तथा 'क्षत्रिय' शब्द समानार्थी हैं। टीकाकार के समय में आन्ध्र के लोग 'क्षत्रिय' के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग करते थे।[1]"

'निरयावलियो' (पृष्ठ २७) के अनुसार वज्जी-गणसङ्घ का प्रमुख राजा चेटक था ! इसकी सहायता के लिए सङ्घ में से ६ लिच्छिवी और ६ मल्ल (शासनकार्य चलाने के लिए चुन लिये) जाते थे। ये 'गणराजा' कहलाते थे। इस गणसङ्घ में—जातकों के अनुसार—७७०७ सदस्य थे, जो 'राजा' कहलाते थे। उनमें से प्रत्येक के उपराज, सेनापति, भाण्डागारिक ('स्टोरकीपर'–संग्रहागारिक) भी थे।

"तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसन्तानं येव राजूनं सत्त सहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होंति, तत्तका, येव उपराजानो, तत्तका सेनापतिनो तत्तका भंडागारिका।"

—जातकट्ठकथा, पृष्ठ–३३६ (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)

इन्हीं ७७०७ राजाओं में से एक राजा सिद्धार्थ भी थे।

(६) डाक्टर हारनेल का मत है कि, कोल्लागसन्निवेश भगवान् महावीर का जन्मस्थान था। वे कोल्लाग को वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं, इसलिए वे वैशाली को भगवान् का जन्मस्थान मानते हैं। परंतु, ऊपर हम इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर चुके हैं कि, कोल्लाग और वैशाली दो भिन्न-भिन्न स्थान थे—एक दूसरे के निकट अवश्य थे। भगवान् की जन्मभूमि न तो कोल्लाग थी और न वैशाली थी। ऊपर हम शास्त्रों का प्रमाण देकर यह सिद्ध कर चुके हैं कि, भगवान् की जन्मभूमि 'कुण्डपुर' थी। यहीं भगवान् ने ३० वर्ष की उम्र तक जीवन विताया था। इस नगर से बाहर स्थित नायसण्डवण में भगवान् ने दीक्षा ली। यहाँ से थलमार्ग से वे (पुलमार्ग से)

१–'ट्राइब्स इन ऐंशेंट इंडिया', पृष्ठ ३२२।

र्मारग्राम पहुँचे। यहीं रात्रि बितायी। अगले दिन प्रातःकाल कर्मारग्राम से रहार करके कोल्लागसन्निवेश में गये।

डाक्टर साहब की भ्रांति का कारण सम्भवतः यह है कि, कुंडपुर में भी ातृकुल के क्षत्रिय रहते थे। और, कोल्लाग में भी ज्ञातृकुल के क्षत्रिय रहते । इसीलिए उन्होंने दोनों को एक समझ कर इस रूप में उनका वर्णन र दिया।

(७) डाक्टर याकोबी का मत है कि, त्रिशला माता को जैनग्रन्थों में र्वत्र क्षत्रियाणी-रूप में लिखा गया है—देवी-रूप में नहीं। हम ऊपर यह ता चुके हैं कि, कोशकारों और टीकाकारों ने 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ 'राजा' केया है। उसी के अनुसार 'क्षत्रियाणी' शब्द का अर्थ 'रानी' अथवा 'देवी' भी होगा। सामान्यतः भारतीय शब्द-प्रयोग-परम्परा यह है कि, क्षत्रिय-वंश से सम्बद्ध होने के कारण ही, नाम के पीछे पुनः-पुनः 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु, यदि क्षत्रिय-वश से सम्बन्वित होने पर जब कोई वीरोचित कार्य करता है, अथवा राजकुल से सम्बद्ध होता है, तो कहा जाता है कि, 'क्षत्रिय ही तो है'। उसके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी कह देना चाहता हूँ कि, जैन-ग्रंथों में कितने ही स्थलों पर त्रिशला माता का उल्लेख 'देवी'-रूप में हुआ है। 'क्षत्रियकुंड' वाले प्रकरण में हमने पूज्यपाद-विरचित 'दशभक्ति' का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें त्रिशला माता के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह पंक्ति इस प्रकार है—

'देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः'

अन्य ग्रंथों मे भी माता त्रिशला के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग हुआ है। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

(क) दधार त्रिशलादेवी मुदिता गर्भमद्भुतम् ॥२३॥
(ख) उपसृत्यागतो देव्याश्चावस्वापनिकां ददौ ॥४४॥
(ग) देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः ॥४५॥

(घ) उवाच त्रिशलादेवी सदने नस्त्वमागमः॥ १४१॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग

× × ×

(क) तस्स घरे तं साहर तिसलादेवीए कुच्छिंसि ॥ ५१॥

(ख) सिद्धत्थो य नरिन्दो तिसिलादेवी य रायलोओ य ॥६८॥

नेमिचन्द्र सूरि-रचित महावीरचरियं, पत्र २८, तथा ३३।

(८) डाक्टर हारनेल ने 'सन्निवेश' का अर्थ 'मुहल्ला' लिखा है और डाक्टर याकोबी ने उसका अर्थ 'पड़ाव' किया है। यहाँ दोनों ने ही इस शब्द का अर्थ भ्रामक रूप में दिया है; क्योंकि 'सन्निवेश' शब्द के जहाँ बहुत से अर्थ हैं, वही एक अर्थ 'ग्राम' भी है।

(क) 'पाइअसद्दमहण्णव' के पृष्ठ १०५४ पर 'सन्निवेश' के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं:—

(१) नगर के बाहर का प्रदेश (२) गाँव, नगर आदि स्थान (३) यात्रियों का डेरा (४) ग्राम, नगर आदि (५) रचना, आदि

(ख) भगवती-सूत्र सटीक, प्रथम खण्ड (पृष्ठ ८५) में 'सन्निवेश' शब्द का अर्थ निम्नलिखित-रूप में किया गया है:—

सन्निवेशो घोषादिः एषां द्वन्द्वस्ततस्तेषु, अथवा ग्रामादयो सन्निवेशास्ते तथा तेषु।'

(ग) 'निशीथचूर्णि' में सन्निवेश का अर्थ दिया गया है—

"सत्थावासणत्थाणं सण्णिवेसो गामो वा पीढितो संनिविजतागतो वा लोगो सन्निविट्ठो सो सण्णिवेसं भण्णति।"

—अभिधानराजेन्द्र, भाग सप्तम (पृष्ठ

(घ) बृहत्कल्पसूत्र (सटीक) विभाग २, पत्र ३४२–३४५ पर सन्निवेश का अर्थ दिया गया है:—

"निवेशो नाम यत्र सार्थ आवासितः, आदि ग्रहणेन ग्रामो अन्यत्र प्रस्थितः सन् यत्रान्तरावासमधिवसति यात्रीयां वा गतो लो यत्र तिष्ठति, एष सर्वोऽपि निवेश उच्यते।"

---

(१)—'श्री महावीर-कथा' (सम्पादक : गोपालदास जीवाभाई पटेल) पृष्ठ ७६ से ८५ के बीच डाक्टर हारनेल के आधार पर राजा सिद्धार्थ सामान्य क्षत्रिय बताते हुये भी, उनके राजत्व को स्वीकार कर लिया। (देखिए [पृष्ठ ७६)। इसी प्रकार विदेह, मिथिला, वैशाली और णिज्यग्राम को एक मान लिया है। इसका प्रतिवाद ऊपर कर दिया गया है। पृष्ठ ८१ पर 'कुल' का अर्थ 'घर' किया है, जो ठीक नहीं है। 'कुल' का अर्थ 'घराना' होगा, 'घर' नहीं। पृष्ठ २८६ पर आनन्द को ज्ञातृकुले का लिखा गया है, जो कि नितान्त भ्रामक है। आनन्द 'कौटुम्बिक' था, न कि 'ज्ञातृक'। बिना आगे-पीछे का विचार किये लिखने में ऐसी भूलों की आशंका पग-पग पर रहती है। उनके हर अनुवाद ऐसी भूलों से भरे पड़े है।

(६) 'उवासगदसाओ' में प्रयुक्त

'उच्चनीचमज्झिमकुलाई'

के आधार पर डाक्टर हारनेल ने वाणिज्यग्राम के तीन विभाग करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार 'दुल्व' में आये वैशाली के वर्णन के साथ उसका मेल बैठने का प्रयत्न करके, वैशाली और वाणिज्यग्राम को एक बताने की चेष्टा की है। जैन-साधुओं के लिए नियम है कि, साधु कहीं भी—ग्राम, नगर, सन्निवेश या कर्बट आदि में—भिक्षार्थ जावे, वहाँ बिना वर्ग और वर्ण-विभेद के ऊँच, नीच और मध्यम कुलों मे भिक्षा ग्रहण करे। जिन प्रकरण को डाक्टर साहब ने उद्धृत किया है, वहाँ भी भगवान् ने गौतम स्वामी को भिक्षा के लिए अनुज्ञा देते हुए ऊँच, नीच और मध्यम सभी वर्गों में भिक्षा-ग्रहण का आदेश दिया है। 'दशवैकालिक सूत्र' हारिभद्रीय टीका, पत्र १६३ में साधु के लिए निर्देश है:—

गोचरः—उत्तमाधम-मध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्
—इसलिए इसे आधार बनाने का प्रयास व्यर्थ है 'अन्तगडदसाओं'
यह कहा गया है कि, भगवान् ने पुलासपुर, द्वारका आदि में ऊँच,
मध्यम कुलों में भिक्षा ग्रहण का आदेश दिया। ऐसा ही वर्णन
सूत्र' आदि अन्य ग्रन्थों में भी आता है। अतः इनकी तुलना 'दुल्व' में
वैशाली के प्रकरण से कैसे की जा सकती है?

इसी भाँति श्रीमती स्टीवेंसन ने डाक्टर हार्नेल की
को दोहराने के साथ एक और भयङ्कर गलती कर दी है।
अपने ग्रन्थ 'हार्ट आव जैनिज्म' (पृष्ठ २१-२२ पर) में भगवान् को
कुलोत्पन्न' बताया है। उनकी इस स्थापना की पुष्टि किसी भी प्रमा
नहीं होती।

श्रीमती स्टीवेंसन का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विद्वान की दृष्टि से नहीं;
एक 'मिशनरी' की दृष्टि से लिखा गया है। इसके अन्तिम प्रकरण 'एम्प्टी
आव जैनिज्म' (जैन धर्म का हृदय में शून्य है) में लेखिका का विचार
नग्न-रूप में सम्मुख आ जाता है। जैन-शास्त्रों से अपरिचित व्यक्ति इस
का उल्लेख करता है, तब तक तो क्षम्य है; पर जब विद्वज्जन इसका
करते है, तो बड़ा ही अशोभनीय लगता है।

जन्म से गृहस्थ-जीवन तक

(१)

देवानन्दा के गर्भ में

भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड नामक ग्राम में कोडालगोत्रीय ब्राह्मण की जालंधरगोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्तरा नक्षत्र को चन्द्रयोग प्राप्त होने पर गर्भ-रूप में अवतरित हुए। जिस भगवान् गर्भ में आये, वे तीन ज्ञान से युक्त थे।

जिस रात्रि को श्रमणभगवान् महावीर जालंधरगोत्रीया देवा ब्राह्मणी की कुक्षि में गर्भ में आये, उस रात्रि के चौथे प्रहर में (पश्चिम जब देवानंदा न गहरी निद्रा में थी और न पूरे रूप में जग रही उसने चौदह महास्वप्न देखे। चौदह स्वप्नों को देख कर देवानन्दा बड़ा संतोष हुआ। जगने के बाद, देवानन्दा ने उन स्वप्नों को स्मरण की चेष्टा की और अपने पति ऋषभदत्त के पास गयी। उसने अपने की बात ऋषभदत्त से कही। स्वप्नों को सुनकर ऋषभदत्त बोला—

"हे देवानुप्रिये ! तुमने उदार स्वप्न देखे हैं—कल्याणरूप, शिव धन्य, मंगलमय और शोभायुक्त स्वप्नों को तुमने देखा है। ये स्वप्न आ ग्यदायक, कल्याणकर और मंगलकर हैं। तुम्हारे स्वप्नों का विशेष इस प्रकार है।

"हे देवानुप्रिये ! अर्थ—लक्ष्मी—का लाभ होगा। भोग का का और सुख का लाभ होगा। ९ मास ७॥ दिवस-रात्रि बीतने पर पुत्र को जन्म दोगी।

"यह पुत्र हाथ-पाँव से सुकुमार होगा। वह पाँच इन्द्रियों और शरी (हीन नहीं वरन्) सम्पूर्ण होगा। अच्छे लक्षणों वाला होगा। अच्छे व वाला होगा। अच्छे गुणों वाला होगा। मान में, वजन में तथा प्रमा वह पूर्ण होगा। गठीले अंगों वाला तथा सर्वांग सुन्दर अंगोंवाला हो चन्द्रमा के समान सौम्य होगा। उसका स्वरूप ऐसा होगा, जो सब प्रिय लगे।

"जब वह बच्चा बचपन पार करके समझवाला होगा और यौवन को प्राप्त कर लेगा, तो वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, पाँचवाँ इतिहास, छठाँ निघंटु आदि सर्व शास्त्रों का सांगोपांग जानने वाला होगा। वह उनके रहस्यों को समझेगा। जो लोग वेदादि को भूल गये होंगे, उनको तुम्हारा पुत्र पुनः याद दिलाने वाला होगा। वेद के छः अंगों का जानकार होगा। षष्टितंत्र-शास्त्र (कापिलीय शास्त्र) का जानकार होगा सांख्य-शास्त्र में, गणित-शास्त्र में, आचार-ग्रन्थों में, शिक्षा के उच्चारण-शास्त्र में, व्याकरण-शास्त्र में, ज्योतिष-शास्त्र में, अन्य ब्राह्मण-शास्त्रों में तथा परिव्राजक-शास्त्रों में (नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र में) वह पंडित होगा।

अवधि-ज्ञान से जब इन्द्र को भगवान् के अवतरण की बात ज्ञात हुई, तो उसे विचार हुआ कि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, शूद्र, अधम, तुच्छ, अल्प (अल्प कुटुम्ब वाले), निर्धन, कृपण, भिक्षुक या ब्राह्मण-कुल में नहीं; वरन् राजन्य कुल में, ज्ञातवंश में, क्षत्रियवंश में, इक्ष्वाकुवंश में और हरिवंश में होते हैं। अतः इन्द्र ने हिरणेगमेसी[1] को गर्भपरिवर्तन करने की आज्ञा दी।

१–देखिये पृष्ठ ११२

(२)

गर्भापहार

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें गर्भापहार की जो चर्चा मिलती है, वह आश्चर्यजनक अवश्य लगती है; पर ऐसा नहीं है कि, श्वेताम्बर-शास्त्र उसके आश्चर्य-रूप से अपरिचित हों। जैन-शास्त्रों में १० आश्चर्यों[1] के उल्लेख मिलते हैं। उनमें एक आश्चर्य गर्भापहरण भी है। इस सम्बन्ध में मत-निर्धारण करने में जो लोग जल्दीबाजी करते हैं, उनकी मूल भूल यह है कि वे 'आश्चर्य' और 'असम्भव' इन दो शब्दों के अन्तर को भली भाँति नहीं समझ पाते। इन दोनों शब्दों के भावों में बड़ा अन्तर है। जैन-शास्त्र इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, 'असम्भव' नहीं।

इस गर्भापहरण का उल्लेख न केवल टीकाओं और चूर्णियों में है वरन् मूल सूत्रों में भी मिलता है।

१—दस अच्छेरगा पं० तं—उवसग्ग १, गब्भहरणं २, इत्थीतित्थं ३, अभाविआ परिसा, ४ कण्हस्स अवरकंका ५, उत्तरणं चंदसूराणं ॥१॥ हरिवंसकुलुप्पत्ती ७ चमरुप्पपातो त ८ अट्ठसयसिद्धा ९। अस्संजतेसु पूआ १० दसवि अणंतेण कालेण ॥

—स्थानाङ्ग भाग २, सूत्र ७७७ पत्र ५२३-२।

—१ उपसर्ग, २ गर्भापहरण, ३ स्त्रीतीर्थ, ४ अभव्य परिषद-अयोग्य परिषद, ५ कृष्ण का अपरकंका-गमन, ६ चन्द्र सूर्य का आकाश से उतरना, ७ हरिवंशकुल की उत्पत्ति, ८ चमरेन्द्र का उत्पात, ९ १०८ सिद्ध, १० असंयत पूजा।

—स्थानाङ्ग समवायाङ्ग, मालवणियाकृत अनुवाद पृष्ठ ८९१।

आश्चर्यों का उल्लेख कल्पसूत्र-सुबोधिका-टीका (व्याख्यान २, पत्र ६४) तथा प्रवचन सारोद्धार सटीक (उत्तर भाग, पत्र २५६–१) में भी इसी रूप में है। उसकी टीका में 'अच्छेर' (आश्चर्य) का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है "आ—विस्मयतश्चर्यन्ते—अवगम्यन्ते जैनरित्याश्चर्याणि—अद्भुतानि"

हरिणेगमेषिन्
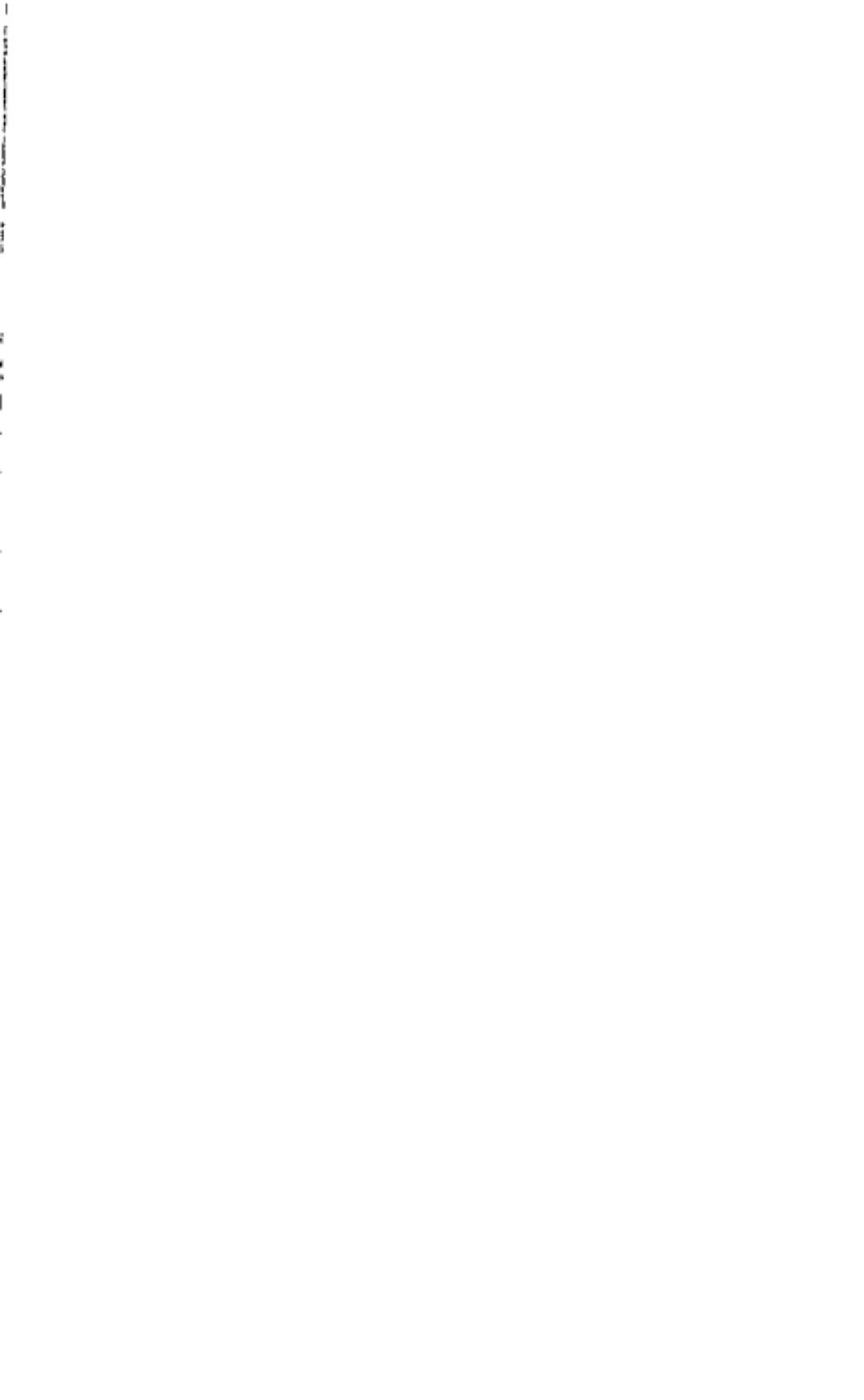
१. समवायाङ्ग-सूत्र, समवाय ८३ (पत्र ८३-२) में उल्लेख है—

"समणे भगवं महावीरे बासीइराइंदिएहिं वीइक्कंतेहिं तेयासीइमे राइंदिए वट्टमाणे गब्भाओ गब्भं साहरिए...

अर्थात्—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ८२ रात्रि-दिवस बीतने के ८३-वें रात्रि-दिवस में एक गर्भ से दूसरे गर्भ में ले जाये गये।

समवायांग के अतिरिक्त अन्य सूत्रोंमें उसका उल्लेख निम्नलिखित रूपमें लता है—

(२) समणे भगव महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था-हत्थुत्तराहिं चुए इत्ता गब्भं वक्कंते हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिते हत्थुत्तराहिं ाते हत्थुत्तराहिं मुण्डे भवित्ता जाव...(सूत्र ४११, भाग २, पत्र ३०७-१)

टीका—'समणे'— त्यादि, हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तो वोत्तरो सां ता हस्तोत्तराः—उत्तराः फाल्गुन्यः, पञ्चसु च्यवनगर्भहरणादिषु ोत्तरा यस्य स तथा 'गर्भात्' गर्भस्थानात् 'गर्भं' न्ति गर्भे गर्भ-थानान्तरे संहृतो-नीतः,......."

—स्थानाङ्ग भाग २, स्थान ५, पत्र ३०८-१

—श्रमण भगवान् महावीर की ५ वस्तुएं उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में ई। उसी नक्षत्र में उनका च्यवन, गर्भापहरण, जन्म, दीक्षा और वल-ज्ञान हुए।[1]

× + ×

(३) "......जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिण माहण कुण्डपुर संनिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडाल स गोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोत्ताए सीहब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते, समणे भगवं महावीरे तिण्णाणोवगए यावि

१— कुछ लोग स्थानांग में वर्णित भगवान् महावीर के ५ स्थानों को ५ कल्याणक मान लेते है। यह सर्वथा भ्रामक है। स्थान का अर्थ कल्याणक नहीं हो सकता।

होत्था...तओणं समणे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं' देवेणं के मेयंतिकट्टु। जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोय तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं वगतेणं बासीतीहिं राइंदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीतिमस्स राइंदियस्स याए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुण्डपुरसंन्निवेसाओ उत्तरखत्तिय कुण्ड सन्निवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्त तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहा करेत्ता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ वि य तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तंपिय दाहिणमाह कुण्डपुर संनिवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स दे णंदाए माहणीए जालंधरायणस गुत्ताए कुच्छिंसि गब्भं साहरइ..."

—श्री आचाराङ्ग सूत्र–द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाधिकार पत्र ३८८-१

....जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरतक्षेत्र के दक्षिणार्ध भरत में ब्राह्मण कुंडपुर सन्निवेश में कोडाल गोत्रीया ऋषभदत्त ब्राह्मणी की जालन्धर गोत्रीया देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंह की तरह महावीर अवतीर्ण हुए। उस समय भगवान् तीन ज्ञान से युक्त थे। हि कर्म को करने वाले और भक्त (हिरणेगमेसी देव ने) यह विचार कर ऐसा मेरा व्यवहार है, भगवान् महावीर को वर्षा के तीसरे महीने में, पक्ष में, आश्विन कृष्ण १३ को जब चन्द्रमा उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में बयासी रात-दिन व्यतीत होने पर, ८३-वें दिन को दक्षिण ब्राह्मण कुं सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञात-क्षत्रिय काश्यपगो सिद्धार्थ क्षत्रिय की वशिष्ठगोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला के अशुभ पुद् को दूर कर और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करके कुक्षिमें गर्भ को रखा।

१–'हिताणुकंपएणं' हितः शक्रस्य आत्मनश्च अनुकम्पको भगवन्

—पवित्र कल्पसूत्र टिप्पनकम्, पृ

हिताणुकं० हितं अप्पाणं सक्कस्स य, अणुकंपओ तित्थगरस्स....

—आचारांगचूर्णिः, पत्र ३

जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ था, उसको दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश में रहे हुए कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा की कुक्षि में गर्भरूप से रक्खा।

(४) "हरी णं भंते ! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं संहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरइ १, गब्भाओ जोणिं साहरइ २, जोणीओ गब्भं साहरइ ३, जोणीओ जोणिं साहरइ ४। गोयमा ! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ, नो जोणीओ जोणिं साहरइ, परामुसिय परामुसिय अव्वाबाहेणं अव्वाबाहं जोणीओ गब्भं साहरइ॥ पभू णं भंते ! हरिणेगमेसी सक्कस्स णं दूए इत्थीगब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा १, हंता पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचिवि आबाहं वा विवाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेज्जा, ए सुहुमं च णं साहरिज्ज वा॥ (सूत्र १८७)

—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) – शतक ५ उद्देश ४ पत्र, २१८।१

— हे भगवन् ! इन्द्र-सम्बन्धी हरिनैगमेषी शक्रदूत जब स्त्री के गर्भ का संहरण करता है, तब क्या एक गर्भाशय में से गर्भ को लेकर दूसरे गर्भाशय में रखता है ? गर्भ से लेकर योनि द्वारा दूसरी स्त्री के गर्भ में रखता है ? योनि से गर्भ को निकाल कर दूसरे गर्भाशय में रखता है ? या योनि द्वारा गर्भ को निकाल कर फिर उसी तरह (अर्थात् योनि द्वारा हीं) उदर में रखता है ?

हे गौतम ! देव एक गर्भाशय में से गर्भ को लेकर, दूसरे गर्भाशय में नहीं रखता है, गर्भ को लेकर योनि द्वारा भी दूसरी स्त्री के उदर में नही रखता है। योनि द्वारा गर्भ को लेकर फिर योनि द्वारा उदर में नहीं रखता; लेकिन अपने हाथ से गर्भ को स्पर्श कर उस गर्भ को कष्ट न हो उस तरह योनि द्वारा बाहर निकाल कर दूसरे गर्भाशय में रखता है।

हे भगवन् ! शक्र का दूत हरिनैगमेषी-देव स्त्री के गर्भ को नख के अग्र भाग से या रोंगटे के छिद्र से भीतर रखने में समर्थ है ?

हे गौतम ! हाँ, वह वैसा करने में समर्थ है। अलावा वह ... जरा सी भी पीड़ा होने नही देता तथा वह गर्भ के शरीर को ... सूक्ष्म करके अंदर रखता है या बाहर निकालता है।

× × ×

(५) "....जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहेवासे जेणेव माहणकुण्डग्गामे नयरे जेणेव उसभदत्तस्स माहणस्स गिहे जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणामं करेइ, पणामं करित्ता देवाणंदाए माहणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, दलित्ता असुभे पुग्गले अवहरइ, अवहरित्ता सुभे पुग्गले पक्खिवइ, पक्खिवित्ता 'अणुजाणउ मे भयवं' ति कट्टु समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं दिव्वेणं पहावेणं करयलसंपुडेणं गिण्हइ, करयलसंपुडेणं गिण्हित्ता....जेणेव तिसला खत्तिआणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिसलाए खत्तिआणीए सपरिजणाए ओसोवणिं दलइ, दलित्ता असुहे पुग्गले अवहरइ, अवहरित्ता सुहे पुग्गले पक्खिवइ, पक्खिवित्ता समणं भगवं महावीरं अव्वाबाहं अव्वाबाहेणं दिव्वेणं पहावेणं त्तिसलाए खत्तिआणीए कुच्छिसि गब्भत्ताए साहरइ, जे वि अ णं से तिसलाए खत्तिआणीए, गब्भे तं पि अ णं देवाणंदाए माहणीए जालंधर सगुत्ताए कुच्छिसि गब्भताए साहरइ, साहरित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडि गए।

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका— सूत्र - २७ पत्र ६१-६२

अर्थात्......(हिरण्यगमेसी) जंबूद्वीप नामक द्वीप के, भरतक्षेत्र में जहाँ ब्राह्मणकुंडग्राम नामक नगर है, जहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण का घर है और जहाँ देवानन्दा ब्राह्मणी है, वहाँ जाता है। जाकर भगवान् को देखते ही प्रणाम करता है। फिर परिवार सहित देवानन्दा ब्राह्मणी को अवस्वापिनी निद्रा देता है। सारे परिवार को निद्रित करके अशुभ पुद्गलों को हरण कर के शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपन करता है। फिर हे भगवन्, मुझे आज्ञा दीजिए

सा कहकर हरिणैगमेषी अपने दिव्य प्रभाव से सुख पूर्वक भगवन्त को दोनों थेली में ग्रहण करता है। ग्रहण करते समय गर्भ या माता को जरा-सी भी तकलीफ मालूम नहीं होती। भगवान् को करसंपुट में धारण कर, वह व क्षत्रियकुण्डग्राम नगर में आकर, जहाँ सिद्धार्थ क्षत्रिय का घर है, जहाँ त्रिशला क्षत्रियाणी सोती है, वहाँ जाता है। जाकर सपरिवार त्रिशला क्षत्रियाणी को अस्वापिनी (क्लोरोफार्म) निद्रा देकर, अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों का प्रक्षेपन करके भगवान् महावीर को दिव्य प्रभाव से जरा भी तकलीफ न हो इस प्रकार त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भरूपसे प्रवेश कराता है। और, जो त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि मे गर्भ था, उसे देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में जाकर रखता है। यह कार्य करके जिस दिशा से आया था, उसी दिशा को चला गया।

\+ \+ \+

(६) माहणकुण्डग्गामे कोडाल सगुत्त माहणो अत्थि।
तस्स घरे उववन्नो देवाणंदाइ कुच्छिंसि ॥२८७॥
सुमिणमवहार भिग्गह जम्मणमभिसेअवुड्ढीसरणं च।
भेसण विवाहवच्चे दाणे संबोह निक्खमणे ॥२८८॥
खत्तिय कुण्डग्गामे सिद्धत्थो नाम खत्तिओ अत्थि।
सिद्धत्थ भारिआए साहर तिसलाइ कुच्छिंसि ॥२६४॥
बाढं ति भणिऊण वास रत्तस्स पंचमे पक्खे।
साहरइ पुव्वरत्ते हत्थुत्तर तेरसी दिवसे ॥२९६॥
दुण्हवरमहिलाणं गब्भे वसिऊण गब्भसुकुमालो।
नव मासे पडिपुन्ने सत्तय दिवसे समइरेगे ॥३०३॥

—आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ ८०-८३

मलयगिरि-टीका पूर्वभाग पत्र २५२-२; हरिभद्र-टीका पत्र १७८-१;
दीपिका ८८-२

अर्थात्—ब्राह्मणकुण्डग्राम में कोडाल गोत्र का ब्राह्मण (ऋषभदत्त) है। उसके घर में देवानन्दा की कुक्षि में (भगवान्) उत्पन्न हुए हैं। २८७

१ स्वप्न, २ अपहरण, ३ अभिग्रह, ४ जन्म, ५ अभिषेक, ६ वृद्धि ७ स्मरण (पूर्व अभिग्रह का स्मरण), ८ भय, ९ विवाह, १० अपत्य, ११ दान, १२ सम्बोधन, १३ निष्क्रमण, (दीक्षा)। २८८ (इस द्वार-गाथा में भी गर्भापहार का उल्लेख आता है)

अब देवेन्द्र हरिणैगमेषि देव से कहता है, यह भगवान् लोकोत्तम महात्मा ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए हैं।

उनको तुम क्षत्रियकुण्डग्राम में सिद्धार्थ नामका क्षत्रिय है; उसकी भार्या त्रिशला की कुक्षि में ले जा कर रखो। २९५।

'ठीक है', ऐसा कहकर वह हरिणैगमेषि देव वर्षाऋतु के पाँचवे पक्ष के (आसो बदी तेरस उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में) तेरहवें दिन पूर्व रात्रि में गर्भ को ले जाता है। २९६

गर्भ में सुकुमार (सुखी) वह दो उत्तम महिलाओं के गर्भ में रह कर नव मास और सात दिन से अधिक समय व्यतीत होने पर......([1]) । ३०१

महावीर स्वामी के गर्भपरिवर्तन की बात एक और प्रसंग से जैन-आगमों में आती है। समवायांग-सूत्र के ३२-वें समवाय में नाटक के बत्तीस भेद बताये गये है—"बत्तीसतिविहे णट्टे"। इसकी टीका करते हुए अभयदेव सूरि ने लिखा है—"द्वात्रिंशद्विधं द्वितीयोपाङ्ग इति सम्भाव्यते।" (समवायांग सूत्र पत्र ५४)

राजप्रश्नीय की कंडिका ८४ (पत्र १४३-१) में ३२-वें प्रकार के नाटक को बताते हुए लिखा :—

१—इन प्रमाणों के साथ कुछ लोग 'अंतगडदसाओ' (एल. डी. वैद्य सम्पादित, पृष्ठ ६, अनु. १०) का देवकी के पुत्र-परिवर्तन की कथा को भी प्रमाण में दे देते हैं। पर, वह परिवर्तन गर्भ-काल में नहीं वरन् जन्म के बाद हुआ था। अतः गर्भापहार के प्रमाण-स्वरूप उसका उल्लेख करना भ्रामक है।

तए णं ते वहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ
वीरस्स पुव्वभवचरियणिवद्धं च देवलोयचरियणिवद्धं चवणचरि-
यवद्धं च संहरणचरियणिवद्धं च जम्मणचरियनिवद्धं च अभिसे-
रियणिवद्धं च बालभावचरियणिवद्धं च जोव्वणचरियनिवद्धं च
भोगचरियनिवद्धं च निक्खमणचरियनिवद्धं च तवचरणचरिय-
द्धं च णाणुप्पायचरियनिवद्धं च तित्थ पवत्तण चरिए–परिनिव्वाण
य निवद्धं च चरिमचरियनिवद्धं च णामं दिव्वं णट्टविहिं
दंसेति—

इसकी टीका करते हुए लिखा है :—

"तदनन्तरम् च श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य १ चरमपूर्वमनुष्य
े (२ देवलोक चरित्र निवद्धं) २ चरमच्यवन ३ चरमगर्भसंहरण
चरम भरतक्षेत्रावसर्पिणीतीर्थंकर जन्म ५ अभिषेक ६ चरम वाल-
ाव ७ चरम यौवन ८ चरम कामभोग ९ चरम निष्क्रमण १०
रम तपश्चरण ११ चरम ज्ञानोत्पाद १२ चरम तीर्थ-प्रवर्त्तन १३
रमपरिनिर्वाण निवद्धं १४ चरमनिवद्धं नाम द्वात्रिंशत्तमं दिव्यं
ाट्यविधिम् उपदर्शयन्ति।

३२-वें नाटक में भगवान् महावीर का ही जीवनचरित्र दर्शाया गया।
समें (१) भगवान् महावीर के २५-वें भव में छत्रा नगरी में नन्दन नामक
ाजा की कथा (२) दसवें देवलोक गमन की कथा (३) च्यवन (४)
र्भसंहरण (५) भरतक्षेत्र में चरम तीर्थंकर रूप में जन्म (६) जन्माभिषेक
(७) बालभाव-चरित्र (८) यौवन-चरित्र (९) कामभोग-चरित्र (१०)
निष्क्रमण-चरित्र (११) तपस्या (१२) केवल-ज्ञान की प्राप्ति (१३) तीर्थ-
वर्तन (१४) परिनिर्वाण वातें दर्शायी गयी।

नाटकके इन ३२ प्रकारों के उल्लेख अन्य जैन आगमों में भी आते हैं।
भगवती सूत्र में 'बत्तीसइविहं नट्टविहिं' आया है। उसकी टीका करते हुए
अभयदेव सूरी ने लिखा है

'द्वात्रिंशद्विधम् नाट्यविधिं—नाट्यविषयवस्तुनो ... धत्वात्, तच्च यथा राजप्रश्नीयाऽध्ययने तथाऽवसेयम्' इति

शतक ३, उद्देश १, पं० बेचरदास-सम्पादित, भाग २, पृष्ठ ४१)

राजप्रश्नीय उपांग के इस वर्णन की ज्ञाताधर्मकथा भी पुष्टि करता है। उसके १६-वें अध्ययन में 'जिन-प्रतिमा-वंदन' के प्रकरण में कहा है एवं "जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ..."

—ज्ञाताधर्मकथाङ्गम् सटीक; द्वितीय विभाग, पत्र २१...

पुरातत्त्व में गर्भपरिवर्तन

गर्भ-परिवर्तन की यह मान्यता कुछ आज की नहीं लगभग २००० वर्ष पुरानी है। 'आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इंडिया' (न्यू इम्पीरियल ...) वाल्यूम २० में 'मथुरा एंटीक्विटीज' के अन्तर्गत 'द जैन स्तूप एँड अदर एंटीक्विटीज आव मथुरा" नाम से 'रिपोर्ट' प्रकाशित हुई है। इसके लेखक हैं वी० ए० स्मिथ (१६०१ ई०)। उसमें प्लेट नम्बर १८ पर "भगवा..." लिखा है। उस प्लेट के सम्बन्ध में डॉक्टर बूलहर ने लिखा है कि इसमें ... गूत्र के गर्भपरिवर्तन का चित्रण है। ('एपीग्राफिका-इंडिका' खंड २, ३१४, प्लेट २)। उस 'प्लेट' के सम्बन्ध में पुरातत्वविदों का अनुमान है कि यह ईस्वी सन् के प्रारम्भ का अथवा उससे भी प्राचीन शिल्प है। (द जैन स्तूप एण्ड अदर एंटीक्विटीज आव मथुरा, पृष्ठ २५)

हरिणेगमेसी

'एपिग्राफिका इंडिका', खण्ड २, पृष्ठ ३१४ में डाक्टर बूलर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जैनशास्त्रों में वर्णित हरिणेगमेसी वस्तुतः वही देवता है जो वैदिक-साहित्य में 'नैगमेष' अथवा 'नेजमेष' नाम से उल्लिखित है। 'नैगमेष' अथवा 'नेजमेष' का प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में कहाँ-कहाँ हुआ है, इसका विस्तृत विवरण पीटर्सबर्ग-डिक्शनरी (संस्कृत) में दिया गया है।

मोनियोर-मोनियोर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी (पृष्ठ ५५०) में 'नैगमेष' शब्द का अर्थ लिखा है 'एक देव जिसका सर भेड़ा का है' (औ...

क्रेट' में लिखा है कि जिसके सम्बंध में माना जाता है कि वह बच्चों को ड़ता है तथा क्षति पहुँचाता है। उसी स्थान पर यह अंकित है कि यह अथर्ववेद में मिलता है। उसी ग्रन्थ के पृष्ठ ५६८ पर 'नेजमेष' शब्द आया और उसका अर्थ दिया गया है 'एक देव जो बच्चों से शत्रुता रखता है।' संदर्भ रूप में गृह्यसूत्र दिया गया है।

ऋग्वेद के खिलसूत्र में तथा महाभारत (आदिपर्व, अध्याय ४५०, श्लोक पृष्ठ ८७ तथा शल्य पर्व, अध्याय ६७, श्लोक २४, पृष्ठ ११९) में भी मेष' शब्द आया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सुश्रुत, अष्टांगहृदय आदि चिकित्सा-ग्रन्थों में उसका नाम मिलता है।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में भी उसका नाम मिलता और उसे यक्ष बताया गया है ('बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत ग्रामर ऐंड डिक्श-', खंड २, पृष्ठ ३१२)

वैजयन्ती-कोष (१८९३ में प्रकाशित) के पृष्ठ ७ पर 'नैगमेष' शब्द आया शब्द-रत्न-महोदधि भाग २, पृष्ठ १२४६ पर 'नैगमेष' शब्द आया है और त् हिन्दी-कोष (सं० २००६) पृष्ठ ७१२ पर नैजमेष और नैगमेय' दोनों द मिलते हैं।

जैन-साहित्य में उसे हरिणेगमेसी क्यों कहते हैं, इसका कारण बताते कहा गया है—

"हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी"
थवा "हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देवः यो देवानन्दायाः।
कुक्षेर्वीरजिनमपहृत्य त्रिशालागर्भे प्रावेशयत् (आ० म०)
—अभिधान राजेन्द्र, खंड ७, पृष्ठ ११८७

कल्पसूत्र की टिप्पन (पृथ्वीचंद्र सूरि प्रणीत) में लिखा है—

रिः' इन्द्र स्तत्सम्बन्धित्वाद् हरिः, नैगमेषी नाम 'सक्कदूए' शक्रदूतः

शक्रादेशकारीपदात्यनीकाधिपतिः येन शक्रादेशाद्भगवान् वीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भेसंहृत इति।"

—पवित्रकल्पसूत्र टिप्पनकं, पृ०

इसी तरह की टीका कल्पसूत्र की सन्देह विषौषधि टीका (पत्र ३१) में दी हुई है :—

"हरिणेगमेसिंति" हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी आदेशप्रतीच्छक इति व्युत्पत्त्याऽन्वर्थनामानं हरिणैगमेषिं नाम पदात्यनीकाधिपतिं सद्दावे इति, आकारयति हरेरिन्द्रस्य संबंधी नैगमेषिनामा इति केचित्।

अतःस्पष्ट है कि जैन-ग्रन्थों में भी उसका मूलनाम नैगमेषी ही है। हरि—इन्द्र—का आदेश-पालक होने से उसे हरिणैगमेसी कहते हैं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत का 'न' प्राकृत में 'ण' हो जाता है। उसका नाम संस्कृत नैगमेषी और प्राकृत में णैगमेषी है। आवश्यक मलयगिरि की टीका (पूर्वभाग, पत्र २५५—१) में 'णेगमेसी' शब्द आया है और, 'संस्कृत' में 'नैगमेषी' शब्द लोकप्रकाश (द्वितीय विभाग, ३३५—१), त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ३१ (पत्र १२—१), पद्मानंदमहाकाव्य के श्रीमहावीरजिनेन्द्र के चरित्र-प्रकरण (श्लोक ५८०) भावदेवसूरि-कृत पार्श्वनाथचरित्रम् सर्ग ५, श्लोक ८०, (पत्र २३०—२) आदि ग्रन्थों में मिलता है। कोषों में भी हरिणैगमेसी शब्द का संस्कृतरूप 'हरिनैगमेसी लिखा है (पाइसदमहण्णवो, पृष्ठ ११८६)

'हरिणैगमेसी' शब्द के 'हरिण' शब्द से संगत बैठाकर उसे हरिण के मुखवाला कहना सर्वथा भ्रामक है।[1] जैकोबी ने 'सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट' खण्ड २२ में कल्पसूत्र के अनुवाद में (पृष्ठ २२७) पादटिप्पणि में ठीक लिखा है कि चित्रों में हरिणैगमेसी का मुख हरिण बना देना वस्तुतः हरिणैगमेसी शब्द के अशुद्ध विग्रह का फल है।

१—बैरोनेट ने अंतागडदसाओ के अनुवाद (पृष्ठ ६७) और पी० वी० वैद्य ने अंतगडसाओ में 'नोट्स' में—पृष्ठ १६ पर यही भूल की है। हरिणैगमेसी को हरिण के मुखवाला लिखा है।

जे० स्टिवेंसन ने तो 'हरिण' शब्द से और भी भ्रामक रूप लिया है। होंने अपने कल्पसूत्र के अंग्रेजी अनुवाद (पृष्ठ ३८) में लिखा है—

"हरिण से भी तेज दौड़ने के कारण उसे हरिणेगमेसी कहते हैं' जे० वेंसन का यह मत न तो जैन-साहित्य से समर्थित है और अन्य धर्मों के हित्य से।

इसी भ्रम को दूर करने के लिए कल्पसूत्र के बंगला अनुवादक श्री वसंत-मार चट्टोपाध्याय ने (पृष्ठ १९) हरि और नैगमेषी के बीच में 'हाइफन' गा कर विलग कर दिया है।

जैन-ग्रंथों में स्थानांग सूत्र सटीक (सूत्र ५८२)[1] में लिखा है—

सक्कस्स_णं देविंदस्स देवरन्नो सत्त अणिया सत्त अणियाहिवती पं तं०—यत्ताणिए जाव [पीढाणिए ३ कुंजराणिए ४ .महिसाणिए ५ रहाणिए नट्टाणिए] गंधव्वाणिए, हरिणेगमेसी पायत्ताणीयाधिपती जावमाढरे णिताविपति....

—इन्द्र की सात सेनाएं हैं—१ पैदल, २ अश्व, ३ गज, ४ वृषभ अथवा हिष[2] ५ रथ, ६ नट्ट, ७ गंधर्व.

१– स्थानाङ्ग उत्तरार्द्ध पत्र ४०६—१

२– गंधव्व नट्ट हय गय रह भड अणियाणि सव्वइंदाणं।
नेमाणियाम वसहा, महिसा य अहो निवासीणं॥

वृहत्संग्रहणीसूत्र, प्रासंगिक प्रकीर्णक अधिकार
गाथा ४६, पृष्ठ १२१

इसका स्पष्टीकरण करते हुए वृहत्संग्रहणी सूत्र में लिखा है कि गन्धर्व ट, अश्व, गज, रथ, भट ये सेनाएं सभी इन्द्रों की होती हैं। इनके अति-क्त वैमानिकों के पास वृषभ-सेना और अधोलोक वासियों के पास महिष-ना होती है।

और उनके सेनापति हैं :—हरिनैगमेषी २ वायु ३ ऐरावण ४द
५ माठर ६ श्वेत और ७ तुंबरु।

इन्द्र की पदाति सेना के ७ कक्ष हैं और एक कक्ष में ८४,००० दे|
शेष उत्तरोत्तर दूना करते जाना चाहिए।

लोक प्रकाश (सर्ग २६, पत्र ३३४-२, ३३५-१) में हरिनैगमेषी
कार्य बताते हुए लिखा गया है :—

सप्तानामप्यथैतेषां, सैन्यानां सप्त नायकाः।
सदा सन्निहिताः शक्रं विनयात् पर्युपासते ॥ ८० ॥
ते चैवं नमतो वायु रैरावणश्च माठरः। ३।
स्याद्मर्द्धि र्हरिनैगमेषी श्वेत श्च तुम्बरुः ॥ ८१ ॥
पादात्येशस्तत्र हरिनैगमेषीति विश्रुतः।
शक्रदूतोऽति चतुरो, नियुक्तः सर्व कर्मसु ॥ ८४ ॥
योऽसौ कार्यविशेषेण देवराजानुशासनात्।
कृत्वा मङ्क्षु त्वचश्छेदं रोमरन्ध्रैर्नखांकुरैः ॥ ८५ ॥
संहर्तुमीष्टे स्त्रीगर्भं, न च तासां मनागपि।
पीडा भवेन्न गर्भस्याप्यसुखं किंचिदुद्भवेत् ॥ ८६ ॥
तत्र गर्भाशयाद्गर्भाशये योनौ च योनितः।
योनेर्गर्भाशये गर्भाशयाद्योनाविति क्रमात् ॥ ८७ ॥
आकर्षणामोचनाभ्यां चतुर्भङ्ग्यत्र संभवेत्।
तृतीयेनैव भङ्गेन गर्भं हरति नापरैः ॥ ८८ ॥

(इन्द्र की) इन सात सेनाओं के सात नायक होते हैं, जो सर्वदा उन
पास ही रहते हैं और विनय पूर्वक उनकी उपासना करते हैं। उनके नाम हैं
१ वायु २ ऐरावण ३ माठर ४ दमर्द्धि, ५ हरिनैगमेषी, ६ श्वेत और
तुम्बरु। उनमें पैदल सेनाओं का सेनापति हरिनैगमेषी नाम से प्रसिद्ध है
वह इन्द्र का अत्यन्त चतुर दूत सभी कार्यों में नियुक्त किया जाता है।
कार्य विशेष से, इन्द्र की आज्ञा से रोम के छेदों से और नख के अङ्कुरों
शीघ्र त्वचा छेद करके स्त्री-गर्भ का हरण करने में समर्थ होता है। . . .

ियों को ही किसी प्रकार की पीड़ा होती है और न गर्भ को ही किसी प्रकार
क्लेश उत्पन्न होता है। इनमें चार प्रकार होते हैं—(१) गर्भाशय से
र्भाशय में आकर्षण और आमोचन (२) योनि से योनि में आकर्षण और
मोचन (३) योनि से गर्भाशय में आकर्षण और आमोचन (४) गर्भाशय
योनि में आकर्षण और आमोचन। इनमें तीसरे प्रकार से ही वह गर्भ का
रण करता है, अन्य से नहीं।

आगे विवरण में कहा गया है—

> यदेन्द्रो जिनजन्माद्युत्सवेषु गन्तुमिच्छति।
> तदा वादयते घंटां, सुघोषां नैंगमेषिणा॥ (९४)

—जब इन्द्र जिनेश्वर के जन्मादि उत्सवों में जाना चाहते हैं, तो उस
मय इन्द्र नैंगमेषी से सुघोषी नाम का घंटा बजवाते हैं।

कल्पसूत्र (सूत्र २०) में भी 'हरिणेगमेसिं पाइत्ताणी आहिवइं' (हरि-
णैगमेषिनामकं पदातिकटकाधिपतिं) हरिणैगमेसी को पैदल सेना का सेनापति
लिखा गया है।

'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' में हरिनेगमेषी के उल्लेख में आया है—

हरिणेगमेसिं पायत्ताणीयाहिवइं देवं सद्दावेन्ति २त्ता एवं वयासी–
खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसिअं
गंभीरमहुरयरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुघोसं सूसरं घंटं तिक्खुत्तो
उल्लालेमाणे...

(वक्षस्कार ५, सूत्र ११५ पत्र ३९६-१)

इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

'तएणं से हरिणेगमेसी' इत्यादि, ततः स हरिणेगमेषी देवः
पदात्यनीकाधिपतिः शक्रेण देवेन्द्रेण देवराज्ञा एवमुक्तः सन् हृष्ट
इत्यादि यावदेवं देव इति आज्ञया विनयेन वचनं प्रतिशृणोति प्रतिश्रुत्य
च शक्रान्तिकात् प्रतिनिष्क्रामति प्रतिनिष्क्रम्य च यत्रैव सभायां सुधर्मायां
मेघौघरसितगम्भीर मधुरतरशब्दा योजनपरिमंडला सुघोषाघण्टा तत्रैवो-

पागच्छति उपागत्य च तां मेघौघरसितगम्भीर मधुरतरशब्दां यो-
परिमंडलां सुघोषां घंटां त्रिःकृत्व उल्लालयतीति—" (पत्र ३१७२)

डाक्टर उमाकान्त ने 'जर्नल आव इंडियन सोसायटी आव ओरिएन्
आर्ट', वाल्यूम १९, १९५२-५३ में 'हरिनैगमेसी' पर एक लेख लिखा है। उसमें
उन्होंने बहुत-सी भ्रामक बातें लिखी हैं :—

(१) पृष्ठ २२ पर उन्होंने लिखा है — "चित्रों में उसे बकरी के सि
वाला दिखलाया गया है।" और, उसके नोट में नोट में पता दिया है (१)
ब्राउन-लिखित 'मीनिएचर पेन्टिंग्स आव द कल्पसूत्र' चित्र १५ (आ) मुनि
पुण्य विजय-सम्पादित पवित्र कल्पसूत्र' चित्र २२७ (इ) जैनचित्र-कल्पद्रुम चि
१७६-१८७. (२) पृष्ठ १५ पर ब्राउन ने हरिनैगमेसि, का मुख घोड़े
अथवा हिरन का लिखा है। बकरी का मुख उमाकान्त ने अपने मन से लि
देख कर कल्पना की है। पवित्र कल्पसूत्र में चित्र २२७ और उसके परिश
में कहीं भी बकरी का उल्लेख नहीं है।

पृष्ठ २६ उसे हरिण के सिर वाला बताया गया है। पर, इस
कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता।

डाक्टर उमाकान्त ने गर्भ-परिवर्तन की मूल कथा पर ही शंका प्र
की है और उसे बाद का जोड़ा हुआ माना है। पर, हम इस संबन्ध में सब
प्रमाण पहले दे आये हैं। उनकी आवृत्ति यहाँ नहीं करना चाहते। बाद
स्थापना को बाद का सिद्ध करने के लिए मनमानी तिथियाँ भी निश्चित
हैं, जो किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हैं। उदाहरण के लिए आपने कल्प
को ५-वीं शताब्दी का लिखा है। कल्पसूत्र और उसके रचयिता भद्रबा
स्वामी के सम्बन्ध में स्वयं कुछ न कहकर, मैं डाक्टर याकोबी का मत य
दे देना चाहता हूँ :—

"हेमचन्द्र से लेकर आधुनिक जैन-पंडित तक भद्रबाहु का निर्वाण मह
वीर स्वामी के निर्वाण से १७० वर्ष बाद मानते हैं।

(कल्पसूत्र, भूमिका पृष्ठ १)

; वैदिक-ग्रन्थों में हरिणैगमेसी को कुछ स्थानों पर पुत्रदाता भी लिखा
ा है। गृह्यसूत्र के एक मंत्र में आता है—

" हे नेगमेष ! उड़ जाओ और फिर उड़ कर यहाँ आओ और मेरी
नी के लिए एक सुन्दर पुत्र लाओ। मेरी पत्नी को पुत्र की कामना है।
ो गर्भ दो और गर्भ में पुत्र रहे !"

बाद के हिंदू-ग्रंथों में और वैद्यक ग्रंथों में उसे गर्भहर्ता के रूप में
त्रित किया गया गया है। पर जैन-साहित्य में उसका रूप सर्वत्र पुत्रदाता
है। 'अन्तगडदसाओ' मे कथा आती है कृष्ण ने भाई प्राप्त करने के लिए
रिनेगमेसी की उपासना की। देव के सम्मुख आने पर कृष्ण ने कहा—

"इच्छामि णं देवाणुप्पिया सहोयरं कणीयसं भाउयं विइण्णं।"

कृष्ण ने कहा—"हे देवानुप्रिय ! मैं चाहता हूँ कि मेरी माता की कुक्षि
के छोटा भाई हो।" इस पर हरिनेगमेसी ने उत्तर दिया—"हे देवानु-
प ! तुम्हारी माता की कुक्षि से तुम्हें छोटा भाई होगा। वह देवलोक से
व करके आयेगा।

(अंतगडदसाओ, एन० वी० वैद्य, सम्पादित, पृष्ठ ११)

हिन्दू-ग्रन्थ में गर्भपरिवर्तन

गर्भपरिवर्तन की ऐसी कथा हिन्दू-ग्रन्थों में भी मिलती है। श्रीमद्भागवत
दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय मे उल्लेख आता है कि कंस वसुदेव की
ानें मार डालता था। विश्वात्मा भगवान् ने अपनी योगमाया को आदेश
ा—

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले॥
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥८॥

—हे देवि ! हे कल्याणी ! तुम व्रज में जाओ। वह प्रदेश ग्वालों और गौओंसे सुशोभित है । वहाँ नन्द बाबा के गोकुल में वसुदेव की पत्नी रोहिणी निवास करती है । उनकी और भी पत्नियाँ कंस के डरसे गुप्त स्थानों में रही है ॥८॥ इस समय मेरा वह अंश जिसे शेष कहते हैं, देवकी के उदर में गर्भरूप से स्थित है । उसे वहाँ से निकाल कर तुम रोहिणी के पेट में रख दो।"८

भगवान् के इस प्रकार कहने पर योगमाया 'जो आज्ञा' कह पृथ्वी में चली गयी और भगवान् ने जैसा कहा था, वैसे ही किया

गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः॥ १५॥

—जब योगमायाने देवकी का गर्भ ले जाकर रोहिणी के उदर में रख दिया, तब पुरवासी बड़े दुःख के साथ आपस में कहने लगे—'हाय ! बेचारी देवकी का यह गर्भ तो नष्ट ही हो गया।"

—श्रीमद्‌भागवत, दूसरा भाग, स्कंध १०, पृष्ठ १२२-१

गर्भ-परिवर्तन वैज्ञानिक दृष्टि से

भारतीय परम्परा में वर्णित गर्भापहरण-सरीखी कितनी ही बातें अब तक लोग अविश्वस्त समझते रहे हैं; पर विज्ञान ने उनमें से बहुत-कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया।

(१) 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी' द्वारा प्रकाशित 'जीवन-विज्ञान' (पृष्ठ ४३), में एक वर्णन इस प्रकारण प्रकाशित हुआ है।

एक अमरीकन डाक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का आपरेशन करना था। वह गर्भवती थी। अतः डाक्टर ने गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डब्बे में रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ में डाल दिया। औरत का आपरेशन कर चुकने के बाद, डाक्टर ने पुनः औरत का बच्चा औरत

: में रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर बकरी और स्त्री ने जिन बच्चों को जन्म दिया, वे स्वस्थ और ाभाविक रहे।

(२) आज के आश्चर्यों में यही एक आश्चर्य नहीं है। 'नवभारत टाइम्स' ५ तथा ७ नवम्बर १९५९) में मास्को का एक समाचार प्रकाशित हुआ कि डा० ब्लादीमीर देमिखोव ने एक कुत्ते में एक अतिरिक्त हृदय लगा या। और, वह दो हृदयों वाला कुत्ता जीवित ही रहा। इसी प्रकार उन्होंने क कुत्ते में एक अतिरिक्त सिर लगा कर उस दो सिर वाले कुत्ते को भी वित रखा। उक्त डाक्टर का कथन है कि आज से ५० वर्ष बाद अवयवों ा प्रतिस्थापन उपचार की सब से लोकप्रिय और सुरक्षित प्रणाली होगी। धेड़ उम्र के आदमी का हृदय, फेफड़ा, गुर्दा अथवा जिस अवयव की ावश्यकता होगी, बदल दिया जा सकेगा। और, तब मनुष्य १५० से २०० र्षों तक स्वस्थ रूप में जीवित रह सकेगा।

(३) इसी प्रकार का एक विवरण ओमप्रकाश ने 'नवनीत' (जुलाई १९५४, ृष्ठ ४१) में अपने लेख 'नारी नहीं अब बोतलें बच्चों को जन्म देंगी' में रखा है—

"कोलम्बिया-विश्वविद्यालय के एक गवेषक डॉक्टर लैड्रम शैटील्स ने ृत्रिम रूप से शुक्र और रजकणों का संयोग कराया है और कृत्रिम डिम्ब-ोषों में कृत्रिम गर्भ को पैदा करके उसके ५० घण्टे तक बिना गर्भाशय के ज़िन्दा रखा है।

(४) आज विज्ञान हमारे सम्मुख जो आश्चर्य प्रत्यक्ष कर रहा है, उसे देखकर ी जो लोग विज्ञान की ही दुहाई देकर गर्भपरिवर्तन-सरीखी बात को ासम्भव मानते हैं, उनको क्या कहा जाये। यह वस्तुतः उनकी अज्ञानता ै। आदमी किसी चीज को न देखे और तब असम्भव माने तो ठीक है, पर स युग में कितनी कल्पना से भी परे वस्तु को आँख से देखकर भी गर्भ-

—परिवर्तन को 'असम्भव' कहना ऐसे विचारवालों की भूल है।

कुछ आश्चर्य

ऐसे आश्चर्यों की कहानी कुछ कम नहीं है। 'तुजक-जहांगीरी' में एक बैल का उल्लेख है, जो दूध देता था। उसी प्रकार का एक विवरण दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान' (७-१०-५९) में निकला है कि झांसी में एक बछिया बिना-ब्याए दूध देती है।

महावग्ग (पृष्ठ ९२) में 'उभतोव्यंजनक' शब्द का उल्लेख आया है-जिसका अर्थ है, पुरुष और स्त्री दोनों लिंगों वाला व्यक्ति! इन सबको आश्चर्य नहीं तो क्या कहें!

(३)

स्वप्न-दर्शन

देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में बयासी अहोरात्र रहने के बाद हरिणेगमेषि देव ने तिरासीवें दिन की मध्यरात्रि में (आसो वदि तेरस की रात्री को) भगवान् महावीर को त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित किया, उसके बाद पश्चिम याम में त्रिशला क्षत्रियाणी ने चौदह स्वप्न देखे। उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१, सिंह, २ हाथी, ३ वृषभ, ४ श्री देवी (लक्ष्मी देवी), ५ फूलों की दो माला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ ध्वजा, ९ कलश, १० पद्म-सरोवर, ११ क्षीर-समुद्र, १२ देव-विमान, १३ रत्नों की राशि और १४ निर्धूम अग्नि।

इन चौदह उत्तम स्वप्नों को देखकर वह जाग्रत हुई और राजा सिद्धार्थ के पास जाकर उन्होंने स्वप्नों की बात कही। राजा इससे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा "हे देवानुप्रिये! तुमने बड़े उदार एवं कल्याणकारी

...प्न, देखे है। इससे अर्थ की प्राप्ति, भोग की प्राप्ति, पुत्र की प्राप्ति, सुख प्राप्ति और यावत् राज्य की प्राप्ति होगी।"

महाराज सिद्धार्थ ने संक्षेप में स्वप्नों का फल कहा।

महाराज द्वारा अपने स्वप्नों का फल सुनकर, रानी त्रिशला बड़ी संतुष्ट ई। इस प्रकार सिद्धार्थ के वचन को हृदय में स्मरण रखती हुई, महारानी ...शला वहाँ से उठकर अपने शयनागार में गयीं। और, मंगलकारी चौदह ...हास्वप्न निष्फल न हों, इस विचार से वह शेष रात जगती रहीं।

प्रातःकाल राजा सिद्धार्थ शैय्या-त्यागने के पश्चात् प्रातः-कृत्यों से मुक्त हो ...हाँ अट्टनशाला (व्यायामशाला[१]) थी, वहाँ गये। और नाना प्रकार के परिश्रम ...ये। (१) योग्य[२]—शस्त्रों का अभ्यास (२) वल्गन-कूदना (३) व्यामर्दन-एक-...सरे की भुजा आदि अंगों को मरोड़ना, (४) मल्लयुद्ध—कुश्ती करना और (५) करण[३]—पद्मासन आदि विविध आसन। इन व्यायामों को करने से वे जब ...रिश्रान्त हो गये और उनके सब अंग अत्यन्त थक गये; तब थकान को दूर ...रने के लिये विविध औषधों से युक्त करके सौ बार पकाये गए अथवा ...जसको पकाने में सौ सुवर्ण-मोहरें लगें, ऐसे शतपाक-तेल से और जो ...ज़ार बार पकाया गया हो या जिसको पकाने में हजार स्वर्ण-मोहरें ...गी हों, ऐसे सहस्रपाक-तेल आदि सुगंधित तेलों से मर्दन (मालिश) ...राने लगे। मर्दन अत्यन्त गुणकारी, रस, रुधिर और धातुओं ...ी वृद्धि करनेवाला, क्षुधाग्नि को दीप्त करनेवाला, बल, मांस ...ौर उन्माद को बढ़ानेवाला, कामोद्दीपक, पुष्टिकारक और सब इन्द्रियों को ...ुखदायक था। अंगमर्दन करने वाले भी संपूर्ण अंगुलियों सहित सुकुमार ...ाथ-पैर वाले, मर्दन करने में प्रवीण और अन्य मर्दन करने वालों से विशे-...ज्ञ, बुद्धिमान तथा परिश्रम को जीतनेवाले थे। उन मर्दन करनेवालों ने ...स्थि, मांस, त्वचा और रोंगटे इन चारों का सुखदायक मर्दन किया।

१—कितने लोग अज्ञानवश व्यायाम का विरोध करते हैं। यह उनकी भूल ...। जैन-आगमों, चरित्रों सभी से यह बात प्रमाणित है कि, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, ...ासुदेव, बल्देव, प्रति-वासुदेव तथा गृहस्थ सभी व्यायाम करते थे। 'अट्टन-

इसके बाद राजा सिद्धार्थ ने व्यायामशाला से निकलकर मोतियों से व्याप्त गवाक्षवाले, अनेक प्रकार के चन्द्रकान्तादि तथा वैडूर्यादि रत्नों से मंडित आंगनवाले मज्जन-घर (स्नानगृह) में प्रवेश किया। मणि-रत्नों से युक्त

(पृष्ठ १२३ की पाद टिप्पणी का शेषांश)

शाला'—व्यायामशाला—का उल्लेख ज्ञाताधर्मकथा (एन० वी० वैद्य-सम्पादित) पृष्ठ ६; भगवती सूत्र शतक ११, उद्देसा ११, पत्र ९८६-२; औपपातिक सूत्र सूत्र ३१ (पत्र १२२-२) में तथा 'व्यायाम' का उल्लेख औपपातिकसूत्र सूत्र ३१ (पत्र १२२-१), ज्ञाताधर्मकथा पृष्ठ ६, राजप्रश्नीय (बाबूवाली) पृष्ठ ११, स्थानांग १,१ में आता है। जैन-आगमों में कुश्ती लड़ने के अखाड़ों का भी उल्लेख है। राजप्रश्नीय (बेचरदास-सम्पादित) पत्र ६७ तथा २१५-भगवती सूत्र शतक ६, ५ (बेचरदास-सम्पादित पृष्ठ ३०७) तथा स्थानांग ४, २ (पत्र २३०, १) में आता है।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने गृहस्थ-जीवन में ७२ कलाएं बतायी हैं। उनमें भी मल्लयुद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध धनुर्वेद आदि युद्ध तथा युद्ध-कला, व्यूह-रचना आदि के उल्लेख हैं। स्पष्ट रूप से इनका सम्बंधन शारीरिक पुष्टि से है।

जैन-शास्त्रों में भी व्यायाम को कुछ कम महत्व नहीं दिया है और व्यायाम को गृहस्थों की दिनचर्या का आवश्यक अंग बताया गया है।

बात स्पष्ट है कि जब तक शरीर पुष्ट नहीं होगा, व्यक्ति न तो व्यावहारिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है और न धार्मिक ही। बिना शरीर की पुष्टि के (रोगी शरीर से) देवपूजा, सामयिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास आदि धार्मिक कृत्य कोई भला क्या कर सकेगा। जैन-शास्त्रों में कहा गया है 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा।'

२–(अ) 'खुरली तु श्रमो योग्याऽभ्यासः

—अभिधान-चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लोक ४५२, पृ. ३११

(आ) योग्या—शस्त्राद्यभ्यासः—कल्पसूत्र दीपिका पत्र ५२।२

३—कुमारपाल-चरित्र (प्राकृत द्व्याश्रय काव्य) हेमचन्द्राचार्य रचित (बाम्बे-संस्कृत-सिरीज) पृष्ठ २६६ (८–१७), ३२४।

स्नान-पीठ पर बैठे। और, अनेक प्रकार के पुष्पों के रस-मिश्रित चन्दन, कर्पूर, कस्तूरी-युक्त, पवित्र, निर्मल, सुगन्धि ईषद उष्ण जल से कल्याण-कारक विधि से स्नान किया। तदनन्तर सुगन्धित द्रव्यों से वासित वस्त्र से शरीर को पोंछ कर प्रधान वस्त्र धारण किये। गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। पवित्र पुष्पमालाएं पहनीं। मणि, रत्न और सुवर्ण के बने हुए आभूषण पहने। अठारह, नव, तीन और एक लड़ी के हार गले में धारण किये। कीमती हीरों और मणियों से जड़े हुए मोतियों के लम्बे-लम्बे फुंदों सहित कमर में कटिभूषण पहना। हीरे, माणिक्य आदि के कंठे पहने। अंगुलियों में अंगूठियां पहनीं। अनेक प्रकार के मणियों से बने हुए, बहु मूल्यवान जड़ाऊ कड़े हाथों में तथा भुजाओं में पहने। इस प्रकार कुण्डलों से युक्त राजा का मुखमण्डल सुशोभित होने लगा। मुकुट से मस्तक दीपने लगा। अंगूठियों से अंगुलियां चमकने लगीं। जिस प्रकार कल्पवृक्ष पुष्प-पत्तों से अलंकृत होता है, उसी प्रकार सिद्धार्थ राजा आभूषणों से अलंकृत और वस्त्रों से विभूपित दिखने लगे। वह कोरंट-वृक्ष के श्वेत-पुष्पों की माला से सुशोभित थे और मस्तक पर छत्र धारण किये हुए थे। उज्जवल चामर झले जा रहे थे। चारों ओर लोग राजा की जय-जयकार कर रहे थे। इस प्रकार सब तरह से अलंकृत होकर, गणनायक (स्व-स्व समुदाय स्वामिन–गण का स्वामी), दंडनायक (तंत्रपालाः स्वराष्ट्र-चिन्ताकर्ता––तन्त्र का पालन करने वाला, अपने राष्ट्र की चिन्ता करने वाला), तलवर (तुष्टभूपाल प्रदत्त पट्टबन्ध विभूपित—वह अधिकारी जिस पर प्रसन्न होकर राजा ने उसे पट्टबंध से विभूपित किया हो), राइसर [राय-राजा (मांडलिक) ईश्वर, युवराज] मांडंबिक (मडंब-स्वामिनः—जिसके चारों ओर आधे योजन तक ग्राम न हो उसे मडम्ब कहते हैं और ऐसे मडंब के स्वामी माडम्बिक), कौटुम्बिक (कतिपय कुटुम्ब स्वामिनः—कतिपय कुटुम्बों के स्वामी), मन्त्री (राज्याधिष्ठायकाः सचिवाः), महामन्त्री (विशेषाधिकारवन्तः) गणक (ज्योतिषिकाः—ज्योतिषी), दौवारिक (प्रतिहाराः—द्वारपाल) अमात्य (सहजन्मो मंत्रिणः—मन्त्री), चेट (दास), पीठमर्दक (पीठे आसनं मर्दयन्तीति पीठमर्दक—आसन्नसेवकाः वयस्या इत्यर्थः, निकट

रहकर सेवा करनेवाला), नागर (नगर-निवासी) लोका:—नगर-निवासी जन), निगम (वणिजः—व्यापार करने वाला), श्रेष्ठि, (नगर मुख्य व्यवहारिणः—नगर का मुख्य व्यवसायी), सेनापति (चतुरंगसेनाधिकारिणः), सार्थवाह (सार्थनायका:), दूत (अन्येषां गत्वा राजादेश निवेदकाः) संधिपाल (संधिरक्षका—संधि की रक्षा करनेवाला) इत्यादि के साथ मज्जनघर से निकल कर महाराज सिद्धार्थ सभामण्डप में आये। वहाँ महाराज के सिंहासन से निकट ही महारानी त्रिशला के लिए यवनिका के पीछे रत्नजटित भद्रासन रखा था।

दरबार में पहुँचकर महाराज सिध्दार्थ ने कौटुम्बिक को बुलाकर अष्टांग-निमित्त शास्त्रों के जानने वाले स्वप्न-पाठकों को बुलाकर दरबार में आने की आज्ञा दी। महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके, कौटुम्बिक दरबार से विदा होकर, स्वप्न-पाठकों के घर गया और महाराज का आदेश उन्हें सुनाया।

महाराज का आदेश सुनकर स्वप्नपाठकों ने स्नान किया, देवपूजा की, तिलक लगाया। दुःस्वप्न नाश के लिए दधि, दूध और अक्षत से मंगल करके निर्मल वस्त्र धारण किये। आभूषण पहने और मस्तक पर श्वेत सरसों तथा दूर्वा लगाकर क्षत्रियकुंडनगर के मध्यभाग से होते हुए, वे राजदरबार के द्वार पर गये। दरबार के द्वार पर एकत्र होकर, स्वप्नपाठकों ने परस्पर विचार-विमर्श किया और अपना एक अगुआ चुना।

स्वप्न पाठकों ने आकर स्वप्नो का फल इस प्रकार कहा:—

एवं खलु देवाणुप्पिआ! अम्हं सुमिणसत्थे बायालीसं सुमिणा तीसं महासुमिणा, बावत्तरिं सव्वसुमिणा दिट्ठा। तत्थ णं देवाणुप्पिआ! अरहंतमायरो वा, चक्कवट्टिमायरो वा, अरहंतंसि वा, चक्कवट्टिंसि वा, गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महासुमिणाणं इमे चउदस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७३ ॥

तं जहा—गय वसह सीह अभिसेअ दाम ससि दिणयरं झयं कुम्भं।
पउमसर सागर विमाण भवण रयणुच्चयसिहिं च ॥ ७४ ॥

वासुदेव मायरो वा वासुदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरे सत्त महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७५ ॥

वलदेव मायरो वा बलदेवंसि गब्भं वक्कममाणंसि एसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरे चत्तारि महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७६ ॥

मंडलियमायरो वा मंडलियंसि गब्भं वक्कममाणंसि एएसिं चउद्दसण्हं महासुमिणाणं अण्णयरं एगं महासुमिणं पासित्ता णं पडिबुज्झंति ॥ ७७ ॥

—कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृष्ठ १८७ से १८६।

इसी प्रकार भगवती-सूत्र में १६ वें शतक के छठे उद्देशा में स्वप्नों का वर्णन दिया गया है।

"......कति णं भंते ! सुविणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! बायालीसं सुविणा पन्नत्ता, कइ णं भंते ! महासुविणा पण्णत्ता ?, गोयमा ! तीसं महासुविणा पण्णत्ता, कति णं भंते ! सव्वसुविणा पण्णत्ता ? गोयमा! बावत्तरिं सव्वसुविणा पण्णत्ता। तित्थयरमायरो णं भंते! तित्थगरंसि गब्भं वक्कममाणंसि कति महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति ? गोयमा ! तित्थयरमायरो णं तित्थयरंसि गब्भं वक्कमंमाणंसि एएसिं तीसाए महासुविणाणं इमे चोद्दस महासुविणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति, तं० गयउसभसीह अभिसेय-जावसिहिं च। चक्कवट्टिमायरो णं भंते ? चक्कवट्टिंसि गब्भं वक्कममाणंसि कति महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुज्झंति ?, गोयमा ? चक्कवट्टिमायरो चक्कवट्टिंसि जावबक्कममाणंसि एएसिं तीसाए महा सु० एवं जहा तित्थगरमायरो जाव सिहिं च। वासुदेवमायरो णं पुच्छा, गोयमा ! वासुदेवमायरो जाव वक्कममाणंसि एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरे सत्त महासुविणे पासित्ताणं पडिबु०। बलदेवमायरो वा णं पुच्छा, गोयमा ! बलदेवमायरो जाव एएसिं चोद्दसण्हं महासुविणाणं अन्नयरे चत्तारि महासुविणे पासित्ताणं पडि०। मंडलियमायरो णं भंते !

पुच्छा०, गोयमा ! मंडलियमायारो जाव एएसिं चोद्दसण्हं महा
अन्नयरं एगं महं सुविणं जाव पडिबु० (सूत्र ५७९)

—व्याख्या प्रज्ञप्ति अभयदेवी-वृत्ति भाग ३, शतक १६,
उद्देसा ६, पत्र १३०४-१३

अर्थात्—हे देवानुप्रिय ! हे सिद्धार्थ राजन ! हमारे स्वप्न-शास्त्र
सामान्य फल देनेवाले बयालिस और
बतलाये हैं। ऐसे सब मिलाकर बहत्तर
तीर्थंकर–की माताएँ और चक्रवर्ती की माताएँ जब तीर्थंकर या चक्रवर्ती
का जीव गर्भ में आता है, तब तीस महास्वप्नों में से चौदह महास्वप्न देख
हैं। वासुदेव की माता जब वासुदेव का जीव गर्भ में आता है तब तं
महास्वप्नों में से सात महास्वप्न[2] देखती है। बलदेव की माता जब बल
का जीव गर्भ में आता है, तब उन तीस महास्वप्नों में से चार[3] महास्व
देखती है। मांडलिक-देशाधिपति की माता जब मांडलिक का जीव गर्भ

१–(अ) सार्वभौमस्य मातापि स्वप्नानेतान्निरीक्षते।
किन्तु किंचिन्न्यूनकान्ती–नर्हन्मातुरपेक्षया ॥५६॥
—श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १६८

(ब) चतुर्दशाप्यमून्स्वप्नान् या पश्येत्किंचिदस्फुटान्।
सा प्रभो प्रमदा सूते नन्दनं चक्रवर्तिनम् ॥८१॥
—श्रीवर्धमान सूरिकृत श्री 'वासुपूज्य-चरित', सर्ग ३, पृष्ठ ८१

२–(अ) यामिन्याः पश्चिमे यामे सूचका विष्णुजन्मनः।
देव्या ददृशिरे स्वप्नाः सप्तैते सुखसुप्तया ॥२१७॥
—त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व ४, सर्ग १

(ब) १ सिंह, २ सूर्य, ३ कुम्भ, ४ समुद्र, ५ लक्ष्मी, ६ रत्नराशि
७ अग्नि–ये सात स्वप्न वासुदेव की माता देखती है।
—सेन प्रश्न, पृ. १३६

३–(अ) ददर्श सुखसुप्ता च यामिन्याः पश्चिमे क्षणे।
चतुरः सा महास्वप्नान् सूचकान् बलजन्मनः ॥ १६८ ॥
—श्री त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व ४, सर्ग १

(ब) १ हाथी, २ पद्मसरोवर, ३ चन्द्र, ४ वृषभ ये चार स्वप्न
बलदेव की माता देखती है। —सेन प्रश्न, पृष्ठ १३६

(क) चतुरो बलदेवाम्बा........॥५६॥
—श्रीकाललोकप्रकाश सर्ग ३०, पृष्ठ १६६

आता है, तब वह तीस महास्वप्नों में से एक[1] महास्वप्न देखती है।

इसमें प्रतिवासुदेव की माता को कितने स्वप्न आते हैं, इसका उल्लेख हीं किया गया है। प्रतिवासुदेव की माता को तीन स्वप्न आते हैं, ऐसा हुत स्थानों[2] पर उल्लेख पाया जाता है। कहीं पर ऐसा भी उल्लेख मिलता कि उसे एक स्वप्न[3] आता है।

श्री समवायाङ्ग सूत्र के ५४-वें समवाय में ५४ महापुरुषों का उल्लेख रते हुए लिखा है कि—

"भरहेरवएसु णं वासेसु एगमेगाए उस्सप्पिणीए ओसप्पिणीए उवन्नं चउवन्नं उत्तमपुरिसा उप्पज्जिंसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति ।, तं जहा-चउवीसं तित्थकरा बारस चक्कवट्टी नव बलदेवा नव ासुदेवा......(सूत्र ५४) समवायांग सूत्र सटीक, पत्र ६८-२

अर्थात्-भरत और ऐरवत-क्षेत्रों में प्रत्येक उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी ं चउपन महापुरुष उत्पन्न होते हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ लदेव और ९ वासुदेव। इन चउपन महापुरुषों में प्रतिवासुदेव का उल्लेख

१-..............एकं माडलिकप्रसूः ॥५९॥
—श्रीकाललोक प्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १९९

२-(अ) प्रतिकेशवमाता तु त्रीन् स्वप्नानवलोकयेत् ।
..................................॥६०॥
श्रीकाललोक प्रकाश, सर्ग ३०, पृष्ठ १९९

(ब) प्रतिवासुदेवे गर्भावतीर्णे तन्माता कियतः स्वप्नान् पश्यतीत्यत्र त्रीन् स्वप्नान् पश्यतीति ज्ञायते... ।
—हीरप्रश्न, प्रकाश ४, पृष्ठ २३६

३-अन्यदा कैकसी स्वप्ने विशन्तं स्वमुखे निशि ।
कुंभिकुम्भस्थली भेदप्रसक्तं सिंहमैक्षत ॥ १ ॥
—श्री त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्त, सर्ग-७ पर्व १

नहीं किया गया है ; यद्यपि हेमचन्द्राचार्य-कृत 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित' में वर्णित ६३ शलाका-पुरुषों में प्रतिवासुदेवका भी समावेश है। अतः मालूम होता है कि शास्त्रकारों ने इनका समावेश मांडलिकों में किया है।

स्वप्न-शास्त्रियों ने महाराजा सिद्धार्थ से कहा:—"त्रिशला देवी ने चउदह महास्वप्न देखे हैं। अतः हे राजन्, इससे अर्थ का लाभ होगा, पुत्र का लाभ होगा, सुख का लाभ होगा और राज्य का लाभ होगा और नवमास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर कुल में केतु-समान, कुल में दीप-समान, कुल में पर्वत-समान, कुल में मुकुट-समान, कुल में तिलक-समान, कुल की कीर्ति करने वाला, कुल का निर्वाह करनेवाला, कुल में सूर्य-समान, कुल का आधार, कुल की वृद्धि करनेवाला, कुल के यश को करनेवाला, कुल में वृक्ष-समान, कुल की परम्परा को बढ़ानेवाला, सुकुमार हाथ-पैरोंवाला, पूर्ण पंचेन्द्रिय शरीरवाला, लक्षण[1] और व्यंजनों के गुणों से युक्त, मान-उन्मान-मानोन्मान प्रमाणों से सर्वांगसुन्दर, चन्द्र के समान शान्त आकारवाला, प्रियदर्शन, सुरूप पुत्र का प्रसव करेंगी।

और, वह बालक बाल्यावस्था को जब समाप्त करेगा, तब परिपक्वज्ञान-वाला होगा, जब युवावस्था को प्राप्त करेगा तब दान में शूरवीर, संग्राम में पराक्रमी और अन्त में चार दिशाओं का स्वामी चक्रवर्ती राजा होगा या

१—यहाँ लक्षण से मतलब है छत्र-चामरादि। ये लक्षण तीर्थंकर और चक्रवर्ती को १००८ होवे हैं। वासुदेव और बलदेव को १०८ होवे हैं और अन्य पुरुषों को ३२ होते हैं। ये लक्षण हैं:—

१ छत्र, २ कमल, ३ धनु, ४ रथ, ५ वज्र, ६ कछुआ, ७ अंकुश, ८ बावड़ी, ९ स्वस्तिक, १० तोरण, ११ सरोवर, १२ सिंह, १३ वृक्ष, १४ चक्र, १५ शङ्ख, १६ हाथी, १७ समुद्र, १८ कलश, १९ प्रासाद, २० मीन, २१ यव, २२ यज्ञस्तंभ, २३ स्तूप, २४ कमण्डलु, २५ पर्वत, २६ चामर, २७ दर्पण, २८ बैल, २९, ध्वजा, ३० अभिषेक ३१ वरदाम और ३२ मयूर,

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र १५

चार गति का अन्त करने वाला धर्मचक्रवर्ती तीन लोक का नायक तीर्थंकर होगा।

उसके बाद उन स्वप्न पाठकों न पृथक-पृथक चउदह स्वप्नों का फल कहा :—

१—चार दाँतवाले हाथी को देखने से वह जीव चार प्रकार के धर्म को कहने वाला होगा।

२—वृषभ को देखने से इस भरतक्षेत्र में बोधि-बीज का वपन करेगा।

३—सिंह को देखने से कामदेव आदि उन्मत हाथियों से भग्न होते भव्य-जीवरूप वन का रक्षण करेगा।

४—लक्ष्मी को देखने से वार्षिक-दान देकर तीर्थंकर-ऐश्वर्य को भोगेगा।

५—माला देखने से तीन भुवन के मस्तक पर धारण करने योग्य होगा।

६—चन्द्र को देखने से भव्य जीव रूप चन्द्रविकासी कमलों को विकसित करने वाला होगा।

७—सूर्य को देखने से महा तेजस्वी होगा।

८—ध्वज को देखने से धर्मरूपी ध्वज को सारे संसार में लहराने वाला होगा।

९—कलश को देखने से धर्मरूपी प्रासाद के शिखर पर उनका आसन होगा।

१०—पद्मसरोवर को देखने से देवनिर्मित सुवर्ण कमल पर उनका विहार होगा।

११—समुद्र को देखने से केवल-ज्ञानरूपी रत्न का धारक होगा।

१२—विमान को देखने से वैमानिक-देवों से पूजित होगा।

१३—रत्नराशि को देखने से रत्न के गर्हों से [illegible]

१४—निधूर्म अग्नि को देखने से भव्य प्राणि[illegible] करने वाला होगा।

इन चौदह महास्वप्नों का समुचित फल यह है कि वह चौ[illegible] राजलोक के अग्रभाग पर स्थित सिद्धशिला के ऊपर निवास क[illegible] वाला होगा।

७२ स्वप्न

भगवतीसूत्र सटीक (शतक १६, उद्देशा ६, सूत्र ५८१, पत्र १३०६-१३[illegible] में ४७ स्वप्न गिनाये गये हैं। १४ स्वप्न तीर्थंकर की माता देखती हैं। [illegible] महास्वप्न भगवान् महावीर ने छद्मस्थ काल में हस्तिग्राम के बाहर [illegible] यक्ष के मंदिर में देखे थे। इस प्रकार कुल ७१ स्वप्न होते हैं। तीर्थंकर [illegible] माता के स्वप्नों में विमान अथवा भवन है। इस प्रकार यह एक [illegible] लेकर ७२ स्वप्न हुए। भगवती-सूत्र में गिनाये स्वप्न इस प्रकार हैं :—

१ हयपंक्ति २ गजपंक्ति ३ नरपंक्ति ४ किन्नरपंक्ति ५ किंपुरुषपं[illegible] ६ महोरग पंक्ति ७ गंधर्वपंक्ति ८ वृषभपंक्ति ९ दामिणी १० [illegible] ११ कृष्णसूत्र १२ नील सूत्र १३ लोहितसूत्र १४ हरिद्रासूत्र १५ [illegible] गून १६ अयुरासि १७ तम्बरासि १८ तउयरासि १९ सीसग[illegible] २० हिरण्यरासि २१ सुवर्णरासि २२ रत्नरासि २३ वइररासि २४ तृण[illegible] २५ कट्ठरासि २६ पत्ररासि २७ तयारासि २८ भुसरासि २९ तुं[illegible] रासि ३० गोमयरासि ३१ अवकर रासि ३२ दारस्तम्भ ३३ वोलि[illegible] स्तम्भ ३४ वंशीमूल स्तम्भ ३५ वल्लीमूल स्तम्भ ३६ क्षीरकुम्भ ३७ द[illegible] कुम्भ ३८ घृतकुम्भ ३९ मधुकुम्भ ४० सुराविययडकुंभ ४१ सोवीरवियड[illegible] कुंभ ४२ तेल्लकुंभ ४३ वसाकुंभ ४४ पद्मसरोवर ४५ सागर ४६ भव[illegible] ४७ विमान।

सूरत से प्रकाशित श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति की टीका में 'जाव' से समझे ज[illegible] वाले अन्य स्वप्न तो ठीक लिखे हैं, पर गिनानेवाला 'पट्ठरासि' भूल [illegible]

ग्ती-सूत्र के १५-वें शतक के 'तेयनिसग्ग' उद्देसे में (सूत्र ५५३, पत्र ८७) 'तृण' से 'अवकर' राशि के बीच में 'कट्ठराशि' भी आयी है।

जन्म

जिस दिन से भगवान् महावीर त्रिशला के गर्भ में आये, उसी दिन से ा सिद्धार्थ के कुल में हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, प्रेम-सत्कार तथा राज्य वृद्धि होने लगी। अतः मात-पिता ने यह संकल्प किया कि जब यह लड़का न्न होगा, तब इसका नाम गुण निष्पन्न 'वर्द्धमान' [१] रक्खेंगे।

तीर्थंकर का जीव जब गर्भ में आता है तो वह मति [२], श्रुत [३] और धि [४] इन तीनों ज्ञानों से सम्पन्न होता [५] है। भगवान् महावीर भी

१– कल्पसूत्र, सूत्र १०९ सुबोधिका टीका पत्र २०४–२०५

२– तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, प्रथम अध्याय.

मन से युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूप आदि विषयों का जो प्रत्यक्ष ा होता है वह मतिज्ञान है!

—'जैन-दर्शन', खण्ड तीसरा, पृष्ठ २८७

३– श्रुतं मतिपूर्वं......॥ २० ॥

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रथम अध्याय

"इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तद्वारेण उपजायमानं सर्वं मतिज्ञानमेव, केवलं परोपदेशात् आगमवचनाच्च भवन् विशिष्टः कश्चिन्मतिभेदः एव ं, नान्यत्।"

—मलधारिरचित विशेषावश्यक भाष्य टीका गाथा ८६, पत्र ५७

४– अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्य-चरमवधिज्ञानम् ॥ २१ ॥

—प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, द्वतीय परिच्छेदः।

अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है।

—'जैन-दर्शन', तृतीय खण्ड, पृष्ठ २६७

५–कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र ३, पत्र २७

जब गर्भ में थे, तो इन तीनों ज्ञानों से युक्त थे। एक दिन इनको विचा
हुआ कि मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता है। अतः उन्होंने गर्भ
में हिलना-डुलना बन्द कर दिया और अंगोपांग का हिलाना-डुलाना बन्द
करके वे अकम्पित हो गये।

आपके हिलना-डुलना बन्द कर देने से, माता त्रिशला को यह शंका
हुई कि, क्या किसी देवादिने मेरे गर्भ को हरण कर लिया है या मेरा गर्भ
मर गया है या गल गया है; क्योंकि अब हिलता-डुलता नहीं है। माता
त्रिशला को दुःखी देखकर सखियों ने उनसे पूछा—'आपका गर्भ तो कुशल
है न ?" इस प्रश्न को सुनकर माता त्रिशला ने अपनी आशंका प्रकट की
और मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ीं। उपचार किया गया और वे ठीक
ही चेतना युक्त हुई और चेतना युक्त होते ही चिन्ता से रुदन करने लगीं।
उनको इतनी चिन्तित देखकर वृद्धा नारियाँ शांति, मंगल, उपचार द्वारा
मानताएं मानने लगी और ज्योतिषियों को बुलाकर उनसे प्रश्न पूछने लगीं।

रनवास के इस समाचार से राजा सिद्धार्थ भी चिंतित हो गये और
उनके समस्त मन्त्री किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। इस प्रकार समस्त राज-भवन
में राग-रंग समाप्त हो गया।

इस प्रकार की दशा देखकर भगवान् ने सोचा—"मैंने तो माता के
सुख के लिये यह सब किया; परन्तु उसका परिणाम विपरीत हुआ। अतः
अवधिज्ञान से माता की मनोदशा जानकर, भगवान् महावीर ने अपने शरीर
का एक भाग हिलाया।

तब त्रिशला क्षत्रियाणी अपने गर्भ की कुशलता जानकर हर्ष से पुल
कित हो उठी और बोल उठीं—"मेरा गर्भ हरा नहीं गया है और न
मरा ही है। वह पहले के समान हिल-डुल भी रहा है।" और, स्वयं को
को धिक्कारने लगी कि मैंने ऐसा अमंगल चिंतन क्यों किया! रानी त्रिशला
को हर्षित देखकर समस्त राजभवन में पुनः आनन्द की तरंगें व्याप्त हो गयीं!

यह घटना उस समय की है, जब भगवान् महावीर को गर्भ में आये ६
मास व्यतीत हो चुके थे। इस घटना में माता-पिता की चिन्ता को देखकर

गर्भ में ही भगवान् ने यह प्रतिज्ञा की—"माता-पिता के जीवित रहते मैं दीक्षा नहीं ग्रहण करूँगा। मेरे गर्भ में रहने पर ही जब माता का इतना स्नेह है, तो मेरे जन्म के बाद ये मुझे कितना स्नेह करेंगी।"

गर्भ को सुरक्षित जानकर माता त्रिशला ने स्नान किया, पूजन किया, तथा कौतुक-मंगल करके सर्व प्रकार के आभूषणों से विभूषित हुईं। उस गर्भ को त्रिशला माता न अति ठण्डे, न अति गर्म, न अति तीखे, न अति कड़वे, न अति कसैले, न अति खट्टे, न अति चिकने, न अति रूखे, न अति आर्द्र, न अति सूखे, सर्व ऋतुओं में सुखकारी इस प्रकार के भोजन, आच्छादन, गन्ध और पुष्प-माला आदि से पोषण करने लगी।

वृद्धा नारियाँ त्रिशला माता को उपदेश देतीं—"हे देवि ! आप धीरे-धीरे चला करें, धीरे-धीरे बोला करें, क्रोध को त्याग दें, पथ्य वस्तुओं का सेवन करें, नाड़ा ढीला बाँधा करें, खिलखिलाकर न हँसें, खुले आकाश में न बैठें, अतिशय ऊँचे या नीचे न जाएँ।" माता त्रिशला गर्भ के रक्षण के समस्त उपायों को कार्य में लातीं।

गर्भ के समय उनके मन में जो प्रशस्त दोहद (इच्छाएँ) उत्पन्न हुए, वे सब दोहद पूर्ण किये गये। इस प्रकार सभी इच्छाएँ पूर्ण होने पर दोहद शान्त हो गये।

चैत्र मास की शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन, ६ मास और ७॥ दिन सम्पूर्ण होने पर, त्रिशला माता ने पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह उच्च स्थान में थे। उस समय सातों ग्रह उच्च स्थानों में थे। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग आया था। सब दिशाएँ शान्त और विशुद्ध थीं। सब शकुन जयविजय के सूचक हो रहे थे। वायु अनुकूल और मन्द-मन्द चल रही थी। मेदिनी अनाज से परिपूर्ण थी। समग्र देश आनन्द में विभोर था। ऐसे समय मध्यरात्रि को ध्रुव योग, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चंद्र का योग आने पर त्रिशला क्षत्रियाणी ने आरोग्यपूर्ण पुत्र को जन्म दिया।

कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका में ग्रहों की उच्चता इस प्रकार दर्शित की गयी है :—

अर्कार्द्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन ६ वणिजों ७ अंशे
दिग १० दहना ३ ष्टाविंशति २८ तिथि १५षु नक्षत्र २७ विंशतिः

मेषे	सूर्यः	१०
वृषे	सोमः	३
मृगे	मंगलः	२८
कन्यायां	बुधः	१५
कर्के	गुरुः	५
मीने	शुक्रः	२७
तुलायां	शनिः	२०

भगवान् महावीर का जन्मोत्सव

भगवान् के जन्म के समय ५६ दिक् कुमारियाँ आयीं और भगवान् का सूतिका-कर्म करके जन्मोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चली गयीं।

भगवान् महावीर का जन्म होते ही सौधर्म-देवलोक का इन्द्रासन कम्पायमान हुआ। अवधिज्ञान से इन्द्र को पता चल गया कि भगवान् महावीर का जन्म हो गया है। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और अपने परिवार के देव-देवियों को लेकर वह इन्द्र कुण्डपुर की ओर चला। उनके साथ चारों निकाय के भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवलोक के देव और इन्द्र भी थे। उस समय देवों में परस्पर होड़-सी लग गयी थी और सभी एक दूसरे से पहले पहुँचने के लिए सचेष्ट थे। इन्द्र जब कुण्डपुर पहुँचे, तो उन्होंने भगवान् और उनकी माता की तीन बार प्रदक्षिणा की और उनकी माता को प्रणाम करने के बाद अवस्वापिनी निद्रा (एक प्रकार का 'क्लोरोफार्म')

लेकर प्रभु का प्रतिबिम्ब बनाकर वहाँ रख दिया और भगवान को मेरु पर्वत के शिखर के ऊपर ले गये। वहाँ स्नात्राभिषेक करने को जब सब देव जल-कलश लेकर खड़े हुए तो उस समय सौधर्मेन्द्र के मन में शंका हुई कि यह बालक इतने जल का प्रवाह कैसे सहन करेगा ?

भगवान् ने अवधिज्ञान से इन्द्र के मन की शंका को जानकर उसके निवारण के लिए अपने बाएँ पाँव के अँगूठे से मेरु-पर्वत को जरा-सा दबाया तो पर्वत कम्पायमान हो गया[१]। इन्द्र ने ज्ञान से इसका कारण जानना चाहा तो उसको भगवान् की अनन्तशक्ति का ज्ञान हुआ। और, उसने भगवान् से क्षमा याचना की। तब इन्द्र और देवों ने मिलकर भगवान् का जलाभिषेक किया। अभिषेक के बाद उनके अँगूठे में अमृत भरा और नंदीश्वर-पर्वत पर अष्टाह्निक (आठ दिन का) महोत्सव मनाकर और फिर अष्ट मंगल का आलेखन करके स्तुति करके भगवान् को अपने माता के पास वापस रख आया।

प्रातःकाल प्रियंवदा नामक दासी ने, राजा सिद्धार्थ के पास जाकर पुत्र-जन्म की सूचना दी। राजा ने मुकुट छोड़कर अपने समस्त आभूषण दासी को दान में दे दिये और उसे दासीपन से मुक्त कर दिया।

समाचार सुनकर सिद्धार्थ राजा ने नगर के आरक्षकों को बुलवाया और उनको आज्ञा दी—"हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही क्षत्रियकुंड के बन्दीगृह के समस्त कैदियों को मुक्त कर दो। बाजार में आज्ञा कर दो कि जिसे किसी वस्तु की आवश्यकता हो और वह खरीद न सकता हो, तो वह वस्तु उसे बिना मूल्य-लिये दी जाये। उसका मूल्य राज-कोष से दिया जायगा। नाप

१–दिगम्बर ग्रन्थों में भी मेरु-कम्पन का उल्लेख है :—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कंपयन् ।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥

—रविषेणाचार्यकृतपद्मचरितम्, पर्व २, श्लोक ७६, पृष्ठ १५.

और तौलकर दी जानेवाली वस्तुओं के माप में वृद्धि करा दो। क्षत्रियकुण्ड नगर की सफाई कराओ, सुगन्धित जल का छिड़काव कराओ। देवालयों, राजमार्गों आदि को सजाओ। बाजारों आदि में मंच बँधवा दो—जहाँ से बैठकर लोग महोत्सव देख सकें। दीवारों पर सफेदी करवाओ और उन पर थापे लगवाओ। (नट) नाटक करने वालों, (नट्टग) नाचने वालों, (जल्ल) रस्से पर खेल करनेवालों, मल्लों (मल्ल), (मुट्ठि) मुष्टि-युद्ध करनेवाले (विडम्बक) विदूषकों, (पवग) बन्दर के समान उछल-कूद करनेवाले गड्ढे फांदने वाले एवं नदी में तैरनेवाले, (कहग) कथा कहने वालों, (पाठग) सूक्तियों को पढ़ने वाले, (लासग) रास करने वाले, (लेख) बांस पर चढ़ कर खेल करने वाले, (मंख) हाथ में चित्र लेकर भिक्षा मांगने वाले, (तूणइल्ल) तूण नामक वाद्य बजानेवाले (तुम्ब वीणिका) वीणा बजाने वाले और (तालाचरा) तालियां बजानेवाले, मृदंग बजानेवालों से इस क्षत्रियकुण्ड ग्राम को शोभायुक्त करो। ग्राम भर के जुवों और मूसलों को एक जगह एकत्र कर दो ताकि महोत्सव के अंदर कोई हल अथवा गाड़ी न चला सके।"

राजा का आदेश सुनकर जब कर्मचारी चले गये, तो राजा सिद्धार्थ व्यायामशाला में गये। वहाँ स्नान आदि करके वस्त्राभूषण से सुसज्ज होकर राज-सभा में आये। और, बाजे-गाजे के साथ स्थितिपतित[1] नामक दस दिनों का महोत्सव किया।

इस उत्सव-काल में तीसरे दिन चंद्र और सूर्य का दर्शन कराया गया। छठें दिन रात्रिजागरण का उत्सव हुआ। बारहवें दिन नाम संस्कार कराया गया। इस बीच राजा सिद्धार्थ ने अपने नौकर-चाकर, इष्ट मित्र, स्नेहियों और ज्ञातिजनों को आमंत्रित किया और भोजन, पान, अलंकार आदि से सबका सत्कार किया। राजा सिद्धार्थ ने कहा—"जब से यह बालक हमारे कुल में अवतरित हुआ है, तब से हमारे कुल में धन, धान्य कोश, कोष्ठागार, बल, स्वजन और राज्य में वृद्धि हुई है। अतः हम इस

१— कुलक्रमादागते पुत्रजन्मानुष्ठाने नि० १ श्रु० १ वर्ग १ अ० कुलस्य लोकस्य वा मर्यादाया गतायां पुत्रजन्मादिमहोत्सव, भगवती सूत्र ११-११, माया १,१४, राय २८९, विपाक

बालक का नाम 'वर्द्धमान रखेंगे।" राजा के इस प्रकार कहने पर सब ने 'वर्द्धमान' कहकर अपनी जिह्वा को पवित्र किया।

वर्द्धमान का बाल्यकाल राजकुमार की भाँति सुख-समृद्धि और वैभव आनन्द में व्यतीत हुआ। उनके लिए ५ धाएं रखी गयी थीं, जो उनका लालन-पालन करती थीं।

क्रीड़ा

कुमार वर्द्धमान को खेल-कूद में कुछ विशेष रुचि नहीं थी। एक बार जब उनकी उम्र ८ वर्ष से कुछ कम थी, तो अपने समवयस्क बच्चों के कहने से वे प्रमदवन[1] में क्रीड़ा करने के लिए गये और सुंकली (आमल की) क्रीडा खेलने लगे। यह खेल किसी वृक्ष को लक्ष्य करके खेला जाता था। सब लड़के उसकी ओर दौड़ते थे। उनमें जो लड़का सब से पहले उस पर चढ़ जाता था और नीचे उतर जाता था, वह पराजित लड़कों के कंधे पर बैठकर उस स्थान को जाता था जहाँ से दौड़ प्रारम्भ होती थी[3]।

जिस समय कुमार वर्द्धमान इस खेल को खेल रहे थे, उस समय देवेन्द्र शक्र अवधिज्ञान से भगवान को देखकर बोले—"वर्द्धमान कुमार बालक होते हुए भी बड़े पराक्रमशील है। वृद्ध न होते हुए भी बड़े विनयशील है। इन्द्र, देव, दानव कोई भी उनको पराजित नहीं कर सकता।" एक देव को इन्द्र की इस उक्ति पर विश्वास नही हुआ। वह परीक्षा करने के लिए जहाँ वर्द्धमान खेल रहे थे, वहाँ आया। वह देव सर्प का रूप धारण करके उस पीपल के वृक्ष पर लिपट गया। कुमार वर्द्धमान उस समय वृक्ष पर चढ़े हुए थे। सब लड़के उस सर्प के विकराल रूप को देखते ही डर गये। लेकिन, वर्द्धमान कुमार जरा भी विचलित नहीं हुए। वे नीचे उतरे और दाएँ हाथ से उस सर्प को पकड़कर एक ओर डाल दिया।

लड़के फिर एकत्र हो गये और तिंदूसक[4] नामक क्रीड़ा करने लगे। इसमें यह नियम था कि अमुक वृक्ष को लक्ष्य करके लड़के दौड़ें। जो लड़का

१—'पमयवणंसि'त्ति गृहोद्याने'

—ज्ञाताधर्मकथा, अभयदेवसूरिकृत टीका, १।८।७३ पत्र १४।१।१

२—तस्स तेसु रुक्खेसु जो पढमं विलग्गति जो पढमं ओलुभति सो चेड-रुवाणि वाहेति—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र २४६।

३—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र २४६।

४—आवश्यक मलयगिरि-टीका, प्रथम भाग, पत्र २५८-१।

सबसे पहले उस वृक्ष को छू ले, वह विजयी और शेष पराजित। इस बार वह देव लड़के का रूप धारण करके वर्द्धमान कुमार के साथ दौड़ा। कुमार वर्द्धमान ने उसे भी पराजित कर दिया और उस वृक्ष को छू लिया। तब नियम के अनुसार कुमार वर्द्धमान उस लड़के के कन्धे पर चढ़े और निज स्थान पर आने लगे। तब देव ने वर्द्धमान कुमार को डराने के लिए अपना शरीर सात ताड़ प्रमाण ऊँचा बना लिया और बड़ा रुद्र-रूप धारण किया। वर्द्धमान कुमार को दैवी-माया समझते देर न लगी। उन्होंने जोर से उसके मस्तक पर मुष्टिका से प्रहार किया। वह देव इस प्रहार से जमीन में धंस गया। अब उस देव ने अपना असली रूप प्रकट किया। लज्जित होकर वह वर्द्धमान कुमार के चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"इन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, आप उससे भी अधिक धीर तथा वीर हैं।" ऐसा कहकर वह देव अपने स्थान को वापस चला गया। इसी समय स्वयं इन्द्र ने आकर आपका नाम 'महावीर' रखा। तब ही से 'वर्द्धमान' 'महावीर' के नाम से विख्यात हुए।

विद्याशाला-गमन

भगवान् महावीर के आठ वर्ष से अधिक होने पर कुछ उनके माता-पिता ने शुभ-मुहूर्त देख कर सुन्दर वस्त्र-अलंकार धारण कराके हाथी पर बैठा कर भगवान् महावीर को पढ़ने के लिए पाठशाला में भेजा। पण्डित को भेंट देने के लिए बढ़िया पोशाक, अलंकार और नारियल तथा विद्यार्थियों को बांटने के लिए नाना प्रकार की खानि की एवं अभ्यास में उपयोग की वस्तुएं पाठशाला में भेजी गयी। जब भगवान् पाठशाला पहुँचे तो पण्डित ने भगवान् को बैठने के लिए सुन्दर आसन दिया।

इतने में इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। अवधि ज्ञान से देखकर इन्द्र विचार करने लगे—"माता-पिता का मोह तो देखिये। तीन ज्ञान के धनी भगवान् महावीर को एक साधारण पण्डित के पास पढ़ने के लिए भेजा है। यह ठीक नहीं है।" यह सोच कर ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्र स्वयं

वहाँ आया। इन्द्र ने महावीर से व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पूछे। भगवान् महावीर ने अविलम्ब उनका जवाब दे दिया। पंडित दंग रह गया। पण्डित ने उत्तर सुनकर सोचा कि इस विद्यार्थी ने तो मेरी भी शंकाएँ निर्मूल कर दीं। तब इन्द्र ने पण्डित से कहा—"पण्डित! यह बालक कोई साधारण छात्र नही है। यह सकल शास्त्र पारंगत भगवान् महावीर है।" इन्द्र के इस वचन को सुनकर पण्डित चकित रह गया। भगवान् महावीर के मुख से निकले वचन को सुन करके, ब्राह्मण ने इस नये व्याकरण को 'ऐन्द्र-व्याकरण'[1] बताया।

भगवान् महावीर का विवाह

जब भगवान् महावीर यौवन[2] को प्राप्त हुए तो उनके विवाह के प्रस्ताव आने लगे। उनके माता-पिता के मन में जो इच्छा थी, उसके पूरे होने के दिन आये। इसी समय वसन्तपुर नगर के महासामन्त[3] समरवीर

१—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग २ श्लोक १२२।

२—(अ) आपोडशाद्भवेद्बालो यावत्क्षीरान्नवर्तकः।
मध्यमः सप्तति यावत् परतो वृद्ध उच्यते॥
—स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति, पत्र १२८-२

ब आपोडशाद् भवेद् बालस्ततस्तरुण उच्यते।
वृद्धः स्यात् सप्ततेरूर्द्ध्वम्.................॥
—अभिधान राजेन्द्र, भाग ४, पृष्ठ १६५७

क कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम्॥
—शब्दार्थ चिन्तामणि, भाग ४, पृष्ठ ४३

३—कौटिलीय अर्थशास्त्र में सामन्त शब्द पड़ोसी राज्य के राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है।...सामन्तों में कुछ प्रमुख और उत्तम स्थानीय होते थे। उनकी पदवी प्रधान-सामन्त थी।
—वासुदेव शरणकृत 'हर्ष चरित' परिशिष्ट दूसरा, पृष्ठ २१७-१८

(२) सामन्त का अर्थ 'वैजयन्ती-कोप' में 'ए नेवरिंग किंग' लिखा है। (पृष्ठ ८४७)

ने अपनी भार्या पद्मावती की कुक्षि से उत्पन्न यशोदा के पाणिग्रहण के लिए राजा सिद्धार्थ के पास प्रस्ताव भेजा।

वर्द्धमान के माता-पिता उनकी विरक्त मनोदशा से परिचित थे। अतः उनके माता-पिता ने उसके मित्रों द्वारा कुमार वर्द्धमान की इच्छा जानने का प्रयत्न किया। भगवान् महावीर ने स्त्री-सम्भोग और संसारी जीवन सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा—"मोहग्रस्त मित्रो! तुम्हारा ऐसा यह आग्रह है; क्योंकि स्त्री आदि परिग्रह भव-भ्रमण का ही कारण है। और 'भोगे रोगभयम्' भोग में सदा रोग का डर बना हुआ है। मेरे माता-पिता के जीवित रहता हुआ मेरे वियोग का दुःख न हो, इस हेतु से दीक्षा लेने को उत्सुक होता हुआ भी, मैं दीक्षा नहीं ले रहा हूँ।" इस प्रकार भगवान् कह रहे थे कि राजा सिद्धार्थ की आज्ञा से माता त्रिशला वहाँ स्वयं आयीं। कुमार तत्काल खड़े हो गये और उनके प्रति आदर प्रकट करते हुए बोले—"हे माता आप आयी यह अच्छा हुआ। लेकिन, इससे अच्छा तो यह था कि आप मुझे ही बुला लेतीं।" त्रिशला देवी ने कहा—"हे पुत्र मैं जानती हूँ कि आप संसारवास से विरक्त हैं और केवल मेरे प्रेम के कारण गृहवास में रह सकते हैं। फिर भी, इतने से मुझे तृप्ति नहीं होती है। मैं तो आपको वधू-सहित देखना चाहती हूँ। तभी मुझे तृप्ति होगी। यशोदा नामक राजपुत्री से विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लो। तुम्हारे पिता भी तुम्हारा विवाहोत्सव देखने को उत्कण्ठित हैं।" माता के इस आग्रह पर भगवान् ने अपनी स्वीकृति दे दी। और, शुभ मुहूर्त में भगवान् का विवाह यशोदा के साथ सम्पन्न हुआ।

कुछ लोग भगवान् के विवाह के सम्बन्ध में शंकाशील हैं; परन्तु भगवान् के विवाह की चर्चा प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलती है। उनके कुछ प्रमाण हम यहाँ दे रहे हैं:—

१—अ—भारिया जसोया कोडिण्णा गुत्तेणं...।

ख—बालभावातिक्रमानुक्रमेणावाप्तयौवनोऽयं भोगसमर्थ इति विज्ञात भगवत्स्वरूपाभ्यां मातापितृभ्यां प्रशस्ततिथिनक्षत्र-मुहूर्तेषु नरवीरनृपति कन्याया यशोदायाः पाणिग्रहणं कारितम्...।

—कल्पसूत्र किरणावलि, पत्र ६२–२

क–एवं बाल्यावस्यानिवृत्तौ संप्राप्त यौवनो भोगसमर्थो भगवान् माता-पितृभ्यां शुभे मुहूर्ते समरवीरनृपपुत्रीं यशोदां परिणायितः।

—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र २६०

× × ×

२—समणस्सणं भग० भज्जा जसोया कोडिन्ना गुत्तेणं समणस्स णं० धूया कासवगोत्तेणं, तीसेणं दो नामधिज्जा

एवमा०—अणुज्जा इ वा पियदंसणा इ वा...।

—आचाराङ्ग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाधिकार सूत्र ४००, पृष्ठ ३८९

३—हमने पृष्ठ १११ पर रायपसेनी में वर्णित ३२-वें नाटक का विवरण दिया उसमें 'चरम कामभोग' का भी स्पष्ट उल्लेख है।

४—तिहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्त सामन्तकुल पसूयाए।
कारिंति पाणिगहणं जसोअवररायकन्नाए ॥ ३२२ ॥

—आवस्सय निज्जुत्ति पृष्ठ ८५

× × ×

५—उम्मुक्कबालभावो कमेण अह जोव्वणं अणुप्पत्तो।
भोगसमत्थं णाउं अम्मा पिअरो उ वीरस्स ॥ ७८ ॥ भा. ॥
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्तसामन्तकुलपसूआए।
कारन्ति पाणिगहणं जसोअवररायकण्णाए ॥ ७९ ॥ भा. ॥

—आवश्यक हारिभद्रीय टीका १८२–२

६—इसी प्रकार की गाथा आवश्यक की मलयगिरि की टीका (पत्र २५६–२ में भी है।

७—विहि रिक्खम्मि पसत्थे महन्त सामन्त कुलपसू याए।
कारिन्ति पाणिगहणं जसोयवररायकन्नाए ॥ ८० ॥
—श्री नेमिचन्द्राचार्य-रचित-महावीर-चरियं पत्र ३४

× × ×

८—पुण्येऽहनि महीनाथो जन्मोत्सवसमोत्सवम्।
विवाहं कारयामास महावीरयशोदयोः ॥ १५१ ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १० सर्ग

९—सिद्धत्थनराहिवेण जेट्ठभाउगनंदिवद्धणजुवराएण य अणु गम्ममाणो सिरिवद्धमाणकुमारो सायरमवलोयणविलयविलासिणी भवणमालावलसंठिएण पुरजणेण दंसिज्ज तो अंगुलिसहस्सेहिं पुज्जमाणो आसीससएहिं अग्घविज्जमाणो अक्खयसम्मिस्समुद्द वुट्ठिवरिसेहिं-संपत्तो कमेण विवाहमडवंति, अह मंडवदुवारदेस पडिरुद्धो पडिहारजणेण सामन्नलोओ, पविट्ठो महागलोए मं अब्भिंतरंमि, विलयाजणेण ओमिलणपुव्वगं भत्ति विविहं पण हिया सा जसोयवररायकन्ना वि, तथाहि...

पत्ताय तक्खणागयपुरोहिया रद्धजलणकम्मंमि।
नयवंदणमालामणहरंमि वरवेइगाभवणे ॥ ८ ॥
तत्तो पाणिग्गहणं पारद्धं गीय मंगल सणाहं।
सयलतइलोयच्छाविय परमाणंदं महिड्ढीए ॥ ९ ॥
......एवं च सुरासुर नरपति तोसकारए वित्ते विवाह महूसवे—
—गुणचन्द्र-रचित महावीर चरियं, पत्र ११

\+ \+ \+

भगवान् महावीर विवाहित थे अथवा 'अविवाहित' थे, इस शंका का यहां अच्छा समाधान 'श्री एकविंशतिस्थानप्रकरण' (पृष्ठ ११) में मिलता है :—

वसुपुज्ज मल्लि नेमी पासो वीरो कुमारपव्वइया ।
रज्जं काउं सेसा मल्ली नेमी अपरिणीया ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'वसु' इत्यादि—वासुपूज्यो मल्लिस्वामि नेमिजिनः पार्श्वो वीरवैते पञ्च कुमारा—अव्यूढराज्यभाराः प्रव्रजिता-दीक्षां गृहीतवन्तः, शेषा कोनविंशतिर्नभियाद्या राज्यं परिपाल्य व्रतं भेजुः, तथा मल्लिर्नेमी चेतौ द्वौ परिणीतौ—अविवाहितौ प्रव्रजितौ, अन्ये द्वाविंशतिर्जिनाः कृतपाणिग्रहणाः प्राव्राजिषुरिति गाथार्थः ।

× × ×

भगवान् महावीर के विवाह सम्बन्धी शका का समाधान आवश्यक-निर्युक्ति के उस प्रसंग से भी हो जाता है, जिसमें भगवान् महावीर के जीवनकाल की प्रमुख घटनाएँ गिनायी गयी हैं। गाथा है—

सुमिणमवहार भिग्गह जम्मणमभिसेय वुड्ढी सरणं च ।
भेसण विवाह वच्चे दाणे संबोह निक्खमणे ॥ २७७ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ ८१ ।

इसकी संस्कृत-छाया इस प्रकार है—

स्वप्नोऽपहारोऽभिग्रहो जननमभिषेको वृद्धिः स्मरणं च ।
भीषणं विवाहोऽपत्यं दानं संबोधो निष्क्रमणम् ॥

इस पर मलयगिरि की टीका (पत्र २५२-२) इस प्रकार है—

...विवाह विधिर्वाच्यः...

भगवान् महावीर के अविवाहित होने की शंका जिन लोगों के हृदय में है वे अपनी शंका का समर्थन निम्नलिखित गाथाओं में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द से करते हैं :—

मल्ली अरिट्ठनेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो ॥ ५७ ॥
ए ए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिन्दा ॥
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण निक्खन्ता ॥ ५८ ॥

—पउमचरियं, वीसइमो उद्देसो, पत्र ९८-२ ।

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥ २२१ ॥

रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इच्छियाभिसेओ कुमारवासम्मि पव्वइया ॥ २२२ ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, पृष्ठ ११।

ठीक उसी प्रकार का उल्लेख दिगम्बर-पुराणों में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः।
कुमारा निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे ॥

—पद्मपुराण २०, ६७

निष्क्रान्तिर्वासुपूज्यस्य मल्लेर्नेमिजिनांत्ययोः।
पञ्चानां तु कुमाराणां राज्ञां शेषजिनेशिनाम् ॥

—हरिवंशपुराण ६०, २१४ भाग २, पृष्ठ ७११।

णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि गहिद्‌तवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥ ६७ ॥

—तिलोयपण्णति, अधिकार ४, गाथा १२०१

इन श्वेताम्बर और दिगम्बर-ग्रंथों में 'कुमार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, लोग अज्ञानवश उसका अर्थ 'कुँवारा' अथवा 'अविवाहित' लेते हैं, जबकि 'कुमार' शब्द का यह अर्थ ही नहीं होता है। यह भ्रम तो वस्तुतः मागधी भाषा के शब्द को स्थानीय भाषा के शब्द के रूप में बदल देने से हुआ है। 'कुमार' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या होता है, इसके स्पष्टीकरण के लिए हम कुछ कोषों के प्रमाण दे रहे हैं :—

कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके ॥

शब्दरत्नसमन्वय कोष—पृष्ठ-२१८।

कुमारस्स्याद्र हे वाले वरुणेऽश्वानुचारके ॥ २८ ॥
युवराजे च.................................. ।

—वैजयन्ति-कोष, त्र्यक्षरकाण्डे नानालिङ्गाध्यायः, पृष्ठ २५९।

कुमार— चाइल्ड, ब्वॉय, यूथ, सन, प्रिंस।
—मोनियोर-मोनियर विलियम्स संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, पृष्ठ २९२।

* * * *

कुमार— सन, ब्वॉय, यूथ, ए ब्वॉय बिलो फाइव, ए प्रिंस।
—आप्टे-संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनेरी, पृष्ठ ३६३।

* * * *

कुमारो बालके स्कन्दे युवराजेऽश्ववारके।
वरुणानो... ॥ ६२ ॥

—महीपकृत अनेकार्थतिलक, काण्ड ३, श्लोक ६२, पृष्ठ ४४।

* * * *

युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः
—अमरकोष, पृष्ठ ७५ (नि, सा. प्रे.) काण्ड १ नाट्यवर्ग, श्लोक १२।

युवराज कुमारो भर्तृदारक :
—अभिधान-चिन्तामणि, काण्ड २, श्लोक २४६, पृष्ठ १३६।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि, 'कुमार' शब्द का अर्थ 'राजकुमार' है, न कि 'अविवाहित'। हमारे इस अर्थ से विवेकी दिगम्बर भी सहमति प्रकट करते हैं। अपने ग्रंथ "जैन साहित्य और इतिहास" के परिशिष्ट (पृष्ठ ५६५) में तिलोयपन्नति के उपर्युक्त भाग का अर्थ करते हुए नाथूराम प्रेमी ने लिखा है :

"नेमि, मल्लि, वीर, वासुपूज्य और पार्श्व ने कुमारकाल में और शेष तीर्थंकरों या तीर्थंकरों ने राज्य के अंत में तप ग्रहण किया। राज्य के अंत

का अर्थ है—राज्य भोगकर। इससे ही ध्वनित होता है कि कुमारत्व अर्थ यहाँ 'कुँआरे थे' या 'विवाहित' यह उद्दिष्ट नहीं है।"

नाथूराम ने अपनी उसी पुस्तक में एक स्थान पर 'कुँआरा' अर्थ वालों की शंका का उल्लेख करते हुए स्पष्टीकरण भी किया है (पृष्ठ ।

"महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि, और वासुपूज्य इन (पाँच) छोड़कर शेष तीर्थंकर राजा हुए। ये पाँचों क्षत्रियवंश और राजकुल उत्पन्न हुए। इन्होंने राज्याभिषेक की इच्छा नहीं की और कुमारावस्था ही प्रव्रजित हो गये।"

जैन आगम-ग्रंथों में 'कुमारावास' शब्द आया है। उसकी परिभाषा प्रकार दी गयी है :—

कुमाराणामराजभावेन वासः कुमारवासः।

—स्थानाङ्ग सटीक, ठा० ५, उद्देश : ३, पत्र ३११-२

इसी प्रकार का अर्थ 'प्रश्नव्याकरण' में भी दिया गया है:—

कुमाराः – राज्यार्हाः।

—प्रश्नव्याकरण अभयदेवसूरि-कृत टीका, पत्र ८(

आवश्यकनिर्युक्ति का एक प्रसंग हम ऊपर दे आये हैं। उसके कुछ भाग को लेकर लोग अपनी शंका निम्नलिखित रूप में उपस्थित करते हैं (आ० नि० दीपिका, पत्र ६३-१, ६४-१) :—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥ २२१ ॥
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअ कुलेसुं।
न य इच्छिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ ॥ २२२ ॥
वीरो अरिट्ठनेमी पासो मल्ली अ वासुपुज्जो अ।
पढमवए पव्वइआ सेसा पुण पच्छिमवयंमि ॥ २२६ ॥
गामायारा विसया निसेविआ ते कुमारवज्जेहिं।
गामागराइएसु य केसि(सु) विहारो भवे कस्स ॥ २२३ ॥

इस प्रसंग में ३ प्रश्नों पर शङ्का उपस्थित की जाती है—

(१) न य इच्छिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ।

(२) पढमे वए पव्वइआ सेसा पुण पच्छिमवयंमि।

(३) गामायारा विसया निसेविआ ते कुमारवज्जेहिं।

इन प्रश्नों का समाधान इस रूप में है:—

(१) उस पद में 'इच्छिआ' का अर्थ 'स्त्री' नहीं है वरन् 'अभिलषित', 'वांछित', 'इच्छित' अथवा 'इष्ट' है (देखिये, पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ १६६)। इसका अर्थ लोग जो 'स्त्री' करते हैं, वह अशुद्ध है। आगमोदयसमिति द्वारा प्रकाशित आवश्यक-निर्युक्ति में यह अशुद्धरूप इस प्रकार छप गया है—"न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ।"

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १३६।२।

प्रथम तो 'इत्थिआभिसेआ' यह पाठ ही अशुद्ध है। यहाँ होना चाहिए, 'इच्छिआभिसेआ'—जैसा कि मलयगिरि ने लिखा है। 'इच्छिआभिसेआ' का संस्कृत छायानुवाद होता है, 'ईप्सिताभिषेका:' जैसा कि मलयगिरि ने लिखा है।[1] सागरानंदसूरिजी अगर मलयगिरि की इस टीका पर ध्यान देते, तो उनका पाठ शुद्ध हो जाता और उन्होंने उस पद के नीचे टिप्पणी लगाकर जो अनर्थ किया है, वह भी न हो पाता।

(२) 'पढमवए पव्वइआ' वय के प्रथमांश में दीक्षा ली, इसका भी यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि 'अविवाहितरूप' में दीक्षा ली। 'पढमवए' की ही तरह का प्रयोग 'लोक-प्रकाश' में भी हुआ है और वहाँ उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

१—इच्छियाभिसेया—ईप्सिताभिषेका—अभिलषित राज्याभिषेका:,

—श्री आवश्यक निर्युक्ति, टीका श्री मलयगिरि-प्रथम भाग, पत्र २०४-१।

'न य इच्छिआभिसेआ......'

'न चेप्सितराज्याभिषेका:......'

—श्री आवश्यक निर्युक्तिदीपिका, भाग १, पत्र ६३-१।

वासुपूज्यमल्लिनेमि पार्श्ववीर- जिनेश्वराः ।
प्रवव्रजुर्वयस्याद्येऽनुपात्तराज्य संपदः ॥१००२॥
प्रवव्रजुर्भुक्तराज्याः शेषा वयसि पश्चिमे ।
मण्डलेशाः परे तेषु चक्रिणः शान्तिकुन्थ्वराः ॥१००३॥
अभोगफलकर्माणौ मल्लिनेमिजिनेश्वरौ ।
निरीयतुरनुद्वाहौ कृतोद्वाहाः परे जिनाः ॥ १००४ ॥

—लोकप्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४, प्रका. (जै० ध० प्र० सभा, भावनगर

अर्थात्—वासुपूज्य, मल्लि, नेमनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी बिना राज्य प्राप्त किये प्रथम वय में दीक्षा ली और बाकी तीर्थंकरों ने राज्य भोगकर पश्चिम वय में दीक्षा ली। उनमें शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ चक्रवर्ती थे और बाकी तीर्थंकर माण्डलिक राजा थे। मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोगावलि कर्म अवशेष नहीं होने से, उन्होंने बिना ब्याह किये ही दीक्षा ली और शेष २२ तीर्थंकरों ने लग्न करके दीक्षा ली।

\+ \+

(३) 'गामायारा विसया निसेविया ते कुमारवज्जेहिं' के 'ग्रामाचारा विसया' पद पर मलयगिरि की टीका इस प्रकार है :—

"ग्रामाचारा नाम विषया उच्यन्ते, ते विषया निषेविता—आसेविताः कुमारवर्जैः....शेषैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिः। किमुक्तं भवति ?—वासुपूज्य-मल्लिस्वामी-पार्श्वनाथ-भगवदरिष्टनेमिव्यतिरिक्तैः सर्वैस्तीर्थकृद्भिरासेविता विषयाः न तु वासुपूज्य प्रभृतिभिः, तेषां कुमारभाव एव व्रतग्रहणाभ्युपगमादिति, अथवा ग्रामाचारा नाम ग्रामाकरादिषु विहारास्ते वक्तव्याः यथा कस्य भगवतः केषु ग्रामाकरादिषु विहार आसीदिति।"

—आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरि-टीका, पूर्व भाग, पत्र २०१।२।

... इसमें टीकाकार ने भगवान् महावीर का नाम ही नहीं दिया है।

'ग्रामायारा विपया' पर दीपिकाकार श्रीमाणिक्य शेखरसूरि लिखते हैं—

"ग्राम्याचारा विषया उच्यन्ते । ते कुमारवर्जितैर्जिनैर्निषेविता:। कुमारौ च मल्लिनेमी । गामायारशब्देन वा अथवा ग्रामाचारो विहार उच्यते, स केषु ग्रामनगरादिषु कस्य बभूव ॥२३३॥

—श्री आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, प्रथम भाग, पत्र ६४।१।

इन्होंने भगवान् महावीर का नामोल्लेख नहीं किया है ।

कामता प्रसाद जैन ने अपनी पुस्तक 'भगवान् महावीर' (द्वितीय आवृति) में पृष्ठ ७९, ८०, ८१ की पादटिप्पणी में साम्प्रदायिक ढंग की कुछ अनर्गल छींटाकशियाँ की हैं । उसमें उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी लिख डाली हैं, जो पूर्णत: अशुद्ध और मिथ्या है । उस टिप्पणी का एक वाक्य है—"उस पर खास बात यह है कि स्वयं श्वेताम्बरीय प्राचीन ग्रन्थों जैसे 'कल्पसूत्र' और 'आचारांग सूत्र' में भगवान् महावीर के विवाह का उल्लेख नहीं है ।" हम ऊपर उन ग्रन्थों के मूल प्रमाण दे आये हैं । अत: इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते । 'आवश्यकनिर्युक्ति' की जो उनकी शंका है, उसका भी हम ऊपर समाधान कर आये हैं ।

उन्होंने लिखा है—"प्राचीन आचार्यों की नामावली, चूर्णि और टीकाओं में विवाह की बात बढ़ायी गयी, सम्भवत: दिखती है ।" यहाँ हम केवल इतना मात्र कहना चाहते हैं कि, जब मूल कल्पसूत्र में 'भारिया जसोया कोडिण्णा गुत्तेणं' स्पष्ट लिखा है कि उनकी पत्नी का नाम यशोदा था, तब फिर विवाह की शंका उठाना सर्वथा अनर्गल है ।

आपने अपनी उसी टिप्पणी में लिखा है—"श्वेताम्बर लोगों ने बुद्ध की जीवन-कथा के आधार पर महावीर स्वामी की कथा का निर्माण किया ।" अपने इस कथन की पुष्टि के लिए जो बातें कामताप्रसाद ने कहीं हैं, उनमें एक बात यह भी कही है—"बौद्ध कहते हैं कि गौतम ने यशोदा को ब्याहा; श्वेताम्बर भी लिखते हैं कि महावीर ने यशोदा से विवाह किया था ।" 'यशोदा' नाम साम्य की बात कामताप्रसादजी के मन में कैसे आयी, यह नहीं कहा जा सकता; जब कि स्वयं कामताप्रसादजी ने अपनी उसी पुस्तक

(पृष्ठ ७८) में लिखा है कि राजा सिद्धार्थ यशोदा को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहते थे। अंतः स्पष्ट है कि यह यशोदा नाम श्वेताम्बरों ने बौद्धों से ग्रहण करके नहीं लिया है। और, यहाँ एक भूल यह और बता दूँ कि बौद्ध की पत्नी का नाम 'यशोदा' नहीं, पर 'यशोधरा' था।

कामताप्रसाद ने श्वेताम्बरों पर छींटाकशी कर दी; पर उनके हरे दिगम्बर भी 'कुमार' का अर्थ 'कुंआरा' नहीं मानते। हमने उसके प्रमाण के लिए पहिले नाथूराम का एक उद्धरण दे दिया है। पर, कामताप्रसाद जी ने श्वेताम्बर-दिगम्बर का नाम लेकर यह मतभेद बिना दिगम्बर-शास्त्रों के अवलोकन किये खड़ा किया है। चम्पालालजी-कृत 'चर्चा-सागर' में एक श्लोक उद्धृत है। वह श्लोक सारी शंका ही मिटा देता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

> वासुपूज्यस्तथा मल्लिर्नेमिः पार्श्वोऽथ सन्मतिः।
> कुमाराः पञ्च निष्क्रान्ताः पृथिवीपतयः परे ॥

यहाँ स्पष्ट है कि 'कुमार' से प्रयोजन है कि जो पृथ्वीपति न हुआ हो। 'निर्वाण-भक्ति' में भी स्पष्ट उल्लेख है कि ३० वर्ष की उम्र तक भगवान ने समस्त भोग भोगे। उसमें श्लोक है :—

> भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाण्यनन्त गुणराशिः।
> अमरोपनीत भोगान् सहसाभिनिबोधितोऽन्येद्युः ॥

ऐसा ही उल्लेख स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में निम्नलिखित रूप में है—

> तिहुयण पहाण सामिं कुमारकाले वि तविय तव चरणं।
> वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं ॥

'भगवान् महावीर' के लेखक पन्यास कल्याणविजय जी ने अपनी पुस्तक में भगवान् के विवाह का उल्लेख (पृष्ठ १२) किया है। परन्तु, उस पर एक टिप्पणी भी लगा दी है। और, टिप्पणि से एक भ्रम उपस्थित कर दिया है। उन्होंने लिखा है—"श्वेताम्बर-ग्रन्थकार महावीर को विवाहित मानते हैं और उसका मुख्य आधार 'कल्पसूत्र' है।" हमने विवाह के समस्त प्रमाण ऊपर दे दिये हैं। उनका उल्लेख हम यहाँ पुनः नहीं करेंगे; पर कल्याण

जय जी के कुछ भ्रमों पर विचार अवश्य करना चाहेंगें। आपने लिखा है–
...दीक्षा काल में या आगे-पीछे कहीं भी यशोदा का नामोल्लेख नहीं
मलता।" इसके लिए भी हम यहाँ कुछ अतिरिक्त प्रमाण देना आवश्यक
हीं समझते जब कि हम 'कल्पसूत्र' का ही प्रमाण ऊपर दे आये हैं।

आगे पं. कल्याण विजयजी ने लिखा है—"यदि तब तक यशोदा जीवित
होती, तो महावीर की बहन और पुत्री की तरह वह भी प्रव्रज्या लेती
थवा अन्य रूप से उसका नामोल्लेख पाया जाता है।" यह सब लिखने के
ाद पं. कल्याणविजय जी लिखते हैं कि—"इतना तो निश्चित् है कि महा-
ीर के अविवाहित होने की दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता बिलकुल
निराधार नहीं है।" पं. कल्याण विजयजी ने महावीर-चरित्र के लिए
जितना परिश्रम किया वह स्तुत्य है; पर उनकी विवाह की शंका को कौन
मिटा सकता है, जब कि वे उनकी पुत्री को प्रव्रज्या मान कर भी विवाह
ोने पर ही शंका प्रकट करते हैं। पृष्ठ १२ की इस पाद-टिप्पणि के अतिरिक्त
ृष्ठ ८१ पर पं. कल्याणविजय जी ने लिखा है "भगवान् महावीर की पुत्री
भी—जो जमालि से व्याही थी—इसी वर्ष एक हजार स्त्रियों के साथ
ार्याचन्दना के पास दीक्षा ले भगवान् के श्रमणी-संघ में प्रवेश किया।"
ल्याणविजय जी ने लिखा है—"महावीर ने २८-वें वर्ष के बाद
र में रहकर दो वर्ष संयमी जीवन विताया; ऐसे उल्लेख अनेक
थलों में मिलते हैं"—यहाँ 'अनेक' लिखकर कल्याणविजय जी चूक
ये। उन्हें ग्रन्थों का नाम देना चाहिए था और जहाँ तक मैं जानता
, जहाँ-जहाँ सूत्रों में दो वर्ष तक संयमी जीवन विताने की बात लिखी है,
हीं-वहीं उनके विवाह की भी बात है।

महा-अभिनिष्क्रमण

भगवान् महावीर जब २८ वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। माता-पिता के देहान्त के बाद, भगवान् ने अपने बड़े भाई नन्दिवर्द्धन के पास जाकर कहा कि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और अब मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। नन्दिवर्द्धनने उन्हें समझाने की चेष्टा की। कहा कि, अभी माता-पिता के निधन का ही हम को बहुत शोक है। ऐसे समय पर आपका यह वचन घाव पर नमक छिड़कने सरीखा है। अतः, जब तक शोक है, स्वस्थ-मन न हो जायें, आप कुछ काल तक ठहरिये। भगवान् ने उनसे ठहरने की अवधि पूछी। नन्दिवर्द्धनने कहा—"दो वर्ष तक।" भगवान्‌ने बड़े भाई की आज्ञा स्वीकार कर ली। पर, इस दो वर्ष की अवधि में भी भगवान्‌ने साधु-सरीखा ही जीवन व्यतीत किया। इस काल में वे गरम पानी पीया करते थे। निर्दोष आहार करते थे। रात्रि को वे कभी नहीं खाते थे। जमीन पर ही लेटते थे और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

इस प्रकार जब एक वर्ष व्यतीत हो गया, तो उन्होंने दान देना प्रारम्भ किया। वे प्रतिदिन १ करोड़ ८ लाख स्वर्ण[1] (सिक्का विशेष) का दान करते थे। इस प्रकार वर्ष भर में उन्होंने ३ अरब ८८ करोड़ ८० लाख स्वर्ण का दान दिया।

भगवान् की दीक्षा लेने का निश्चय जब देवलोक के देवताओं को अवधि ज्ञान से प्राप्त हुआ, तब वे सब देव आये और लोकान्तिक देवों ने भगवान् से

---

१ (अ) षोडश कर्ममापका: एक: सुवर्ण:... पञ्च गुञ्जा: एक: कर्ममापक:

—अनुयोगद्वार सटीक, पत्र १५६।१

(आ) धान्यमाषा दश सुवर्ण मापक: पंच वा गुंजा:
ते षोडश सुवर्ण: कर्षो वा ॥

—कौटिलीयं अर्थशास्त्र २ आधि, ३७ प्र., पृष्ठ १०३

(इ) पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडष ॥

—मनुस्मृति ८।१३५ भट्टमेधातिथि-भाष्य, पृष्ठ ६१

कहा—"जय जय नंदा ! जय जय भद्दा ! भद्दंते, जय जय खत्तियवरवसभा ! बुज्झहि भगवन् !" "अर्थात् तेरी जय हो ! आनंदित हो ! हे भद्र ! तेरी जय हो ! तेरा कल्याण हो ! हे क्षत्रियवर वृषभ ! आप की जय हो, ' जय हो ! हे भगवन् ! आप दीक्षा ग्रहण करें। आप समस्त संसार में सकलजीवों के लिए हितकर धर्मतीर्थ की प्रवर्तना करें।" ऐसा कह कर वे पुन: 'जय-जय' शब्द का प्रयोग करने लगे और भगवान् को वंदन करके, नमस्कार करके जिस दिशा से वे आये थे उसी दिशा में चले गये।

भगवान् लोकान्तिक देवों से सम्बोधित होने के बाद, नन्दिवर्द्धन तथा सुपार्श्व (भगवान के चाचा) आदि स्वजनों के पास गये और बोले—"अब मैं दीक्षा के लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ।" तब नन्दिवर्धन ने उनको अनुमति दे दी।

नन्दिवर्धन राजा ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—"एक हजार आठ सोने के, उतने ही चांदी के, उतने ही रत्न के, उतने ही सोने-चाँदी के, उतने ही सोने-रत्नों के, उतने ही रत्न और चाँदी के, उतने ही सोने-चाँदी और रत्न के और उतने ही मिट्टी के (इस प्रकार के ८ जाति के) कलश तैयार कराओ।" कौटुम्बिकों ने इतने सब कलश और अन्य सामग्रियाँ एकत्र कीं। उसी समय शक्र-देवेन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। और, अवधिज्ञान से भगवान् का दीक्षा-समय जानकर वह वहाँ आया और जैसे उन्होंने ऋषभदेव का अभिषेक किया था, उसी प्रकार उन्होंने भगवान् महावीर का अभिषेक किया। नन्दिवर्धन ने भी भगवान् को पूर्वाभिमुख बिठला करके अभिषेक किया। उसके बाद भगवान् ने स्नान करके गंधकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछ करके शरीर पर दिव्य चंदन का विलेपन किया। उस समय प्रभु का कंठ-प्रदेश कल्पवृक्ष के पुष्पों से निर्मित माला से सुशोभित लगता था। उनके सारे शरीर पर सुवर्णमंडित अंचल वाला स्वच्छ और एक लाख मूल्यवाला श्वेतवस्त्र सुशोभित हो रहा था। वक्षस्थल पर बहुमूल्य हार लटक रहा था। अंगद और कड़े से उनकी भुजाएँ और कुण्डलों से कान सुशोभित थे। इस प्रकार वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर भगवान् चन्द्रप्रभा नामक पालकी में बैठे।

यह पालकी पचास धनुष्य लम्बी, पच्चीस धनुष्य चौड़ी और छत्तीस धनुष्य ऊँची थी। इसमें बहुत से स्तम्भ थे तथा मणि, रत्न आदि से यह सुशोभित थी।[१]

इस प्रकार हेमन्त-ऋतु में, मार्गशीर्ष वदि १०, और रविवार के दिन तीसरे पहर में विजय मुहूर्त में बेले[२] की तपस्या करके शुद्ध लेश्यावाले भगवान् महावीर चन्द्रप्रभा नामक पालकी में पूर्व दिशा की ओर मुख करके सिंहासन पर बैठे। प्रभु की दाहिनी ओर हंस-लक्षण युक्त पट लेकर कुल-महत्तरिका[३] बैठी। बाईं ओर दीक्षा का उपकरण लेकर प्रभु की धाई-माँ बैठीं। पिछली ओर छत्र लिए एक तरुणी बैठी। ईशान-कोण में पूजा का कलश लेकर एक स्त्री बैठी और अग्नि-कोण में मणिमय पंखा लेकर एक अन्य रमणी बैठी। राजा नन्दिवर्धन की आज्ञा से पालकी उठायी गयी। उस समय शक्रेन्द्र दाहिनी भुजा को, ईशानेन्द्र बायी भुजा को, चमरेन्द्र दक्षिण ओर के नीचे की बाँह को और बलीन्द्र उत्तर ओर के नीचे की बाँह को उठाये थे। इनके अतिरिक्त अन्य व्यन्तर भुवनपति, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों ने भी हाथ लगाया। उस समय देवताओं ने पुष्पों की वृष्टि की। भगवान् की पालकी के रत्नमय आगे अष्टमांगल चलने लगे। जुलूस के आगे-आगे भंभा, भेरी, मृदंग, आदि बाजे बजने लगे। बाजों के बाद बहुत-से (दंडीणो) डंडेवाले, (मुंडिणो) मुण्डित मस्तकवाले, (सिहंडिणो) शिखाधारी, (जडिणो) जटाधारी, (हासकारा) हंसनेवाले, (दवकराः) परिहास करने वाले, (खेड्डकारा) खेल करने वाले, (कंदप्पिया) काम-प्रधान क्रीडा करने वाले, (कुक्कुत्तिया) भांड, (गायंतया) गाते हुए, (वायंतया) बजाते हुए, (नच्चंता) नाचते हुए, (हसंतया) हंसते हुए, (रमतया) खेलते हुए, (हसावेंतया) हंसाते हुए, (रमावेंतया) लोगों को क्रीड़ा कराते हुए जय-जयकार करते हुए पूरी मंडली रवाना हुई। उसके बाद उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रियकुल

१-कल्पसूत्र—१, सुबोधिका टीका पत्र २६९-२७०

२-दो उपवासों की तपस्या

३-कुल की बड़ी-बूढ़ी।

के राजा तथा सार्थवाह प्रभृति देव-देवियाँ तथा पुरुष-समूह जुलूस में चल रहे थे। इन सबके बाद नन्दिवर्द्धन राजा स्नान करके अच्छी तरह विभूषित होकर, हाथी पर बैठकर, कोरंट-वृक्ष के पुष्पों की माला से युक्त, छत्र को धारण करके, भगवान् के पीछे-पीछे चल रहे थे। उन पर श्वेत चामर झला जा रहा था। और, हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। उसके बाद स्वामी के आगे १०८ घोड़े, और घुड़सवार और अगल-बगल में १०८ हाथी और हाथी के सवार और पीछे १०८ रथ चल रहे थे।

इस प्रकार बड़ी रिद्धि से और बड़े समुदाय के साथ, शंख, पणव (ढोल), भेरी, झल्लरी, खरमुही डुक्कीत, मुरज (ढोलक), मृदंग, दुन्दुभी, आदि वाद्यों की आवाज के साथ कुंडपुर के मध्य में होते हुए ज्ञाताखण्डवन उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् के साथ चले जा रहे थे। अभिषेक के अवसर के समान उस समय बहुत से देव कुंडपुर नगर में आये थे। वे पुनः "जय जय नंदा जय जय भद्दा..." आदि उच्चरित कर भगवान् की स्तुति करने लगे। भगवान् ज्ञातखण्डवन में अशोक वृक्ष के नीचे आकर अपनी पालकी से उतरे। भूमि पर उतरने के बाद भगवान् ने अपने आभूषण अलंकार स्वयं उतारे। कुल की एक वृद्धा नारी ने उनको उठा लिये। उस वृद्धा नारी ने उन्हें विदा देते हुए कहा—

"हे पुत्र, तुम तीव्र गति से चलना, अपने गौरव का ध्यान रखना। असि की धारा के समान महाव्रत का पालन करना, और श्रमण-धर्म में प्रमाद न करना। निर्दोष ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा तुम नहीं जीती हुई इन्द्रियों को वश में कर लेना। विघ्नों का मुकाबला करके तुम अपने साध्य की सिद्धि में सदा लगे रहना। तप के द्वारा तुम अपने राग और द्वेष नामक मलों को नष्ट कर डालना, धैर्य का अवलम्बन करके उत्तम शुक्लध्यान द्वारा आठ कर्मशत्रुओं को नष्ट कर देना।" इस प्रकार कहकर नन्दिवर्धन आदि स्वजनवर्ग भगवान् को वन्दन करके नमस्कार करके स्तुति करके एक ओर बैठ गये। फिर, भगवान् ने स्वयं पंचमुष्टि लोच किया। (उस समय शक्र देवेन्द्र

देवराय ने भगवान् के उन केशों को एक वस्त्र में ले लिया और उन्हें समुद्र में बहा दिया। तब भगवान् के "नमो सिद्धाणं" कहकर "करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" (मैं सामायिक-चरित्र अंगीकार करता हूँ और यावज्जीवन सावद्य-पापवाले व्यापार का त्याग करता हूँ) इस प्रकार उच्चरित करते ही, भगवान् को चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने गृहस्थ जीवन का त्याग प्रत्यक्ष किया। और, साधु बन गये। वे घर से लुक-छिपकर नहीं भागे; अपने आत्मबल से सब कुटुम्ब को समझाकर, डंके की चोट पर सिंह की तरह, घर से निकल कर अणगार हुए।

भगवान् वर्द्धमान

निष्क्रमण से
केवल-ज्ञान
प्राप्ति तक

[१]

प्रथम वर्षावास

तीस वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर ने गृहत्याग किया औ क्षत्रियकुण्ड से लगे हुए ज्ञातखंडवन[1] से आगे प्रस्थान किया। बंधुवर्ग ज तक भगवान् नजर आते रहे वे—

त्वया विना वीर ! कथं व्रजामो ? गृहेऽधुना शून्यवनोपमाने।
गोष्ठी सुखं केन सहाचरामो ? भोक्ष्यामहे केन सहाऽथ बन्धो॥१॥
सर्वेषु कार्येषु च वीर वीरेत्यामन्त्रणाद्दर्शनतस्तवार्य !
प्रेमप्रकर्षादभजाम हर्षं, निराश्रयाश्चाऽथ कमाश्रयामः॥२॥
अतिप्रियं बान्धव ! दर्शनं ते, सुधाऽञ्जनं भावि कदाऽस्मदक्ष्णोः
नीरागचित्तोऽपि कदाचिदस्मान्, स्मरिष्यसि प्रौढ़ गुणाभिराम॥३॥

हे वीर ! अब हम आपके बिना शून्य वन के समान घर को कैसे जाएँ हे बंधु ! अब हमें गोष्ठी-सुख कैसे मिलेगा ? अब हम किसके साथ बैठक भोजन करेंगे ? आर्य ! सर्व कार्यों में वीर-वीर कहकर ... प्रेम के प्रकर्ष से हम अत्यानंद प्राप्त करते थे; परंतु निर ... किसका आश्रय लेंगे ? हे बान्धव ! हमारी आँखों में ... समान अति प्रिय आपका दर्शन अब हमें कब होगा ? हे प्रौढ़ गुणों से शोभनेवाले ! निराग चित्त होते हुए भी क्या आप कभी हमें स्मरण करेंगे ?"

१—इस उद्यान का नाम 'ज्ञातखण्ड वन' पड़ने का कारण हमारी समझ में यह आता है कि, 'खण्ड' समूह को कहते हैं और यह वन 'ज्ञातृ' लोगों का होने से लोग इसे 'ज्ञातृ खण्ड वन' के नाम से पुकारने लगे। जिनप्रभ सूरि ने कल्पसूत्र की संदेह विषौषधि टीका में 'वन' की परिभाषा दी है—'वनान्येक- जातीय वृक्षाणि' (पत्र ७५), 'जिसमें एक ही तरह के वृक्ष होते हैं, उसको वन कहते हैं।

प्रकार की वाणी कहते हुए नन्दिवर्द्धन वडे कष्ट से साश्रु-नेत्र अपने घर पास आये।[1]

उस समय भगवान् महावीर ने दृढ़ संकल्प किया—

वारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति जहा—दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा—ते सव्वे वसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहिया-इस्सामि।[2]

"१२ वर्ष तक जव तक मुझे केवल-ज्ञान नहीं होगा, मैं इस शरीर की ा-सुश्रूषा नहीं करूँगा। देव, मनुष्य या तिर्यंच (पशु-पक्षी) की ओर जो कुछ भी उपसर्ग आयेंगे, मैं उन सवको समभाव से सहन करूँगा। और, में किंचित् मात्र उद्वेग न आने दूँगा।"

यह प्रतिज्ञा करके भगवान् महावीर ने साधना-मार्ग में प्रवेश किया। विहार करते ही उनको रास्ते में—उनके पिता का मित्र सोम नाम का ब्राह्मण मिला और प्रार्थना करने लगा—

"हे स्वामिन्! मैं जन्म से ही महादरिद्र हूँ और दूसरों के पास याचना ा हुआ गाँव-गाँव भटकता हूँ। आप जव सांवत्सरिक दान से लाखों मनुष्यों दारिद्र्य-हरण कर रहे थे, तव मैं धन की आशा से गाँव-गाँव भटक रहा। इससे दान की सूचना मुझे नही मिली। और, जव मैं खाली हाथ ाटन से लौटा, तो मेरी स्त्री ने मेरी भर्त्सना करते हुए कहा—'हे निर्भाग्य-मणि, जव यहाँ गृहांगण में गंगा प्रकट हुई, तव आप बाहर भटकने गये। अव भी आप भगवान् महावीर के पास जायँ। वे आपको जरूर देंगे।' इससे यहाँ आपके पास आया हूँ।" भगवान् ने कहा कि, अव तो अकिंचन साधु हो गया हूँ। फिर भी, कंधे पर रखे देवदूष्य का आधा मुझे देता हूँ। ऐसा कहकर भगवान् ने आधा देवदूष्य फाड़ कर उसे

---

[1] कल्पसूत्र, सुवोधिका टीका, षष्ठः क्षणः, पत्र २७५।'

[2] आचारांग सूत्र (वम्वई) श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २३, पत्र ३९१-२, ३९२-१।

दे दिया। वह आधा वस्त्र लेकर वह घर पर गया और फटी हुई किनारी के ठीक कराने के लिए रफूगर[१] के पास गया। रफूगर ने पूछा कि, ऐसा ब़ह्मूल्य वस्त्र तुझे कहाँ से मिला ? ब्राह्मण ने उसे सच्ची बात कह सुनाई तब रफूगर ने कहा—"दूसरा आधा वस्त्र भी ले आओ। तुम उस मुनि के पीछे-पीछे घूमना और जब वह गिर पड़े तब ले लेना। निस्पृह होने से वे उसको नहीं उठायेंगे। तब तुम उसे उठा लेना। मैं उसको रफू कर दूंगा तब उसका मूल्य १ लाख दीनार होगा। फिर हम दोनों आधी-आधी कर बाँट लेंगे।" अतः ब्राह्मण भगवान् के पीछे-पीछे भटकने लगा।[२]

भ०महावीर ज्ञातखंड-उद्यान से विहार करके उसी दिन शाम को—जब एक मुहूर्त दिन शेष रहा—कर्मारग्राम[३] आ पहुँचे। कर्मार ग्राम आने के लिए दो मार्ग थे[१]। एक जलमार्ग दूसरा स्थल मार्ग[४]। भगवान् स्थल मार्ग से आये और रात्रि वहीं व्यतीत करने के विचार से ध्यान में स्थिर[५] हो गये

१—जले, फटे कपड़े के छोटे सुराख में तागे भर कर बराबर करनेवाला-
वृहत् हिन्दी कोश, पृष्ठ १०८७।

२—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र २८६।
१ वर्ष १ मास के बाद जब भगवान् के शरीर से वह वस्त्र गिरा तब वह ब्राह्मण उसे उठा कर ले आया। त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक २-१४, २१६-२२०
आवश्यक मलयगिरी की टीका पत्र २६६।२
आवश्यक चूर्णी पत्र २६८।२

३—यह वन तथा क्षत्रियकुंड के समीप में ही स्थित था; क्योंकि भगवान् ने दीक्षा लेकर उसी दिन शाम को कर्मारग्राम जाकर रात्रि व्यतीत की थी। जो लोग लिछुआर के निकट-स्थित 'कुमारगाँव' की इस कर्मारग्राम से तुलना करते हैं, वे लोग बिना सोचे-समझे बातें करते हैं और अपनी अज्ञानता प्रकट करते हैं। 'कर्मार' का शाब्दिक अर्थ होता है, लुहार। अतः कर्मारग्राम लुहारों के गाँव को कहते हैं। लछवार के पास जो कुमारग्राम है, वह इस से सर्वथा भिन्न है और वह भी वहाँ एक नहीं बल्कि दो 'कुमारग्राम' पास ही पास हैं।

भगवान् महावीर जब ध्यान में अवस्थित थे, तब कोई ग्वाला सारे दिन ल जोतकर संध्या समय जब बैलों सहित लौटा, तो भगवान् के पास बैलों ो रखकर गायें दुहने के लिए घर चला गया। बैल चरते-चरते जंगल में दूर नेकल गये और जब ग्वाला दो बारा वहाँ लौटा तो उसने देखा कि, बैल वहाँ हीं थे। उसने भगवान् से पूछा—"हे देवार्य, मेरे बैल कहाँ गये?" भगवान् ी ओर से कुछ भी प्रत्युत्तर न मिलने पर, उसने समझा कि, उनको मालूम हीं है। वह जंगल में बैलों को ढूँढने चला गया। भाग्यवशात् बैल प्रातः वयं भगवान् के पास आकर खड़े हो गये।

(पृष्ठ १६२ की पादटिप्पणिका शेषांश)

विशेष स्पष्टीकरणके लिए देखिये 'वैशाली' (हिन्दी, पृष्ठ ६४-६६)

इस गाँव का आधुनिक नाम कामनछपरा गाँव है। (वीर-विहार-मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २३)

१—तत्थ यं दो पंथा एगो पाणिएणं एगो पालीए, सामी पालीए जा. वच्चति ताव पोरुसी मुहुत्तावसेसा जाता, संपत्तो य तं गामं.

—आवश्यक चूर्णि, पत्र २६८।

तत्र च पथद्वयं-एको जलेन अपरः स्थल्यां, तत्र भगवान् स्थल्यां गतवान गच्छंश्च दिवसे मुहूर्तशेषे कर्मारग्राममनुप्राप्तः इति

—आवश्यक, हरिभद्रीय वृत्ति, विभाग १, पत्र १८८।१

तत्र च पथद्वयं एको जलेनापरः पाल्या। तत्र च भगवान पाल्या गतवान्, गच्छंश्च दिवसे मुहूर्तशेषे कर्मारग्राममनुप्राप्तः

—मलयगिरी-आवश्यक-टीका-भाग १, पत्र २६७।१।

१—नासाग्रन्यस्तनयनः प्रलम्बित भुजद्वयः।
प्रभुः प्रतिमया तत्र तस्थौ स्थाणुरिव स्थिरः॥ १६॥

—नासिका के अग्रभाग पर जिनकी दृष्टि स्थिर है, दोनों हाथ जिनके लम्बे किये हुए हैं, ऐसे भगवान् स्थाणु की तरह ध्यान में स्थिर हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १६, पत्र १६-२

सारी रात भटककर प्रातःकाल को जब ग्वाला वहाँ वापिस आया, उसने भगवान् के पास बैठे हुए अपने बैल देखे। देखते ही उसको क्रोध गया। वह झल्लाकर बोला—"बैलों को जानते हुए भी, आप कुछ नहीं बोले ?"—और हाथ में बैल बाँधने की रस्सी लेकर भगवान् मारने दौड़ा। उस समय इंद्र अपनी सभा में बैठा विचार कर रहा था जरा देखूं तो सही कि, भगवान् प्रथम दिन क्या करते हैं ? उस समय को मारने के लिए तैयार होता देख, इन्द्र ने उसको वहीं स्तम्भित दिया और साक्षात् प्रकट होकर कहा—"हे दुरात्मन्, क्या तुझे यह नहीं मालूम कि, यह महाराजा सिद्धार्थ हैं।" ग्वाला लज्जित होकर चला गया।[१]

उसके बाद इंद्र ने भगवान् महावीर की वंदना करके कहा कि, हे दे आपको भविष्य में बहुत बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़ेंगे। आपकी आज्ञा हो त आपकी सेवा में रहूँ। इस पर भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"हे न कभी ऐसा हुआ है और न होगा कि देवेन्द्र या असुरेन्द्र की सहायत अर्हन्त केवल-ज्ञान और सिद्धि प्राप्त करें। अर्हन्त अपने ही बल एवं पराक्र केवल ज्ञान प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं।"[२] तब इन्द्र ने मरण

१—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक २५ पत्र १९-२, आवश्यक चूर्णी पत्र २६९-२७०।

२—नो खलु सक्का ! एवं भूअं वा ३ जं णं अरिहंता देविंदाए वा अ दाए वा निसाए केवलणाणं उप्पाडेंति उप्पाडेंसु वा ३ तवं वा वा ३ सिद्धिं वा वच्चिसु वा ३ णण्णत्थ सएणं उट्ठाणं कम्मबलवी पुरिसक्कारपरक्कमेणं। —आवश्यकचूर्णि—पत्र २

ना पेक्षां चक्रिरेऽर्हन्तः पर साहाय्यिकं क्वचित् ॥२९॥
नैतद्भूतं भवति वा भविष्यति च जातुचित्।
यदर्हन्तोऽन्यसाहाय्यादर्जयन्ति हि केवलम् ॥३०॥
केवलं केवलज्ञानं प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ॥३१॥

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग ३, पत्र २०-

उपसर्ग टालने के लिए प्रभु की मौसी के पुत्र सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में छोड़ दिया।

दूसरे दिन भगवान् ने कर्मारग्राम से विहार किया और कोल्लाग-सन्निवेश[1] आये। और, वहाँ बहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर मिश्रित परमान्न (खीर) से भगवान् के छट्ठ के तप का पारणा किया।

'आवश्यकचूर्णि' पत्र २७० में इस प्रसंग का पाठ "कोल्लाए संनिवेसे घतमधुसंजुत्तेणं परमन्नेणं...पडिलाभितो" आता है।

जैन-साधु के लिए मधु (शहद) का प्रयोग निषिद्ध है। इस परम्परा से अनभिज्ञ लोग प्रायः यहाँ प्रयुक्त 'मधु' शब्द का गलत 'शहद-परक' अर्थ ले

---

१ कोल्लाग-सन्निवेश दो ही थे। एक वैशाली के पास दूसरा राजगृही के पास। तीसरा कोई कोल्लाग नहीं था। जो लोग लछुवाड़ के पास तीसरे कोल्लाग की कल्पना करते हैं, वे अपनी भूगोल-सम्बन्धी अज्ञानता प्रकट करते हैं। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये 'वैशाली' (हिन्दी) पृष्ठ ८०।

डाक्टर हार्नेल वैशाली वाले कोल्लाग को वैशाली का एक मुहल्ला मानते हैं ('महावीर तीर्थङ्कर की जन्मभूमि' जैन-साहित्य-संशोधक खंड १, अंक ४, पृष्ठ २१९) पर यह उनकी भूल है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिए, वैशाली (हिन्दी) पृष्ठ ५१, तथा पृष्ठ ५७।

यह स्थान बसाढ़ से उत्तर पश्चिम में दो मील की दूरी पर है। इसी का आधुनिक नाम कोल्हुआ है। देखीये 'वीर-विहार-मीमांसा' हिन्दी पृष्ठ २३।

(पृष्ठ १६४ की पादटिप्पणि का शेषांश)

यह बात वास्तव में सब आत्माओं से सम्बन्ध रखती है। कोई भी आत्मा जब तक अपने पराक्रम को प्रकट नहीं करता, स्वयं किसी भी तरह का पुरुषार्थ प्रकट नहीं करता, तब तक उसको सिद्धि नहीं प्राप्त होती। कार्यसिद्धि सदा से स्वपराक्रम में रही है। और, पराक्रमी पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं। पर-आश्रय पर निर्भर रहनेवाला कभी स्वतंत्र नहीं बन सकेगा।

लेते हैं। और, वे यह देखने की चेष्टा नहीं करते कि 'मधु' का वस्तुतः कुछ अन्य अर्थ है भी या नहीं। अतः ऐसे व्यक्तियों की जानकारी के लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण दे रहे हैं :—

(१) मधु=शूगर (शर्करा) मोन्योर-मोन्योर-विलियम्स-संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ ७७९.

(२) मधु=शूगर (शर्करा) आप्टे-रचित 'संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी' पृष्ठ ७३७

(३) मधु (न.)=चीनी संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ ६३७।

(४) मधु=शर्करा-वृहत्-हिन्दी-कोष पृष्ठ १००१।

(५) 'मधुनः शर्करायाश्चगुडस्यापिविशेषतः'. शब्दार्थ चिंतामणि, तृतीय भाग, पृष्ठ ५०६

(६) हेमचन्द्राचार्य ने 'शर्करा' के लिए 'मधुधूलि' शब्द भी लिखा है अभिधान चिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड, श्लोक ६७, पृष्ठ १६६।

'मधु' शब्द का अर्थ केवल 'शहद' ही नहीं होता, बल्कि 'शर्करा' अथवा मीठी वस्तु भी होता है। अभिधान राजेन्द्र भाग ६, पृष्ठ २२९ में 'महु' का अर्थ दिया है 'अतिशायिशर्करादिमधुरद्रव्ये।' इस प्रसंग का उल्लेख त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, (पत्र २०।१) में जहाँ हेमचन्द्राचार्य ने किया है. वहाँ मधु के स्थान पर स्पष्ट 'सिता' लिखा है

'चक्रे सितादिमिश्रेण परमान्नेन पारणाम्।'—सर्ग ३, श्लोक ३५। पत्र २०।१।

कोल्लाग सन्निवेश से भगवान् ने मोराकसन्निवेश की तरफ प्रस्थान किया। और वहाँ दूईज्जन्तक[1] नाम के पापंडस्थों[2] के आश्रम में गये। उस आश्रम का

१—दूइज्जन्तकाभिधानपापण्डस्थो दूतिज्जन्तक एवोच्यते।

—आवश्यक सूत्र हरिभद्रीय वृत्ति, विभाग १, पृष्ठ १९१-१।

—दूइज्जन्तक नाम के जो पापण्डस्थ वे ही दूतिज्जन्तक कहे जाते हैं। दूइज्जन्त का अर्थ भ्रमणशील होता है। जो तापस सदा एक स्थान पर न रहकर, घूमते रहते हैं, वे दूइज्जन्तक तापस कहलाते हैं।

२—पापण्डिनो गृहस्था—पापण्डस्थ का मतलब है, गृहस्थ।

सारांश—भ्रमणशील, स्त्री को साथ में रखनेवाले और किसी विद्या द्वारा अपनी आजीविका चलानेवाले तापसों का जो आश्रम है, उसका नाम है—दूइज्जन्तक पापण्डस्थ आश्रम।

कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था। भगवान् महावीर को आते हुए देखकर वह उनके सम्मान के लिए सामने गया। उससे मिलने के लिए भगवान् महावीर ने भी अपने दोनों हाथ बढ़ाये। कुलपति के अति आग्रह पर भगवान् ने एक रात्रि वहीं व्यतीत की। और, दूसरे दिन जाते हुए कुलपति ने अति आग्रहपूर्वक कहा—"हे कुमारश्रेष्ठ, इस आश्रम को आप किसी दूसरे का न समझें। यहाँ कुछ समय रहकर इस आश्रम को पवित्र करें और यह चातुर्मास यहीं व्यतीत करें तो बहुत अच्छा।"

कुलपति की आग्रहपूर्ण विनती स्वीकार करके, भगवान् ने आगे विहार किया। और, समीपस्थ स्थानों में भ्रमण करके चातुर्मास के लिए वापस लौट उसी दूइज्जन्तक नामके आश्रम में आकर कुलपति के द्वारा बतलायी गई पर्णकुटी में रहने लगे।

प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभावना रखने वाले भगवान् महावीर को कुछ समय यहाँ ठहरने के बाद, यह स्वयं मालूम होने लगा कि, यहाँ शांति नहीं मिलेगी। किसी जीव को जरा-सी भी तकलीफ हो, ऐसा भगवान् नहीं चाहते थे। वे सदा ध्यान में लीन रहते थे। ससार के समस्त पदार्थों पर यावत् अपने शरीर पर भी—उनको ममत्व भाव नहीं था। अपने और पराये का भाव तो उनमें किंचित् मात्र भी नहीं था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उनके जीवन का लक्ष्य था। पर, इन आश्रमवासियों की प्रवृत्ति सर्वथा भिन्न थी। उनको अपनी झोपड़ी तथा अपनी अन्य वस्तुयें प्राण से भी प्रिय थीं। वे सदा उनकी रक्षा में तत्पर रहा करते थे।

बरसात के दिन थे। धीरे-धीरे वर्षा हो रही थी। लेकिन, अभी घास नहीं उगी थी। अतः, क्षुधा से पीड़ित गायें आश्रम की झोपड़ियों को खाने के लिए झपटती थीं। अन्य सभी परिव्राजक उनको रोकते, भगाते अथवा मारते थे। लेकिन, भगवान् महावीर अपने ध्यान में ही लगे रहते। तापसों ने कुलपति से भगवान् महावीर की शिकायत की कि, गायें झोपड़ी तक खा जाती हैं; पर महावीर उनको मारते या भगाते नहीं। कुलपति ने आकर भगवान् महावीर से अति मधुर वचन में कहा—"हे कुमारवर, ऐसी उदा-

सीनता किस काम की ? एक पक्षी भी अपने घोसले की रक्षा में तत्पर रहता है। आप क्षत्रियकुमार होकर क्या अपनी झोपड़ी की भी रक्षा नहीं कर सकते ?"

आश्रमवासियों के व्यवहार से भगवान् महावीर का दिल वहाँ से उठ गया और उन्होंने मन में समझा कि, अब वहाँ रहना उचित नहीं है; क्योंकि उससे आश्रमवासियों को दुःख होगा। और, मैं अप्रीति का कारण बनूँगा। अतः, वर्षाऋतु १५ दिन व्यतीत हो जाने पर भी, भगवान् ने यहाँ से विहार किया और अस्थिग्राम में जाकर चौमासा व्यतीत किया। और, उस समय भगवान् ने पाँच प्रकार की प्रतिज्ञा ली:—

ना प्रीतिमद्गृहे वासः स्थेयं प्रतिमया सह।
न गेहिविनयं कार्यो मौनं पाणौ च भोजनम्॥

(१) अब से अप्रीतिकारक स्थान में कभी नहीं रहूँगा।
(२) सदा ध्यान में लीन रहूँगा।
(३) सदा मौन रखूँगा—बोलूँगा नहीं।
(४) हाथ में भोजन करूँगा।
(५) और, गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा।

(कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पत्र २८८)

वहाँ (अस्थिकग्राम में) गाँव के बाहर शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था। वहाँ रहने के लिए भगवान् ने गाँव वालों की आज्ञा माँगी। तब लोगों ने कहा—"यह यक्ष महादुष्ट है और वह किसी को यहाँ ठहरने नहीं देता।" उस यक्ष की कहानी इस प्रकार है—

"यहाँ पहले वर्धमान नामक एक गाँव था और पास ही वेगवती नामक नदी बहती थी। उसके दोनों किनारों पर कीचड़ था। धनदेव नामक एक व्यापारी उस कीचड़ वाले रास्ते से ५०० गाड़ियाँ लेकर आ रहा था। उसकी गाड़ियाँ कीचड़ में फँस गयीं। उसके पास एक बड़ा बलिष्ट बैल था। उसके द्वारा उस व्यापारी ने अपनी कुल गाड़ियाँ कीचड़ से बाहर निकलवायीं।

"अत्यंत बल करने से उस बैल को खून की कय हुई और वह वहीं गिर पड़ा। घनदेव को इससे बड़ा दुःख हुआ। गाँव के लोगों को उसकी सार-सँभाल के लिए धन और चारा देकर और बैल की सुरक्षा का प्रबंध करवा कर वह व्यापारी चला गया। लेकिन, बाद में गाँव वालों ने उस बैल की खबर भी न ली और वह मर कर व्यन्तर-देव (यक्ष भी ८ व्यंतर-देवों में एक है) हुआ। अपने पूर्वभव का स्मरण करके, उसने गाँव के लोगों पर भीषण उपद्रव करने शुरू किये। सारे ग्राम में 'बीमारी' फैल गयी। लोग कीड़ों की तरह मरने लगे और हड्डियों का ढेर लग गया, जिसके कारण लोग उस गाँव को ही अस्थिक-ग्राम कहने लगे। लोगों ने समझा कि यह किसी देव का उपद्रव है। अतः सब ने मिलकर देव की आराधना की। तब उसने प्रकट होकर कहा—'मैं वही बैल हूँ और मरकर शूलपाणि यक्ष[१] हुआ हूँ। मेरे स्वामी के दिये हुए धन से तुमने मे रीरक्षा नहीं की। तुम सब मिल कर उसे खा गये, इसलिए मैं तुम्हारे ऊपर रुष्ट हुआ हूँ। अतः, यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो, तो मेरा एक मन्दिर बनवा दो और उसमें मेरी मूर्त्ति स्थापित करा दो। तब ग्राम में शान्ति स्थापित होगी।'

"शूलपाणि (जिसके हाथ में त्रिशूल है) के इस आदेश पर हमने वहाँ मन्दिर बनवा दिया है और उसमें एक पुजारी रख दिया है।" यह कथा कह कर लोगों ने भगवान् से कहा कि रात्रि में यदि कोई पथिक इस मंदिर में ठहरता है, तो वह यक्ष उसको मार डालता है। अतः यहाँ रहना उचित नहीं है।

इस कथा को सुनने के पश्चात् भी जब महावीर ने वहीं ठहरना चाहा तो निरुपाय होकर गाँववालों ने उन्हें अनुमति दे दी। शाम को जब पुजारी जाने लगा, तो उसने भी भगवान् महावीर को सचेत किया कि यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। लेकिन, भगवान् ने उसका कुछ जवाब नहीं दिया। और, मंदिर के एक कोने में ध्यान में स्थिर हो गये।

१–जिसके हाथ में शूल है।

भगवान् महावीर को वहाँ ठहरा हुआ देख, व्यन्तर ने सोचा-"यह कोई मरने की इच्छा से यहाँ आया मालूम होता है। इसने गाँव के लोगों की तथा पुजारी की बात नहीं मानी और यहाँ आकर खड़ा हो गया। रात्रि होने दो तो फ़िर मैं इसकी खबर लेता हूँ।"

ज्यों ही सूर्यास्त हुआ, व्यन्तर ने अपने पराक्रम दिखलाने शुरू कर दिये। सब से पहले, उसने भयंकर अट्टहास किया, जिससे सारा जंगल कम्पायमान हो उठा। लेकिन, भगवान् महावीर इससे अपने ध्यान से जरा-भी टस-से-मस नहीं हुए। तब उसने हाथी का रूप धारण किया और दंत-प्रहार करने लगा तथा पाँव से रौंदने लगा। फिर भी भगवान् महावीर अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। तब उसने विकराल पिशाच का रूप धारण किया और तेज नाखूनों और दाँतों से भगवान् के अंगों को काटने लगा। लेकिन, महावीर अपने ध्यान में निश्चल रहे। फिर विषधर सर्प बनकर वह भगवान् को काटने लगा; लेकिन फिर भी वह अविचलित रहे। अंत में, क्रुद्ध होकर उस ने अपनी दिव्य शक्ति से भगवान् के आँख, कान, नाक, शिर, दाँत, नख और पीठ में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की कि, जिससे साधारण मनुष्य तो मृत्यु को प्राप्त हो जाता[1] लेकिन, क्षमाशील महावीर इन वेदनाओं को धैर्यपूर्वक सहन कर गये।

इस प्रकार सारी रात शूलपाणि यक्ष ने भगवान् महावीर को नाना प्रकार की वेदनाएँ दीं। लेकिन जब उसने देखा कि, भगवान् महावीर पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा तब उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। भगवान् महावीर के दृढ़ मनोबल से टकराकर उसकी दुष्ट मनोवृत्तियाँ चूर हो गयीं। इसी समय सिद्धार्थ व्यन्तर देव ने प्रकट होकर शूलपाणि की भूल उसे बतायी। और, शूलपाणि क्षमाशील भगवान् के चरणों में गिरकर अपने अपराधों की क्षमा याचना करने लगा और उनके धैर्य तथा उनकी सहनशीलता का गुणगान करने लगा।

१—एकापि वेदना मृत्युकारणं प्राकृते नरे।
अधिसेहे तु ताः स्वामी सप्तापि युगपद्भवाः ॥१३२॥
—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित, पर्व १०, सर्ग ३, पत्र २१-२

उसी रात्रि को पिछले प्रहर जब एक मुहूर्त रात बाकी रही, तो भगवान् को निद्रा आ गयी। और, उस समय उन्होंने १० स्वप्न देखे :—

१—अपने हाथ से बढ़ते हुए ताड़ पिशाच को मारना

२—श्वेत पक्षी को अपनी सेवा करते हुए

३—चित्र-कोकिल पक्षी को अपनी सेवा करते हुए

४—सुगन्धित पुष्पों की दो मालाएँ

५—सेवा में रत गौ-समुदाय

६—विकसित कमलवाला पद्म-सरोवर

७—समुद्र को तैर कर पार करना

८—उगते हुए सूर्य के किरणों को फैलते हुए

९—अपनी आँतों से मनुषोत्तर पर्वत को लपेटते हुए

१०—मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए

रात्रि को शूलपाणि का अट्टहास सुन कर गाँव के लोगों ने भगवान् महावीर के मृत्यु का अनुमान कर लिया था और पिछली रात को जब उसको गीत-गान करते हुए सुना तब लोगों ने समझा कि, यह यक्ष महावीर की मृत्यु की खुशी मे अब आनंद मना रहा है।

अस्थिक गाँव में उत्पल नामका एक निमित्तवेत्ता विद्वान् रहता था वह किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में जैन-साधु[1] था। और पीछे से गृहस्थ होकर निमित्त-ज्योतिष से अपनी आजीविका चलाता था।

१—तत्थय उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो नेमित्ति ो भोमउप्पातसिमिणंतलिक्ख अंग सरलक्खण वंजण अट्ठंग महानिमित्त ाणओ जणस्स सोऊण चिंतेति।

—वहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा में साधुता स्वीकार करके बाद में उसका ाग करके गृहस्थ बना हुआ उत्पल नामका निमित्तक था जो भौम, उत्पात, ्न, अंतरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण और व्यंजन इन अष्टांग निमित्त का

उत्पल को जब यह मालूम हुआ कि, भगवान् महावीर शूलपाणि के मंदिर में उतरे हैं तो वह सहसा चिंतित हो उठा और सारी रात अनि आशंकाओं में व्यतीत करके सुबह होते ही इंद्रशर्मा पुजारी के साथ भगवा महावीर को देखने के लिए गया। वहाँ जाकर उन सब ने देखा कि, भगवा महावीर के चरणों में पुष्प गंधादि सुगन्धित पदार्थ चढ़े हुए थे। इसको देख कर गाँव के लोगों और उत्पल नैमित्तक के आनन्द की कोई सीमा रही। हर्षावेश में गगनभेदी नारे लगाते हुए, वे भगवान् के चरणों में गि पड़े और बोल उठे—"हे देवार्य ! आपने देवबल से इस क्रूर-यक्ष को शां कर दिया। यह बहुत ही अच्छा हुआ।"

भगवान् के स्वप्नों का[1] फलादेश करते हुए वह उत्पल नामक नैमित्तिक बोला—"भगवान्, आपने जो पिछली रात को स्वप्न देखे हैं, उनका इस प्रकार है :—

(१) आप मोहनीय कर्म का अंत करेंगे।
(२) शुक्ल ध्यान आप का साथ नहीं छोड़ेगा।
(३) आप विविध ज्ञानमय द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।
(४) ?

१–भगवती सूत्र सटीक, शतक १६, उद्देसा ६, सूत्र ५८०, तृतीय खं पत्र १३०५, १३०६, कल्पसूत्र सबोधिका टीका पत्र २९४।

आवश्यकचूर्णि, पत्र २७४,

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १४७-पत्र २४।

[पृष्ठ १७१ की पादटिप्पणि का शेषांश]

महावेत्ता था—लोगों के मुख से सुनकर इस प्रकार (भगवान् की) चिंता करने लगा।

—आवश्यकचूर्णि, पत्र २७३।

(५) श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकात्मक चतुर्विध संघ आपकी सेवा करेगा.

(६) चार प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे।

(७) संसार-समुद्र से आपका निस्तार होगा।

(८) आप केवलज्ञान को प्राप्त करेंगे।

(९) स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तक आपका यश फैलेगा।

(१०) सिंहासन पर बैठ कर आप देव और मनुष्यों की सभा में धर्म की प्रस्थापना करेंगे।

"इस प्रकार नव स्वप्नों का फल मेरी समझ में आ गया; लेकिन चौथे स्वप्न में आपने जो सुगन्धित पुष्पों की दो मालाएँ देखीं, उसका फल मेरी समझ में नहीं आया।"

चौथे स्वप्न का फल बतलाते हुए, भगवान् ने कहा—"उत्पल, मेरे चौथे स्वप्न का फल यह होगा कि सर्व विरति (साधु धर्म) और देश विरति (श्रावक धर्म) रूप दो प्रकार के धर्म का मैं उपदेश करूँगा।"

अपना प्रथम चातुर्मास भगवान् ने १५-१५ उपवास के आठ अर्द्धमास तपश्चर्या द्वारा व्यतीत किया।[1]

---

१ आवश्यक चूर्णी, पत्र २७४, २७५

हस्तिग्राम

१—अस्थिक ग्राम और हत्थिगाम भिन्न-भिन्न नहीं हैं। दोनों एक ही स्थल का द्योतन करते हैं। उसके लिए हम यहाँ कुछ प्रमाण लिख रहे हैं—

(अ) यही हत्थिगाम सम्भवतः अस्थिक ग्राम है। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित 'हत्थिगाम' और जैन-साहित्य में वर्णित 'अस्थिकग्राम' में थोड़ा सा उच्चारण भेद है। परन्तु दोनों साहित्यों में इसे विदेह के अन्तर्गत माना है। और वैशाली के निकट होना बताया है।

—'वीर-विहार-मीमांसा', (हिन्दी) पृष्ठ ४

(आ) बहुत-से आलेखों में हस्तिपद का उल्लेख कुछ ब्राह्मण-परिवारों की मूलभूमि के रूप में मिलता है। यह कहाँ था, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इससे वैशाली (उत्तर बिहार में स्थित मुजफ्फरपुर जिले के अन्तर्गत बसाढ़) के निकट वर्णित हस्तिग्राम का ध्यान हो आता है।

—'इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली', भाग २०, अंक ३, पृष्ठ २४१।

(इ) बौद्धग्रन्थों के 'हस्तिगाम' और जैन-वाङ्मय के 'अस्थिकगाम' एक ही हैं। वस्तुतः उच्चारण-भेद से ही 'अस्थिक' का 'हत्थि' हो गया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह पूर्णतया प्रमाणित है। संस्कृत 'अस्थि' का पहले 'अट्ठी' होता है फिर 'हड्डी' हो जाता है। 'अ' के स्थान पर 'ह' होना आरम्भ में कई स्थानों पर देखा जाता है। 'ओष्ठ' का 'होठ' हो जाता है। 'अमीर का 'हमीर' हो जाता है।

ब्रह्मनाल, काशी
ता. १–१०–४६

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(उ) सोमवंशी भवगुप्त प्रथम के ताम्रपत्र में जो हस्तिपद नामक स्थान आया है, वह भी सम्भवतः हत्थिग्राम है।

—वीर-विहार-मीमांसा (हिन्दी), पृष्ठ ३

इस 'हस्तिपद' या 'हस्तिग्राम' का अस्तित्व ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक था; क्योंकि शैलेन्द्रवंशीय जावा, सुमात्रा और मलयदेश के राजा बालपुत्रदेव—जो नालंदा में महाविहार बनाना चाहते थे—ने पाल-वंश के महान राजा देवपाल के पास दूत भेज कर उनसे पाँच गाँव माँगे थे। देवपाल बौद्ध धर्म का सरक्षक था। अतः उसने राजा बालपुत्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली और पाँच गाँव भेंट किये। उन पाँच गाँवों में नातिका और हस्ति (हस्तिग्राम) का स्पष्ट उल्लेख है—देखिये 'हिस्ट्री आव बेंगाल', वाल्यूम १ पृष्ठ १२१-६७१ सम्पादक आर० सी० मजूमदार तथा नालंदा ऐंड इट्स एपीग्राफिक मिटीरियल पृष्ठ ९७, १००।

वैशाली से भोगनगर जाते हुए, रास्ते में 'हस्थिग्राम' पड़ता था और वह वज्जि प्रदेश में स्थित था।

'डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स,' भाग २, पृष्ठ १३१८

बुद्ध के विहार में हत्थिगाम वैशाली से दूसरा पड़ाव था और भगवान् महावीर के विहार में क्षत्रियकुण्ड से हत्थिगाम (अस्थिकग्राम) चौथा पड़ाव था।

अट्ठिगामस्स पढमं वद्धमाणयं णामं होत्था

—आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७२

अर्थ—अस्थिकगाँव का नाम पहले वर्द्धमान था।

शूलपाणि नामके यक्ष द्वारा मारे गये बहुत से मनुष्यों की अस्थियाँ यहाँ एकत्र हो जाने से, इसका नाम 'अस्थिकग्राम' पड़ गया। क्योंकि 'अस्थि' माने 'हड्डी' और 'ग्राम' याने 'समूह' इस प्रकार 'अस्थिकग्राम' का अर्थ 'हड्डीयों का समूह' हुआ।

'वर्धमान' नामधारी नगर के निम्न लिखित उल्लेख पाये जाते हैं:—

१—'कथासरित्सागर' (अध्याय २४, २५) में एक वर्द्धमान का उल्लेख मिलता है जो प्रयाग और वाराणसी के बीच में स्थित था। 'मारकण्डेय पुराण' तथा 'बेताल-पंचविंशति' में भी इसका उल्लेख मिलता है।

२—शाहजहाँपुर से २५ मील दूर बाँसखेड़ा में प्राप्त ताम्र-पत्र में वर्द्धमान के लिए वर्द्धमान-कोटि का उल्लेख आया है (देखिये मारकण्डेय पुराण, अध्याय ५८)। यहाँ ई० पूर्व ६३८ में हर्षवर्द्धन ने पड़ाव डाला था। यह वर्द्धमान-कोटी आज दिनाजपुर जिले में 'वर्द्धमान-कोटी' के नाम से विख्यात है। देवीपुराण अध्याय ४६ में वर्द्धमान का उल्लेख वंग से पृथक स्वतन्त्र देश के रूप में आया है।

३—स्पेंस हार्डी-लिखित 'मैनुअल आव बुद्धिज़िम' में दाँता के निकट वर्द्धमान के अवस्थित होने का उल्लेख है (पृष्ठ ४८०)।

४—'जर्नल आव एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल' १८८३ में 'ललितपुर इंस्क्रिप्शन' शीर्षक लेख में एक वर्द्धमान का उल्लेख है, जो मालवा में था।

५—एक वर्द्धमान अथवा वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र में स्थित है, जो आज कल 'बड़वान' के नाम से विख्यात है। यहाँ १४२३ ई० में मेरुतुङ्ग नामक जैन विद्वान ने 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' की रचना की थी।

६—एक वर्द्धमानपुर का उल्लेख दीपवंश (पृष्ठ ८२) में आया है इसी को बाद के आलेखों में 'वर्द्धमान-भुक्ति' या वर्द्धमान नाम से लिखा गया है। यह कलकत्ता से ६७ मील दूरी पर स्थित बर्दवान नगर है।

यह अस्थिकग्राम जिसका पूर्व नाम वर्द्धमान था, इन सभी से भिन्न है। क्योंकि ये सभी वर्द्धमान विदेह देश के बाहर हैं और अस्थिकग्राम जहाँ भगवान महावीर ने अपना प्रथम चतुर्मास बिताया था, विदेह देश में आया हुआ था। उसी का दूसरा नाम 'हस्तिग्राम' है।

दीनार

'उक्त देवदूष्य का मूल्य १ लाख दीनार होगा'—इस उक्ति के समर्थन में हम नीचे कुछ प्रमाण दे रहे हैं:—

(१) दीनार लक्षं मूल्येऽस्य भविष्यति विभज्य तत्।
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक १४, पत्र१९-२।

दीणार सयसहस्सं लहिही तं विक्कयम्मि तो तुज्झं।
—महावीरचरियं नेमिचन्द्र सूरि-रचित, पत्र ३७-१, गाथा ६७।

पडिपुण्णं व दीणार लक्ख मुल्लं........।
—श्रीमहावीर चरित्रम् (प्राकृत) गुणचन्द्र गणि-रचित, पत्र १४४-१।

जैन-आगमों मे 'दीनार' शब्द अन्य प्रसंगों में भी आता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक (पूर्व भाग) पत्र १०५-२ में तथा जीवाजीवाभिगम् सूत्र सटीक पत्र १४७-२ में कल्पवृक्षों के प्रसंग में दीणारमालिया शब्द आया है। कल्पसूत्र में स्वप्न के प्रसंग में जहाँ लक्ष्मी का वर्णन आता है, वहाँ भी 'दीणारमाल' शब्द आया है (सूत्र ३६, सुबोधिका टीका, पत्र ११६)। मालिका के इन प्रसंगों में 'दीणार' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है।

वृहत्कल्पसूत्र सटीक तथा सभाष्य (द्वितीय विभाग, पृष्ठ ५७४) में दीणार के सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख आया है:—

पूर्वदेशे दीनारः।

अर्थात् दीनार पूर्व देश का सिक्का था।

आवश्यक की हारिभद्रीय टीका में पत्र १८५-१ में तथा ४३२-१ पर तथा आवश्यक निर्युक्ति दीपिका प्रथम विभाग) में (पत्र १८३-१) भी दीणार शब्द आया है।

पउमचरिय में भी दीणार का उल्लेख है। अंगविज्जा में

सुवण्णमासको व त्ति तहा रयय मासओ।
दीणारमासको व त्ति तधोणाणं च मासको॥
—पृष्ठ ६६, गाथा १८१

तथा—

सुवण्णकाकणी व त्ति तधा मासककाकणी।
तधा सुवण्णगुञ्ज त्ति दीणारि त्ति व जो वदे॥
—पृष्ठ ७२, गाथा १६६

गाथाएँ आयी हैं। इनमें 'दीनार' का स्पष्ट वर्णन है।

वसुदेवहिंडी में पृष्ठ २८९ पर दीनार शब्द आया है।

समराइच्चकहा में भी दीणार का उल्लेख आया है, इसे डाक्टर मार्कंडे ने कथासार में पृष्ठ ४८, ५७, ७८ तथा १०१ में लिखा है।

'दीणार' शब्द वैदिक-ग्रंथों में भी आता है:—

(१) 'हरिवंश पुराण' में भी दीनार का उल्लेख है।

(२) कार्षापणो दक्षिणस्यां दिशि रूढः प्रवर्तते।
पणैर्निबद्धः पूर्वस्यां षोडशैव पणः स तु॥११६॥
पंचनद्याः प्रदेशे तु या संज्ञा व्यावहारिकी।
कार्षापण प्रमाणं तु निबद्धमिह वै तया॥११७॥
कार्षापणोऽधिका ज्ञेयश्चत (स्रोव?स्तु) धानकम्।
ते द्वादश सुवर्णे स्याद् दीना(रा?र)श्चित्रकः स्मृतः॥११८॥
—नारदस्मृति १८ अ०; स्मृति संदर्भ, खंड १, पृष्ठ ३३१

(३) 'प्राची कांचनदीनार चक्रे इव' ऐसा उल्लेख सुबन्धु-रचित वासवदत्ता (५-वीं शताब्दी) में आता है, जिससे स्पष्ट है कि, यह सोने के सिक्के का नाम है।

(४) दशकुमार चरित्र में (द्वितीय वृत्ति, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ६७) में

मया जितश्चासौ षोडश सहस्राणि दीनाराणाम् उल्लेख आया है।

(५-६) पञ्चतन्त्र (हर्टल-सम्पादित) में पृष्ठ १०६ पर दीनारसहस्रं तथा तंत्राख्यायिका (हर्टल-सम्पादित) में पृष्ठ ४६ तथा ४७ पर दीनार शब्द कई बार आया है।

७) राजतरंगिणी (आर० एस० पण्डित का अनुवाद) में तरंग ३, श्लोक १०३, (पृष्ठ ६७) तथा तरंग ५, श्लोक २०५ (पृष्ठ १७४) में भी दीनार शब्द आता है।

प्राचीन कोषों में भी 'दीनार' शब्द आया है। अभिधान चिन्तामणि कोष (भूमिकाण्ड, श्लोक ११२) में स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने टीका में सिक्कों के वर्णन में दीनारादि लिखा है। वैजयन्ती कोष (पृष्ठ १८९, श्लोक ४१) में भी 'दीनार' शब्द आया है तथा कल्पद्रु कोष (खंड २, पृष्ठ ११३) में दीनार और निष्क शब्द समानार्थी बताये गये हैं।

मुद्राशास्त्रियों ने 'दीनार' का परिचय इस रूप में दिया है। डा० वासुदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सिक्के' में (पृष्ठ १६-१७) लिखा है :—

"रोम-राज्य के सोने के सिक्के 'दिनेरियस' कहे जाते थे, उन्हीं के नाम पर गुप्त सम्राटों ने 'दीनार' रखा। गुप्त-लेखों तथा साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है। साँची के एक लेख में दीनार-दान देने का वर्णन मिलता है। 'पंचविंशति दीनारान्' तथा 'दत्ताः दीनारान्', 'दीनाराः द्वादश' आदि लेखों में प्रयुक्त मिलते हैं। गुप्त राजा बुधगुप्त (छठी शताब्दी) के दामोदरपुर-ताम्रपत्र में 'दीनार' सिक्के के लिए प्रयोग किया गया है। गुप्तकाल में दीनार के अतिरिक्त 'सुवर्ण' शब्द का भी प्रयोग सिक्के के लिए आया है। परन्तु, दीनार का प्रयोग बहुत समय तक प्रचलित रहा। दसवीं शताब्दी के मुसलमान यात्रियों सुलेमान तथा अल्-मसूदी ने 'दीनार' शब्द का प्रयोग सिक्कों के लिए किया है।"

और, पृष्ठ ३५ पर नारद, कात्यायन तथा बृहस्पति-स्मृतियों का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"चार कार्षापण एक अंडिका के बराबर था और चार अंडिकाएं 'सुवर्ण' अथवा 'दीनार' के बराबर मानी जाती थी।"

जैन-ग्रन्थों में 'सुवण्ण' शब्द भी आता है। यह भी एक सोने का सिक्का था। इसका प्रमाण अनुयोगद्वार (सूत्र १३२, पत्र १५५-२, १५६-१) टीका में दिया है :—

"'पोडप कर्णमापका एकः सुवर्णः"

अर्थात् १६ मापक का एक सुवर्ण होता था। भगवती सूत्र, शतक, उद्देशा ५, में आता है :—

अशीति गुंज प्रमाणे कनके

अर्थात् ८० गुंज की वजन का 'कनक'। 'सुवण्ण' के सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा है :—

सर्पपाः पट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम्।
पञ्च कृष्णलको मापस्ते सुवर्णस्तु पोडश॥

—अध्याय ८, श्लोक १३

६ गौर सर्पप का एक मध्यम, ३ जव की एक रत्ती, ५ रत्ती का मासा और १६ मासे का एक सुवर्ण्ण होता है।

ठीक ऐसा ही परिमाण अर्थशास्त्र में भी दिया है :—

धान्यमापा दश सुवर्णमापक पञ्च वा गुञ्जाः ॥२॥
ते पोडश सुवर्णकर्पो वा ॥३॥
चतुः कर्पं पलकम् ॥४॥

—कौटिल्य अर्थशास्त्र २, १९, पृष्ठ १०३

—दश धान्यमाप (उड़द के दाने) का सुवर्णमाप होता है और इतने ही का पाँच गुंजा (रत्ती) ॥२॥ सोलह माप का एक सुवर्ण अथवा एक कर्ष होता है ॥३॥ चार कर्ष का एक पल होता है ॥४॥ यह सुवर्ण तोलने के बाटों का कथन किया गया है। इसको निम्न निर्दिष्ट रीति से दिखाया जा सकता है :—

१० उर्द के दाने = १ सुवर्ण मापक अथवा ५ रत्ती
१६ मापक = १ सुवर्ण अथवा १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल

-कौटलीय अर्थशास्त्र (हिन्दी-अनुवाद, प्रथम भाग) उदयवीर शास्त्री-अनूदित, पृष्ठ २२६

इस प्रकार जैन-ग्रन्थों में स्वर्ण का जो माप है, वह इतर ग्रन्थों से भी ष्ट हो जाता है। और, 'सुवर्ण' सोने का सिक्का था, इसका भी जैन-साहित्य में स्पष्ट उल्लेख है :—

उत्तराध्ययन की नेमिचन्द्राचार्य की टीका के आठवें अध्याय (पत्र १२५-१) कपिलमुनि की कथा में 'सुवन्नसयं मग्गामि' उल्लेख से 'सुवर्ण' का सिक्का होना स्पष्ट रूपसे प्रकट है।

जैन-आगमों में सोने के सिक्कों के लिए एक और शब्द 'हिरण्ण' आता है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक ५।१२३, नायाधम्म कहा ८, आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख आता है। यह हिरण्ण भी स्वर्ण-मुद्रा थी। आचारांग में वार्षिक दान के प्रकरण में (द्वितीय श्रुतिकंध, पत्र ३९०-१) 'हिरण्ण' शब्द आया है। इसके अनुवाद में रवजीभाई देवराज ने (पृष्ठ ३७ पर) 'सोना-मोहर' लिखा है। यह ठीक है। मेरा मत है कि दीनार, हिरण्ण और सुवण्ण शब्द समानार्थी हैं।

द्वितीय वर्षावास

प्रथम चातुर्मास अस्थिक ग्राम में समाप्त करके शरद ऋतु में (मार्गशीर्ष बदी १ के दिन) भगवान् ने वहाँ से विहार किया और मोराकसन्निवेश[1] पधारे। वहाँ वे बाहर उद्यान में ठहरे।

यहाँ पर अच्छन्दक नाम के पाखण्डी लोग थे। उनमें से एक अच्छन्दक उस गाँव में गया। वह ज्योतिष, वशीकरण आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाता था। भगवान् महावीर की महत्ता जान जाने के बाद लोग अच्छन्दक से मुँह मोड़ने लगे और भगवान् महावीर के पास आने लगे। एक दिन अच्छन्दक ने आकर भगवान् से प्रार्थना की—"हे देव, आप अन्यत्र विहार कीजिये; क्योंकि आपकी महिमा तो सर्वत्र है। मैं यदि अन्यत्र जाऊँ तो मेरी आजीविका नहीं चलेगी।" ऐसी परिस्थिति में भगवान् ने वहाँ रहना उचित नहीं समझा और वहाँ से वाचाला की ओर विहार किया।

वाचाला नामके दो सन्निवेश थे, एक दक्षिण-वाचाला और दूसरा उत्तर वाचाला। दोनों सन्निवेशों के बीच में सुवर्णवालुका और रूप्यवालुका नाम की दो नदियाँ बहती थीं। भगवान् महावीर दक्षिण-वाचाला होकर उत्तर वाचाला जा रहे थे। उस समय उनके दीक्षा के समय का आधा दूष्य सुवर्णवालुका नामक नदी के किनारे कंटकों में फँस कर गिर पड़ा। भगवान् ने उसकी ओर एक दृष्टि डाली और आगे बढ़ गये। तब से ही भगवान् यावज्जीवन अचेलक रहे।[2]

देवदूष्य वस्त्र की ही लालच से सोम नाम का ब्राह्मण भगवान् के पीछे-पीछे वर्ष एक और एक मास तक घूमता रहा। उस आधे देवदूष्य को लेकर तुन्नवाय (रफूगर) के पास गया। तुन्नवाय से उसे अखंड बनवा कर वह उसको बेचने के लिए राजा

१—आवश्यक चूर्णी, प्रथम भाग, पत्र २७५
२—आवश्यक चूर्णी, प्रथम भाग, पत्र २७६

न्दिवर्द्धन [1] के पास ले गया। नन्दिवर्द्धन ने उसे देखकर पूछा—"यह द्रूष्य आपको कहाँ मिला ?" उस ब्राह्मण ने सारी कहानी कह सुनायी। इससे पित हो राजा नन्दिवर्द्धन ने एक लाख दीनार देकर उसे खरीद लिया।

उत्तर वाचाला जाने के लिए दो मार्ग थे। एक कनकखल आश्रमपद के तर होकर जाता था। और दूसरा आश्रम के बाहर होकर आश्रम के भीतर । मार्ग सीधा था; लेकिन निर्जन और भयानक था। और, आश्रम के हर का मार्ग लम्बा था; पर निरापद होने के कारण वही मुख्य मार्ग था।

भगवान् आश्रमपद के भीतर के मार्ग से आगे बढ़े। भगवान् थोड़ी ही र चले होंगे कि, उन्हें रास्ते में कुछ ग्वाले मिले। उन्होंने भगवान् से हा—"देवार्य, यह मार्ग ठीक नहीं है। रास्ते में एक अति दुष्ट 'दृष्टिविष' ाम का सर्प रहता है, जो पथिकों को भस्म कर देता है। अच्छा हो, ाप वापस लौट कर बाहर के मार्ग से जायें।"

भगवान् महावीर ने उन लोगों की बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया और ौर वे उसी मार्ग से आगे बढ़ कर यक्ष के देवालय के मंडप में जाकर यानारूढ़ हो गये।

यह सर्प पूर्व जन्म में तपस्वी साधु था। एक दिन पारने के लिए एक ाल-शिष्य को साथ में लेकर भिक्षा के लिए बस्ती में गया। रास्ते में र्यासमिति [2] पूर्वक चलने पर भी एक मण्डूकी पाँव के नीचे कुचल गयी। स शिष्य ने उसकी आलोचना [3] के लिए ध्यान आकृष्ट कराया। इस पर

१—गुणचन्द्र-रचित महावीर चरित्रं, पत्र १५८-२

२—किसी भी जंतु को क्लेश न हो एतदर्थ सावधानतापूर्वक चलना र्यासमिति' है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य-टीका सहित, भाग २ अध्याय ९, त्र ५. पृष्ठ १८६। इस सम्बन्ध में दशवैकालिक में आया है।

पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिंचरे वज्जेंतो वीयहरियाइं पाणे य दगमट्टिया (अ० ३, उ० १, गा० ३)

—अर्थात् साधु को आगे की ४ हाथ भूमि देखकर चलना चाहिए।

३—आलोचना : अभिविधिना सकलदोषाणालोचना—गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना—भगवती सूत्र, शतक १७ वाँ, उद्देश्य ३, पत्र १३३८-२ अभयदेव सूरी कृत टीका।

तपस्वी ने उत्तर दिया—"ये सब मण्डूकियाँ जो मरी हैं, उन सबको क्या मैंने ही मारा है ?" शिष्य वय में छोटा होने बावजूद बड़ा सहृदयी था। अतः चुप हो गया। 'गुरुजी संध्या समय प्रतिक्रमण के वक्त आलोचना कर लेंगे'—ऐसा समाधान उसने अपने मन में कर लिया। जब प्रतिक्रमण के समय गुरु ने आलोचना नहीं की, तो शिष्य ने पुनः स्मरण कराया। तपश्चर्या से साधु का शरीर कृश हो गया था; लेकिन उसके कषाय मंद नहीं हुए थे। अतः तपस्वी डंडा लेकर मारने दौड़ा। लेकिन, बीच में खम्भे से टकराने से तपस्वी की मृत्यु हो गयी। मर कर वह ज्योतिष्क देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर कनकखल-नामके आश्रमपद में पाँच सौ तपस्वियों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से कौशिक नाम से उत्पन्न हुआ। कौशिक-गोत्र का होने से और अत्यन्त क्रोधी होने के कारण, उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया। अपने पिता के निधन के बाद, वह उस आश्रम का मालिक हुआ। वह सदा आश्रम में घूमता और एक पत्ता भी नहीं तोड़ने देता। यदि कोई इस प्रकार प्रयास करता, तो वह पत्थर या परशु लेकर उसे मारने दौड़ता। उसकी इस निर्दयता को देख कर सब तपस्वी वहाँ से चले गये। एक दिन चण्डकौशिक कहीं गया था। उस समय श्वेताम्बी के राजकुमार बाग में जाकर फल-फूल तोड़ने लगे। जब चण्डकौशिक लौटा तो, लोगों ने उसे बताया कि उद्यान में कुछ राजकुमार गये हैं। चण्डकौशिक तीक्ष्ण धार वाली (कुहाड़) कुल्हाड़ी लेकर राजकुमारों के पीछे दौड़ा। राजकुमार तो भागे; पर तपस्वी का पाँव फिसल गया। वह गड्ढे में गिर पड़ा। गिरने में कुल्हाड़ी का फाल सीधा हो गया और चंडकौशिक उसी पर गिरा। उसका सर दो टुकड़ा हो गया। इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गयी। वही चण्डकौशिक मर कर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ[१]।

सारे दिन आश्रमपद में घूमकर वह सर्प जब अपने स्थान को वापस लौटा तो उसकी नजर ध्यानावस्थित भगवान् पर पड़ी। चकित होकर वह सोचने लगा—"इस निर्जन में यह मनुष्य कहाँ से आया ? लगता है कि, मृत्यु इसे यहाँ घसीट कर ले आयी है।" ऐसा विचार कर के, उसने अपनी

१—आ० चू०, प्रथम भाग, पत्र २७८।

षाक्त दृष्टि भगवान् के ऊपर डाली। साधारण प्राणी तो उस सर्प के दृष्टि-
ात् मात्र से ही भस्म हो जाता था। पर, भगवान् पर उसका कुछ भी प्रभाव
हीं पड़ा। उस प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी दृष्टि डाली। पर
निष्फल रहा। अब उस सर्प का क्रोध एक दम बढ़ गया। आग-बबूला
ोकर उसने भगवान् के पाँव में काट लिया। इससे भगवान् के चरणों से
क्त के बजाय दूध की धारा बह निकली। इस विचित्रता से चण्डकौशिक
तब्ध रह गया। और, दूर हट कर अपने विष के प्रभाव की प्रतीक्षा करने
गा। पर, भगवान की शांति और स्थिरता में जरा भी अंतर नहीं आया।
सने दो बार और भगवान् को काटा; पर निष्फल रहा। इस
टना से उसका क्रोध और अभिमान दोनों ही नष्ट हो गये। उसी
मय अपना ध्यान समाप्त करते हुए भगवान् महावीर बोले—उवसम
ो चण्डकोसिया! (चंडकौशिक शान्त हो!)।

भगवान् के मुख से अपना पूर्व नाम सुन कर, उसे अपनी पुरानी कथा
मरण हो आयी। वह भगवान् के चरणों में आ गिरा, अपने पापों के लिए
ायश्चित करने लगा और अनशन का व्रत ले लिया। सर्प को इस तरह
े देख कर ग्वाले पत्थर से मारने लगे। ग्वालों ने जब देखा कि, वह सर्प
िंचित् मात्र हिलता-डुलता नहीं, तो वे निकट आये और भगवान् के चरणों
ं गिर कर उनकी महिमा का गान करने लगे। ग्वालों ने सर्प की पूजा की।
(घयविक्किणिओ) घी बेचने वाली जो औरतें उधर से जातीं तो वे उस सर्प
ो घी लगातीं और स्पर्श करतीं। फल यह हुआ कि, सर्प के शरीर पर
ीटियाँ लगने लगीं। इस प्रकार सारी वेदनाओं को समभाव से सहन करके
ह सर्प आठवें देवलोक सहस्रार में देवरूप से उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने आगे विहार किया और उत्तर वाचाला में नागसेन के घर
र जाकर पन्द्रह उपवास के तप का पारना खीर से किया। वहाँ 'पञ्च दिव्य'
कट हुए। नागसेन का लड़का १२ वर्षों से बाहर चला गया था। अ-
ात् वह भी उसी दिन घर वापस लौटा।

उत्तर-वाचाला से भगवान् श्वेताम्बी नगरी गये। श्वेताम्बी-नगरी

के प्रदेशी राजा को भगवान के आगमन की बात मालूम होते ही, वह अधि-
कारी वर्ग एवं सैन्यबल के साथ भगवान के सम्मुख गया और अत्यन्त आदर-
पूर्वक उनका सम्मान एवं वंदन किया।[1]

केकय-राज्य

जैन-ग्रंथों में श्वेताम्बी को केकय की राजधानी बताया गया है (बृह-
त्कल्पसूत्र सभाष्य और सटीक, विभाग, ३, पृष्ठ ६१३; प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरि
की टीका सहित पत्र ५५-२, सूत्रकृतांग सटीक प्रथम भाग पत्र १२३, प्रवच-
सारोद्धार पत्र ४४६ (१-२)। यह केकय देश आर्य-क्षेत्र में बताया गया है।
आर्य-क्षेत्र में जैन लोग २५॥ राष्ट्र मानते हैं। उनमें केकय की गणना २५॥वें
राष्ट्र के रूप में की गयी है—अर्थात् केवल आधा राज्य माना गया है।

पाणिनि में केकय-जनपद झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का नाम
बताया गया है। उसी में खिउड़ा की नमक की पहाड़ी है। वहाँ के
निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) केकय कहलाते थे (पाणिनिकालीन भारतवर्ष,
पृष्ठ ६७)...'वार्णाव' की सीध में सिन्धु के पूरब की ओर केकय जनपद
(७।३।२) था, जिसमें सैंधव (सेंधा नमक) का पहाड़ था, जो आधुनिक
झेलम, गुजरात और शाहपुर जिलों का केन्द्रिय भाग है। (पाणिनिकालीन
भारतवर्ष, पृष्ठ ५१) इससे स्पष्ट है कि, केकय देश वस्तुतः पंजाब में था। इससे
संकेत इस दिशा में मिलता है कि, श्वेताम्बी जो आधा केकय देश था
यह वस्तुतः मूल 'केकय' का—जो उत्तरापथ में पड़ता था—उपनिवेश था।

हमारी पुष्टि इस बात से भी होती है कि, श्वेताम्बी का जो राजा
बताया गया है, उसका नाम जैन-ग्रंथों में प्रदेशी (रायपसेणी, पएसी राय)
और बौद्ध-ग्रथों में पायासी, (दीर्घनिकाय, भाग २, पृष्ठ २३६) लिखा है।
यह 'प्रदेशी' शब्द ही इस बात का द्योतन करता है कि वह वहाँ का निवासी
नहीं था—बाहर का रहने वाला था। बौद्ध-ग्रंथों में आता है कि, पसेनदी
पायासी को श्वेताम्बी के निकट का भूभाग दे दिया था (डिक्शनरी आव

१—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १० सर्ग ३, श्लोक २८६ पत्र २९-१।

पाली प्रापर नेम्स, भाग २, पृष्ठ १८७) पर जैन-ग्रंथों में उसे स्वतंत्र राज्य बताया गया है। बौद्ध-ग्रंथों में उसे राजन्य' लिखा है ('पायासि राजञ्ञो' दीघनिकाय, भाग २, पृष्ठ २३६) दीघनिकाय के हिन्दी-अनुवादकों राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप को 'राजन्य' शब्द का अर्थ नहीं लगा। उन्होंने उसे सीधा 'राजन्य' ही लिख दिया। और, एक स्थान पर उसका अर्थ मांडलिक राजा लिखा। (दीघनिकाय, हिन्दी, पृष्ठ १९९) इससे अधिक भयंकर 'भूल डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स में है' जहाँ 'राजन्य' का अर्थ 'चिफ्टेन' लिखा है। पर, 'राजन्य' वस्तुतः क्षत्रियों का एक कुल था। जैन-ग्रन्थों में उसे ६ कुलों में गिनाया गया है (देखिए वैशाली, हिन्दी पृष्ठ २९) आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ ३१, गाथा १३३) में भी 'राजन्य' को क्षत्रिय का एक कुल बताया गया है :—उग्गा भोगा रायण्णा खत्तिआ...

आवश्यक चूर्णि (पत्र २७८) में आता है "तस्स य अदूरे सेयंविया नाम नगरी"—यह श्वेताम्बी नगरी कनकखल आश्रमपद के पास ही थी। यह श्वेताम्बी सावत्थी से राजगृह जाने वाले मार्ग पर अगला पड़ाव था। रायपसेणी में इसे सावत्थी के निकट बतलाया गया है। फाह्यान और बौद्ध-ग्रन्थों में भी इसकी स्थिति सावत्थी के निकट कही गयी है। कुछ लोग आधुनिक सीतामढ़ी को श्वेताम्बी मानते हैं; परन्तु जैन और बौद्ध दोनों मतों से यह स्थापना अनुकूल नहीं पड़ती; क्योंकि सीतामढ़ी तो सावत्थी से ३०० मील दूर है। मि० वोस्ट ने बलेदिला को प्राचीन श्वेताम्बी माना है जो सहेत-महेत से १७ मील दूर और बलरामपुर से ६ मील है।

वहाँ से भगवान् ने सुरभिपुर की ओर विहार किया। सुरभिपुर जाते हुए, मार्ग में भगवान् को रथों पर जाते हुए पाँच नैयक (नयकः—नये कुशाग्रबुद्धि पदार्थ चिंतामणि, भाग २, पृष्ठ १३४०) राजे मिले। उन सब ने भगवान् की वंदना की। ये राजा प्रदेशी राजा के पास जा रहे थे।[1]

---

[1]—आ० चू०, प्रथमभाग, पत्र २८०; गुणचन्द्र-रचित महावीरचरित्र, पत्र १७७-२।

[पृष्ठ १८६ की पादटिप्पणि का शेषांश]

भाग २, पृष्ठ ७२३, मज्झिम निकाय की पपंचसूदनी-टीका, ii, ९८७; संयुत्त निकाय की टीका सारत्थपकासिनी i, २४३)। कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन दूर थी (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग १. [illegible] और कुशीनगर से २५ योजन दूर (दीघनिकाय, अ० २, ३)। [illegible] योजन दूर थी (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स भाग २, पृष्ठ ७२३, महावस्तु i, २५३)। राजगृह से नालंदा १ योजन दूर था (डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग २, पृष्ठ ५६)।

डाक्टर मोतीचन्द्र ने सार्थवाह (पृष्ठ १७) में लिखा है कि, श्रावस्ती से तक्षशिला १६२ योजन दूर थी और वहाँ से राजगृह ६० योजन। अपने इस दूरी-निर्णय का डाक्टर साहब ने कोई प्रमाण नहीं दिया है।

२—नालंदा—पटना से दक्षिण-पूर्व में ५५ मील, राजगृह से ७ मील, और बख्तियार-लाइट-रेलवे के नालंदा-स्टेशन से २ मील की दूरी पर स्थित बड़गाँव प्राचीन काल की नालंदा है। बिहार-शरीफ से यह करीब ५ मील दूर है। बिहार-शरीफ से राजगिर जाते हुए नालंदा नामक स्टेशन बीच में पड़ता है। सूत्रकृतांग नामक दूसरे आगम के सातवें अध्ययन में 'नालंदा' शब्द पर लिखा है—'सदा आर्यिम्यो यथामित्यवितं ददातीति नालन्दा' आर्थियों को जो यथेप्सित प्रदान करता है, वह नालंदा है। यह 'राजगृह नगर बाहिरिका'—राजगृह नगर का शाखापुर था। ह्वेनसांग ने लिखा है: इसका नाम आम्रवन के मध्य में स्थित तालाब में रहने वाले नाग के नाम पर नालंदा पड़ा।

(डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, खंड २, पृष्ठ ५७, बील-लिखित भाग २, पृष्ठ १६७)

३—गुणचन्द्र-रचित 'महावीर-चरित्र' (पत्र १७३।१) में उसका नाम अर्जुन लिखा है।

४—'इंडालाजिकल स्टडीज' भाग २ (पृष्ठ २४५) में डाक्टर विमलचरण

भगवान् के प्रथम मासक्षमण (उपवास) की पारना विजय सेठ ने न्त भक्तिपूर्वक और आदर के साथ विविध भोजन-सामग्री से कराया। समय पंच दिव्य (तहियं गंधोदय पुप्फवासं, दिव्वा तहिं वसुहाराय ा। पहताओ दुंदुभीओ सुरेहि आगासे अहोदाणं च घुट्टं ॥ राध्ययन, अध्ययन १२, गाथा ३६, पत्र १८२। और 'वसुहारा' की टीका है: 'देवैः कृतायां स्वर्ण दीनाराणां वृष्टौ) प्रकट हुए। उसको देखकर

[पृष्ठ १६० की पाद-टिप्पणी का शेषांश]

ने गोशाला को चित्रकार का पुत्र लिखा है। 'डिक्शनरी आव पाली प्रापर स' भाग २, पृष्ठ ४०० पर 'चित्र-विक्रेता' लिखा है। गोशाला का पिता खली 'मंख' था। वह न तो चित्रकार था और न चित्र-विक्रेता। चित्र खा कर जीवन-यापन करता था। (उवासगदसाओ-हार्नेल का अनुवाद रिशिष्ट १, पृष्ठ १) मंख शब्द का अर्थ टीकाकारों ने किया है—

'चित्र फलकं हस्ते गतं यस्य स तथा।

'पाइअसहमण्णवो' (पृष्ठ ८१९) में मंख का अर्थ दिया है—एक भिक्षुक-ाति जो चित्र दिखा कर जीवन-निर्वाह करती है।

'मंख' शब्द पर 'हरिभद्रीयावश्यकवृत्ति टिप्पणकम्' में मलधारी हेमचन्द्र रि ने लिखा है—'केदार पट्टिकः' (पत्र २४-१) जिससे स्पष्ट है कि मंख व का चित्र लेकर भिक्षा माँगता था। ऐसा ही मत कार्पेंटियर ने 'जर्नल ाव एशियाटिक (सोसाइटी १९१३, पृष्ठ ६७१-२) में प्रकट किया था। रे विचार से कार्पेंटियर का विचार ठीक था।

५—गोशाला की माता नाम भद्रा था। एक बार मंखली और भद्रा रवण नाम के सन्निवेश में एक ब्राह्मण की गोशाला में ठहरे हुए थे। भद्रा उस समय गर्भवती थी। यहाँ गोशाला में ही उसे पुत्र उत्पन्न हुआ, इस लिए उसका नाम गोशाला रखा गया। छोटी उम्र से उद्धत होने के कारण वह माँ-बाप से अलग हो गया और मंख-कार्य करके अपनी आजीविका चलाता और साधु के भेष में घूमता रहा। (देखिए भगवती सूत्र, १५-वाँ शतक, उद्देसा १)

गोशाला के मन में विचार हुआ—"यह कोई मामूली साधु नहीं है। व प्रभावशाली तपस्वी मालूम होते हैं। अतः अच्छा हो, मैं इनका शिष्य जाऊँ।" इस विचार से वह भगवान् के पास गया और बोला—"भग मुझे अपना शिष्य बना लें।" भगवान् ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दि और दूसरा मासक्षमण करके ध्यान में स्थिर हो गये। इस दूसरे म क्षमण की पारना आनन्द श्रावक ने 'खाजा' से उतनी ही भक्ति पूर्वक करा उसके बाद तीसरा मास क्षमण किया और उसकी भी पारना सुनन्द श्रा के यहाँ खीर से किया।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिए जाते हुए, गोशाला ने भगव से पूछा—'आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा!" भगवान् ने उत्तर दिया "बासी उतरा हुआ कोदो का भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया (कूड़ग रुवग

भगवान् के वचनों को मिथ्या करने के उद्देश्य से वह बड़े-बड़े धनाढ्यों यहाँ भिक्षा के लिए घूमने लगा; लेकिन उसको कहीं पर भी भिक्षा सुल नहीं हुई। अन्त में, उसको एक लुहार के यहाँ खट्टी छाछ मिले भ का भोजन प्राप्त हुआ और दक्षिणा में एक रुपया मिला, जो चलाने प नकली साबित हुआ।

इस घटना का गोशाला के मन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। व 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक हो गया। और, उसने यह निश्चय कर लि कि जो वस्तु होने की है, वह होकर रहती है और जो कुछ होने वाला रह है, वह पहले से ही निश्चित् रहता है।

चातुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने नालंदा से विहार किया औ कोल्लागसंनिवेश में जाकर बहुल ब्राह्मण के यहाँ अन्तिम मास क्षमण क पारणा किया। नालंदा से भगवान् ने जब विहार किया, उ समय गोशाला भिक्षा लेने के लिए बाहर गया हुआ था। भिक्षा लेकर ज शाला में आया, तो भगवान् वहाँ पर नहीं थे। पहले उसे विचार हुआ कि भगवान् नगर में गये होंगे। वह नगर में गया और भगवान् को ढूँढने सर्वा गली-गली में घूमा; पर भगवान् का उसे कहीं पता नहीं चला। वह निराश

घर लौटा और अपनी सभी वस्तुएँ दान देकर, सिर मुँडवाकर भगवान् की तलाश में चल पड़ा।

भगवान् को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह कोल्लाग-सन्निवेश[१] में जा पहुँचा। वहाँ उसने लोगों के मुख से एक महामुनि की चर्चा सुनी। वह भगवान् को ढूँढ़ने सन्निवेश के अन्दर जा रहा था कि, भगवान् उसे मार्ग में मिल गये। उसने भगवान् से पुनः शिष्य बनाने की प्रार्थना की। इस बार भगवान् ने 'अच्छा' कहकर प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद से ६ चौमासे तक गोशाला उनके साथ रहा।

—यह स्थान वैशाली के निकट स्थित कोल्लाग-सन्निवेश से भिन्न स्थान है। इसके संबंध में भगवतीसूत्र पत्र १२१६-२ पर बताया गया है—"तीसे णं नालंदाए बाहिरियाए अदूरसामंते एत्थ णं कोल्लाए नामं सन्निवेसे होत्था।" अर्थात् नालंदा के निकट में कोल्लाग सन्निवेश था।

तृतीय वर्षावास

कोल्लाग-सन्निवेश से गोशाला के साथ भगवान् ने सुवर्णखल[१] की ओर विहार किया। मार्ग में उनको ग्वाले मिले, जो एक हाँड़ी में खीर पका रहे थे। गोशाला ने भगवान् से कहा—"जरा ठहरिए! इस खीर को खाकर फिर आगे चलेंगे।" भगवान् ने उत्तर दिया—"यह खीर पकेगी ही नहीं! बीच में ही हाँडी फूट जाएगी और यह सब खीर नीचे लुढ़क जायेगी।"

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८३।

गोशाला ने भगवान् का कथन ग्वालों को बता दिया। इस प्रकार की भविष्य-वाणी सुनकर ग्वाले भयग्रस्त होकर बड़ी सावधानी से खीर पकाने लगे। बाँसों की खपाचों से, उस हाँड़ी को ग्वालों ने चारों ओर से बाँध दिया और उसको चारों ओर से घेर कर बैठ गये।

भगवान् तो आगे चले गये; लेकिन खीर खाने की लालच से गोशाला वहीं बैठा रहा। हाँड़ी दूध से भरी हुई थी और उसमें चावल भी अधिक था। अतः, जब चावल फूले तो हाँड़ी फट गयी और सब खीर नीचे लुढ़क गयी। ग्वालों की आशा पर पानी फिर गया और गोशाला मुँह नीचा किये हुए वहाँ से रवाना हो गया। अब उसे इस बात पर पूरा विश्वास हो गया कि 'जो कुछ होनेवाला है, वह मिथ्या नहीं हो सकता।'

विहार करते हुए भगवान् ब्राह्मणगाँव[२] पहुँचे। गोशाला भी यहाँ आ गया। इस गाँव के दो भाग थे। एक नन्द पाटक और दूसरा उपनन्द पाटक। नन्द-उपनन्द दो भाई थे। ये अपने-अपने पंक्ति के भाग को अपने-अपने नाम से पुकारते थे। भगवान् महावीर नन्दपाटक में नन्द के घर पर भिक्षा के लिए गये। भिक्षा में भगवान् को दहीमिश्रित भात मिला। गोशाला उपनन्द पाटक में उपनन्द के घर भिक्षा के लिए गया। उपनन्द की आज्ञा से उसकी दासी गोशाला को बासी भात देने लगी; पर गोशाला ने लेने से इनकार कर दिया और बोला—"तुम्हें बासी भात देते लज्जा नहीं लगती?" गोशाला की बात सुनकर उपनन्द ने क्रोध में आकर दासी को आदेश दिया कि उसे लेना हो तो ले नहीं उसके सिर पर पटक दे। दासी ने वैसा ही किया। उससे क्रुद्ध होकर गोशाला ने श्राप दिया—"यदि मेरे गुरु में तप और तेज हो तो तुम्हारा प्रासाद जलकर भस्म हो जाय।" निकट के व्यन्तर-देवों ने विचार किया कि वचन झूठा न हो जावे, इसलिए उन्होंने उक्त महल को भस्म कर दिया।

२—यह ब्राह्मण-गाँव राजगृह से चम्पा जाते हुए मार्ग में पड़ता था—देखिये वैशाली, हिन्दी, पृष्ठ ७०।

ब्राह्मणगाँव से भगवान् गोशाला के साथ चम्पा[1] नगरी को गये और तीसरा चातुर्मास भगवान् ने यहीं व्यतीत किया और उत्कुटुक (उकड़ूँ) आदि विविध आसनों द्वारा ध्यान करके व्यतीत किया। प्रथम द्विमासी तप का पारना भगवान् ने चम्पा से बाहर किया।

चम्पा नगरी से भगवान ने कालायसन्निवेश[2] की ओर विहार किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८४।

२—प्राचीन काल में यह अंग देश की राजधानी थी (बृहत्कल्प सूत्र सटीक विभाग ३, पृष्ठ ६१३)। आधुनिक भागलपुर के निकट पूर्व में चम्पा-नगरी है, यही प्राचीन काल की चम्पा है। इसके निकट ही चम्पा नाम की नदी बहती है। (देखिये, वीर-विहार-मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २५।)

चौथा चतुर्मास

कालाय-सन्निवेश में आकर भगवान् एक खंडहर में ध्यान में स्थिर हो गये।[1] गोशाला भी द्वार के पास छिप कर बैठ गया। रात्रि को गाँव के मुखिया का पुत्र सिंह विद्युन्मति नामकी दासी के साथ कामभोग की इच्छा से वहाँ आया। वहाँ कोई है तो नहीं, यह जानने की इच्छा से उसने एक-दो आवाजें लगायी। जब कोई प्रत्युत्तर न मिला, तो एकान्त समझ कर उन्होंने अपनी कामवासना पूरी की। जब वे लौट रहे थे, गोशाला ने विद्युन्मति का हाथ पकड़ लिया। गोशाला के इस व्यवहार से रुष्ट होकर सिंह ने उसे पीटा।

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २८४।

ध्यान में रात्रि व्यतीत करने के पश्चात्, दूसरे दिन प्रातः भगवान् महावीर पत्तकालय (पत्रकाल)[1] नामक गाँव में गये। भगवान् रात्रि में ध्यान में आरूढ़ हो गये। और, यहाँ भी गोशाला एक कोने में लुढ़क गया। रात्रि को ग्रामाधीश का स्कन्द नामक पुत्र दन्तिला नामक की दासी के साथ कामभोग की इच्छा से आया। दासी के साथ भोग भोग कर जब वह वापस लौट रहा था तो गोशाला ने दासी से छेड़छाड़ की। और, इस बार भी वह पीटा गया।

पत्रकालय से भगवान् ने कुमाराक-सन्निवेश[2] की ओर विहार किया। यहाँ चंपग-रमणीय (चम्पक-रमणीय) नाम के उद्यान में कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। उस सन्निवेश में कूपनय नाम का एक धनाढ्य कुम्भकार रहता था। उसकी शाला में अनेक शिष्यों के साथ पार्श्वनाथ संतानीय मुनिचन्द्राचार्य ठहरे हुए थे। अपनी पाट पर वर्द्धन[3] नामक अपने शिष्य को स्थापित कर के वे जिनकल्पी हो गये थे।

मध्याह्न होने पर गोशाला ने भगवान् से कहा—"भिक्षा का समय हो गया है। भिक्षा के लिए गाँव में चलिए।" भगवान् ने उत्तर दिया—"आज मेरा उपवास है। भिक्षा के लिए नहीं जाना है।"

गोशाला अकेले भिक्षा के लिए गाँव में गया। वहाँ उसने भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधुओं को देखा, जो विचित्र कपड़े[4] पहने हुए थे

१—वही, पत्र २८४।

२—वही, पत्र २८५।

३—वर्द्धन का नाम चूर्णि में नहीं है। केवल शिष्य लिखा है; परन्तु त्रिशष्टि-शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ४४८ पत्र ३४२-२ में उसका नाम वर्द्धन दिया है।

४—त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ४५२ पत्र ३४-२।
भगवान् पार्श्वनाथ के साधु रंग-विरंगे कपड़े पहनते थे। उत्तराध्ययन, अध्ययन २३, गाथा ३१ की टीका में वादीवेताल शान्त्याचार्य ने लिखा है—
"...वर्द्धमान विनेयानां हि रक्तादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन वस्त्ररञ्जनादिषु प्रवृत्तिरतिदुर्निवारैव स्यादिति न तत्र तदनुज्ञातं, पार्श्वशिष्यास्तु न तथेति रक्तादीनामपि (धर्मोपकरणत्वं)..........उत्तराध्ययन सटीक, पत्र ५०३-२
ऐसा ही उल्लेख कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका, पत्र ३, में भी है।

और पात्रादि उपकरणों से युक्त थे। गोशाला ने उनसे पूछा—"आप कौन हैं ?" उन लोगों ने उत्तर दिया—"हम निर्ग्रन्थ हैं और भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य हैं।" गोशाला ने कहा—"आप किस प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं। इतना वस्त्र और पात्र साथ रख कर भी आप अपने को निर्ग्रन्थ बताते हैं। लगता है, आजीविका चलाने के लिए आपने ढोंग रच रखा है। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र या पात्र नहीं है और वे त्याग तथा तपस्या की साक्षात् मूर्ति हैं। पार्श्वपत्य साधु ने कहा—"जैसा तू है, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी स्वयंगृहीत लिंग होंगे।"

इस प्रकार की बात सुन कर गोशाला बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने श्राप दिया कि मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल कर भस्म हो जाये। उन निर्ग्रन्थों ने गोशाला की श्राप की अपेक्षा करते हुए कहा—"लेकिन, तुम्हारे कहने से कुछ नहीं होने वाला है।" बहुत देर तक गोशाला उन साधुओं से वादविवाद करता रहा। अंत में थक कर वापस लौट आया। लौट कर उसने भगवान् से पूछा—"आज परिग्रही और आरम्भी साधुओं से विवाद हो गया। और, मेरे श्राप देने पर भी उनका उपाश्रय जला नहीं। इसका क्या कारण है ?" गोशाला की बात सुनकर, भगवान् ने उसे बताया कि वे पार्श्वनाथ के संतानी साधु थे।

कुमाराक से गोशाला के साथ भगवान् चोराक-सन्निवेश[१] में गये। यहाँ पर चोरों का भय होने से पहरेदार बड़े सतर्क रहते थे। वे किसी अपरिचित को गाँव में नहीं आने देते थे। जब भगवान् गाँव में पहुँचे, तो पहरेदारों ने भगवान् से परिचय माँगा; लेकिन भगवान् ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पहरेदारों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया। पहरेदारों ने भगवान् और गोशाला दोनों को बहुत सताया, पर दो में से किसी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इसकी सूचना उत्पल नैमित्तिक की बहिनें सोमा और जयन्ती को मिली। वे संयम ले कर पालने में असमर्थ हो परिव्राजिकाएँ हो गई थीं और उसी ग्राम में रहती थीं। वे दोनों घटनास्थल पर आयीं और

१—आवश्यक चूर्णि, भाग १, पत्र २८६। गोरखपुर जिले में स्थित चौरा-चोरी।

उन्होंने पहरेदारों को भगवान् का परिचय कराया। परिचय पाकर पहरेदारों ने भगवान् को मुक्त कर दिया और उनसे क्षमा याचना की।

चोराक से भगवान् ने पृष्ठ चम्पा[1] की ओर विहार किया और चौथा चातुर्मास पृष्ठ चम्पा में ही व्यतीत किया। इस चातुर्मास में आपने लगातार चार महीनों तक उपवास किया और वीरासन लगंडासन[3] आदि आसनों द्वारा ध्यान करके बिताया। चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के बाहर पारना कर के भगवान् ने कयंगला सन्निवेश की ओर विहार किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८७।
२—यह भी चम्पा के निकट ही स्थित था।
३—'लगंड' शब्द सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्ययन, (बाबू वाला संस्करण पृष्ठ ७५६) सूत्र ७२ में आया है। उस पर दीपिका में लिखा है—"वक्र काष्ठं तद्वत् शेरते ये ते लगंडशायिनः" (पृष्ठ ७६५)।

पाँचवाँ चतुर्मास

कयंगला(१) में दरिद्रथेरा(२) नामक पाखंडी रहते थे। वे सपत्नीक, सारम्भी और परिग्रह वाले थे। वहाँ बाग के मध्य में कुल-परम्परा से चला आता एक भव्य देवरा था। भगवान् महावीर रात को उस देवालय के एक ओर कोने में जाकर ध्यान में खड़े हो गये।

१—कयंगला—मध्यदेश की पूर्वी सीमा पर था। इसका उल्लेख रामपाल-चरित्र में मिलता है। यह स्थान राजमहल जिले में है। श्रावस्ती के पास भी एक कयंगला है। यह उससे भिन्न है।
२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८७।

उस दिन धीरे-धीरे पानी की बूँदें पड़ रही थीं और ठंडी हवा चल रही थी। माघ का महीना होने के कारण, काफी ठंडक थी। उस दिन उस देवालय में धार्मिक उत्सव था। अतः स्त्री-पुरुष और बालक मन्दिर में नृत्य करने लगे। गोशाला सर्दी से परीशान था, इस कारण उसे इस प्रकार का गाना-बजाना अच्छा नहीं लगा। अतः वह उन लोगों की धार्मिक प्रवृत्ति की निन्दा करने लगा कि यह किस प्रकार का धर्म कि जिसमें स्त्री-पुरुष साथ मिलकर नाचें और गायें। अपने धर्म की निन्दा सुनकर गाँव वालो ने गोशाला को मंदिर से बाहर निकाल दिया।

बाहर बैठा-बैठा गोशाला ठंड से काँपने लगा और कहने लगा कि इस संसार में सत्य बोलने वाले को ही विपत्ति आती है। लोगों को गोशाला की दशा पर दया आयी और देवार्य का शिष्य समझ कर उन्होंने उसको देवालय के अंदर बुला लिया। गोशाला इस पर भी अपनी आदत से बाज नहीं आया और फिर निन्दा करनी शुरू कर दी। गोशाला के व्यवहार से युवक उत्तेजित हुए और उसे मारने दौड़े। पर, वृद्धों ने उन्हें मना कर दिया और आदेश किया कि बाजे इतनी जोर से बजाये जायें कि गोशाले की आवाज सुनायी ही न पड़े। इतने में सुबह हो गयी और भगवान् ने वहाँ से श्रावस्ती की ओर विहार किया।

भगवान् श्रावस्ती[१] के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। भिक्षा-काल होने पर गोशाला ने उनसे भिक्षा के लिए चलने को कहा। भगवान् ने उत्तर दिया—"आज मेरा उपवास है।" तब गोशाला ने पूछा—"अच्छा बताइए, आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"मनुष्य का मांस।" उसने सोचा—"यहाँ तो मांस की ही आशंका नहीं है फिर मनुष्य के मांस की कहाँ बात ?" यह विचार कर के वह भिक्षा के लिए चला।

१—श्रावस्ती—आजकल राप्ती के किनारे का सहेत-महेत ही प्राचीन श्रावस्ती है। प्राचीन काल में यह कोशल की राजधानी थी। यह साकेत से ६ योजन राजगृह से उत्तर-पश्चिम में ४५ योजन, संकस्स से ३० योजन, तक्षशिला १४७ योजन, सुप्पारक से १२० योजन थी। राप्ती का प्राचीन नाम अचिरवती या अजिरवती है। जैन-सूत्रों में इसे इरावदी कहा है।

उस नगरी में पितृदत्त नाम का गाथापति (गृहस्थ) रहता था। उसकी भार्या का नाम श्रीभद्रा था। उसे जब बच्चे होते तो मृत ही जन्मते। अतः उसने शिवदत्त-नाम के नैमित्तिक से पूछा—"मुझे कोई ऐसा मार्ग बताइये कि जिससे मेरे बच्चे जियें।" शिवदत्त ने उसे बताया—"मृत जन्मे हुए बालक का रुधिर-मांस पीसकर उसकी खीर बनाकर किसी तपस्वी-साधु को खिलाने से तुम्हारे पुत्र जीवित रहेंगे। लेकिन, जब वह खा कर चला जाये, तब तुम अपना घर बंद कर देना, ताकि क्रुद्ध होकर वह तुम्हारा घर न जला पाये।" उसी दिन श्रीभद्रा को मृत पुत्र जन्मा था। उसने उसकी खीर उसी विधि से बनायी। और, उसे बनाने के बाद, वह किसी साधु की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी थी। इतने में गोशाला उसे दिखायी पड़ा। उसने खीर गोशाला को खिला दिया। लौट कर आने के बाद गोशाला ने खीर खाने की बात भगवान् से कही। और, भगवान् ने मृत बच्चे की बात गोशाला को बता दी। गोशाला ने मुँह में उँगली डाल कर वमन किया तो उसे भगवान् की सब बातें सच मालूम हुईं। इस घटना का भी प्रभाव गोशाला पर पड़ा और "यद् भावी तद् भवति" की भावना उसमें अधिक सुदृढ़ हो गयी। क्रुद्ध होकर वह गया और उसने भिक्षा देने वाली स्त्री का सारा मुहल्ला जला ही दिया।

श्रावस्ती से भगवान् हल्लिदुय गाँव की ओर गये। उस नगर से बाहर हलिद्दग नामका एक विशाल वृक्ष था। भगवान् उसके नीचे कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये। गोशाला भी साथ में था। श्रावस्ती जाने वाला एक सार्थवाह रात में निकट ही ठहरा था। सर्दी से बचने के लिए उन लोगों ने रात्रि में फूस जलाया। सुबह होते ही सार्थवाह वहाँ से चला गया। पर, रात की आग बढ़ते-बढ़ते वहाँ आ पहुँची, जहाँ भगवान् ध्यानावस्थित थे। गोशाला ने भगवान् से कहा—"भगवन् चलिये। आग इस ओर आ रही है।" ऐसा कह कर गोशाला तो चला गया; पर भगवान् महावीर वहीं रह गये। इससे भगवान् के पैर आग से झुलस गये।

दोपहर को भगवान् नंगला[1] गाँव गये और गाँव के बाहर वासुदेव के मंदिर में ध्यान में स्थिर हो गये। वहाँ कुछ लड़के खेल रहे थे। गोशाला ने आँख निकाल कर उन सब को डरा दिया। लड़के गिरते-पड़ते वहाँ से भागे। सूचना पाकर गाँव के वयस्कों ने आकर गोशाला को खूब पीटा।

नंगला से विहार करके भगवान् आवर्त्त पधारे। यहाँ वे बलदेव के मंदिर में ध्यान में स्थिर हो गये। आवर्त से भगवान् चोराय-सन्निवेश गये और वहाँ भी एकान्त में ध्यान में निमग्न हो गये। यहाँ गोशाला जब गोचरी के लिए जा रहा था, तो लोगों ने उसे गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और खूब पीटा।

चोराय-सन्निवेश से भगवान् कलंबुका-सन्निवेश गये। इसके निकट के (शैलप) पर्वत-प्रदेश के स्वामी मेघ और कालहस्ती नामक दो भाई रहते थे। कालहस्ती चोरों का पीछा करता हुआ जा रहा था कि रास्ते में उसे भगवान् महावीर और गोशाला मिले। कालहस्ती ने उन दोनों से पूछा—"तुम कौन हो?" पर, भगवान् ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और कुतूहलवश गोशाला भी कुछ नहीं बोला। कालहस्ती ने दोनों को पकड़कर पीटा और मेघ के पास भिजवा दिया। मेघ ने भगवान् महावीर को गृहस्थाश्रम में एक बार देखा था। उसने भगवान् को पहचान लिया और उन्हें मुक्त करके अपने भाई की अज्ञानता के लिए क्षमा-याचना करने लगा।

भगवान् के मन में यह विचार उठा कि अभी मुझे बहुत-से कर्म क्षय करने हैं। इस परिचित प्रदेश में रहने से उन कर्मों को क्षय करने में विलंब हो रहा है। अतः ऐसे अनार्य प्रदेश में जाना चाहिए, जहाँ मेरा कोई भी परिचित न हो और मैं अपने कर्मों को शीघ्र नष्ट कर सकूँ।

१—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २८९। यह कोशल देश में था। बौद्ध-साहित्य में इच्छानंगल नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ वेद-शास्त्र के बड़े-बड़े पंडित रहते थे। (देखिये वीर-विहार मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २६)

अतः भगवान् ने लाढ़[1] देश की ओर विहार किया। जो उस समय अनार्य देश गिना जाता था।

जब भगवान् अनार्य देश में गये तो उन्हें वहाँ एकदम गये-बीते स्थान पर ठहरना पड़ता। बैठने के लिए उनको आसन भी धूल-भरे और विषम मिलते थे। वहाँ के अनार्य लोग भगवान् को मारते और दाँतों से काटने दौड़ते थे। भगवान् को वहाँ बड़ी कठिनाई से रूखा-सूखा आहार मिलता था। वहाँ के कुत्ते भगवान् को कष्ट देते और काटने के लिए ऊपर गिरते थे। वहाँ के अनार्य और असंस्कारी लोगों में हजार में से कोई एक उन कष्ट देते हुए और काटने के लिए दौड़ते हुए कुत्तों को रोकता था। शेष लोग तो कुतूहल से छू-छू करके उन कुत्तों को काटने के लिए प्रेरित करते। वे अनार्य लोग भगवान् को दण्डादि से भी मारते थे। इन सब कष्टों को शान्ति और समभाव से भगवान् ने सहन किया।[2]

भगवान् राढ़ देश से वापस लौट रहे थे, और उस प्रदेश की सीमा पर आये हुए पूर्णकलश नाम के अनार्य गाँव में से निकल कर, आप आर्यदेश की सीमा में आ रहे थे, तब रास्ते में उनको दो चोर मिले जो अनार्य प्रदेश में चोरी करने जा रहे थे। भगवान् का सामने मिलना उन्होंने अपशकुन समझा और उनको मारने दौड़े। उस समय इन्द्र ने स्वयं आकर आक्रमण को निष्फल किया और चोरों को उचित रूप में दण्डित किया।

१—इसकी राजधानी कोटिवर्ष थी। आधुनिक बानगढ़ ही प्राचीन कोटिवर्ष है। इसके दो भाग थे उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़। इनके बीच में अजय नदी बहती थी। कुछ लोग भ्रम से इसे गुजरात देशीय लाट मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें मेरी पुस्तक 'वीर-विहार-मीमांसा' (हिन्दी) देखनी चाहिए। वस्तुतः लाढ़ प्रदेश बंगाल में गंगा के पश्चिम में था। आजकल के तामलुक, मिदनापुर, हुगली और बर्दवान जिले इस प्रदेश के अन्तर्गत थे। मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग इसकी उत्तरी सीमा के अतर्गत था।

२—आचारांग, नवम स्कंध, तृतीय उद्देशक, गाथा १–४।

आर्य-देश में आकर भगवान् ने पाँचवाँ चातुर्मास भद्दिया[१] नगरी में किया। इस चातुर्मास में भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध आसनों द्वारा ध्यान किया। चातुर्मास समाप्त होते ही भगवान् ने भद्दिया नगर के बाहर पारना करके कदली समागम की ओर विहार किया।

१—अंगदेश का एक नगर था। भागलपुर से ८ मील दक्षिण में स्थित भदरिया गाँव प्राचीन भद्दिया है। (वीर-विहार-मीमांसा हिन्दी, पृष्ठ २६)

छठाँ चातुर्मास

कदली-समागाम से भगवान् महावीर जम्बूसंड[१] गये और वहाँ स तम्बाय-सन्निवेश[२] गये। यहाँ गाँव से बाहर भगवान् ध्यान में स्थिर हो गये। इस गाँव में पार्श्वनाथ संतानीय नन्दिसेण नाम के बहुश्रुत-साधु थे। गच्छ की चिन्ता का भार सौंप करके वे जिनकल्पी आचार पालते थे। और, ध्यान में रहते थे। गोशाला गाँव में गया और उनके शिष्यों से झगड़ा करके भगवान् के पास आ गया। नन्दिसेण साधु उस रात को चौराहे पर खड़े हो कर ध्यान कर रहे थे, तब आरक्षक के पुत्र ने उनको चोर समझकर भाले से मार डाला। उसी समय उनको अवधिज्ञान हुआ और मर कर वे देवलोक गये। गोशाला को इस बात की सूचना मिली तो वह उपाश्रय में गया। वहाँ

१—जम्बूसंड-वैशाली से कुशीनारा वाले मार्ग पर अम्बगाँव और भोगनगर के बीच में वैशाली से चौड़ा पड़ाव था।
(देखिये वीर-विहार-मीमांसा हिन्दी, पृष्ठ २६)

२—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध—पत्र २६१

साधुओं को फटकार कर उसने उनके गुरु के निधन की सूचना दी औ
अपने स्थान को वापस चला गया।

तम्बाय-सन्निवेश से भगवान् कूपिय-सन्निवेश[1] गये। यहाँ लोगों ने भग
वान् को (चारिय) गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और खूब पीटा। भगवा
ने उनके प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अतः, वे कैद कर लिए गये
पार्श्वनाथ संतानीय विजया और प्रगल्भा नाम की साध्वियों को जब इ
बात की सूचना मिली, तो वे उस स्थान पर गयीं, जहाँ पर भगवान् कैद थे
उन साध्वियों ने भगवान् का वंदन करके पहरेदारों से कहा—"अरे, य
क्या किया? क्या तुम लोग राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्मचक्रवर्ती भगवान् महा
वीर को नहीं पहचानते? अगर इन्द्र को तुम्हारे दुष्कार्य का पता चला, त
तुम्हारी क्या दशा होगी? इन्हें शीघ्र मुक्त करो।" भगवान् का परिच
सुनकर सभी अपने किये पर पश्चाताप करने लगे और भगवान् से क्षमा
याचना करने लगे।"

कूपिय-सन्निवेश से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया
गोशाला ने यहाँ भगवान् के साथ चलने से इनकार करते हुए कहा—"आ
न तो मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने से मुझे सुख है। आपके
साथ मुझे भी कष्ट झेलना पड़ता है और सदा भोजन की चिन्ता बनी
रहती है।

गोशाला यहाँ से राजगृह नगरी की ओर गया और भगवान् वैशाली की
ओर[2]। वहाँ वे एक कम्मारशाला (लुहार के कारखाने) में जाकर ध्यान
में आरूढ़ हो गये। उस कारखाने का मालिक लुहार ६ महीने से बीमार
था। दूसरे दिन बीमारी के बाद अपने यंत्रादि के साथ जब वह अपने काम पर

१—कोपिया—यह बूह बस्ती जिले की खलीलाबाद तहसील की खलीलाबाद-मेंहदावल सड़क के सातवें मील पर स्थित है। बस्ती शहर से यह स्थान लगभग ३१ मील की दूरी पर है। इसका प्राचीन नाम अनुपिया था। देखिये-कोपिया (मदन मोहन नागर) सम्पूर्णानंद-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृष्ठ १६५

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २६२।

गया, तो वहाँ उसने भगवान् को ध्यानावस्था में खड़े देखा। भगवान् को देख कर उसने सोचा कि आज यह नंगा साधु मुझे अमंगल रूप दिखलायी पड़ा। उसे बड़ा क्रोध आया। और, इस परम मंगल को अज्ञानवश अमंगल समझ कर हाथ में हथौड़ा लेकर भगवान् को मारने दौड़ा। उसी समय इन्द्र ने अवधिज्ञान से भगवान् की चर्या जानने के विचार से देखा तो उसे सभी कुछ दिखलायी पड़ गया। वह तत्काल वहाँ आया और उसी घन को लोहार के सिर पर मार कर उसे यमलोक पहुँचा दिया। और, भगवान् को नमस्कार करके इन्द्र वापस चला गया।

वैशाली से विहार कर के भगवान् ग्रामक-सन्निवेश आये। और, ग्रामक के बाहर एक उद्यान में विभेलक-यक्ष के मन्दिर में कायोत्सर्ग में खड़े हो गये। वह यक्ष सम्यक्त्वी था। उसने भक्तिपूर्वक भगवान् की स्तुति की।

ग्रामक-सन्निवेश से भगवान् शालीशीर्ष आये और बाहर उद्यान में योगारूढ़ हो गये। माघ[१] का महीना था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। और नंगे बदन भगवान् ध्यान में रत थे। कटपूतना नाम की एक वाणव्यंतरी देवी वहाँ आयी। भगवान् को देखते ही उसका क्रोध चमक पड़ा। क्षण भर में उसने परिव्राजिका का रूप धारण कर लिया और बिखरी हुई जटाओं में जल भरकर भगवान् के ऊपर छिड़कने लगी और उनके कंधे पर चढ़ कर अपनी जटाओं से भगवान् को हवा करने लगी।

पानी के छींटे भगवान् को साही के काँटे की तरह बिंधते। पर, इस भीषण और असाधारण उपसर्ग को भी भगवान् ने पूर्ण स्वस्थ मन से सहन किया।

कटपूतना के उपसर्ग को धैर्यपूर्वक और क्षमापूर्वक सहन करते हुए भगवान् को लोकावधि[२] ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस से आप लोकवर्ती समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् देखने और जानने लगे। अंत में, भगवान् की सहन-

१—त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ३, श्लोक ६१४ पत्र ४०-१।

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९३।

शीलता और धैर्य के आगे कटपूतना को अपनी हार माननी पड़ी। पराजित कटपूतना भगवान् की पूजा करने लगी।

शालीशीर्ष से भगवान् ने भद्दिया[1] नगरी की ओर विहार किया और छठाँ चातुर्मास आपने भद्दिया में ही व्यतीत किया।

गोशाला जब से भगवान् से अलग हुआ, तब से उसे बड़े कष्ट सहने पड़े और भगवान् को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ६ महीने के बाद शालीशीर्ष में वह पुनः भगवान् से आ मिला और उन्हीं के साथ रहने लगा।

भद्दिया के इस चातुर्मास में भगवान् ने चातुर्मासिक तप करके विविध प्रकार के योगासन और योगक्रियाओं की साधना की। चातुर्मास समाप्त होते ही आपने भद्दिया के बाहर चातुर्मास तप का पारणा किया और वहाँ से मगध भूमि की ओर विहार किया।

१—अंग-देश का एक नगर था। भागलपुर से ८ मील दक्षिण में स्थित भदरिया गाँव प्राचीन भद्दिया है।

सातवाँ चतुर्मास

सरदी और गरमी के आठ मास तक भगवान् मगध के विविध भागों में गोशाला के साथ विचरे। और, जब वर्षा ऋतु समीप आयी, तो चतुर्मास के लिए आलंभिया पधारे। और, सातवाँ चतुर्मास आलंभिया नगरी में किया।

आलंभिया के चतुर्मास में भी, भगवान् ने चतुर्मासिक तप किया। और चतुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने नगर से बाहर जाकर तप का पारणा किया। और, वहाँ से कुंडाक-सन्निवेश की ओर गये।

केवल-ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी भगवान् महावीर ने एक वर्षावास आलंभिया में किया था (कल्पसूत्र, सूत्र १२१) यहाँ शंखवन नामक उद्यान में एक चैत्य था। इस नगर में ऋषि भद्रपुत्र आदि श्रावक रहते थे। (भगवती सूत्र श० ११ उ० १२, पत्र १००८) उवासग दसाओ में वर्णित दस मुख्य श्रावकों में चुल्लशतक नामक मुख्य श्रावक भी यहीं का था (अध्ययन ५)। यहाँ के राजा का नाम जितशत्रु मिलता है तथा यहाँ के पोग्गल नामक एक परिव्राजक को महावीर स्वामी ने अपना श्रावक बनाया था।

अ—हार्नेल ने उवासगदसाओ के परिशिष्ट खण्ड में (पृष्ठ ५१-५३) को आलंभिया की अवस्थिति पर विचार किया है और कई मत दिये हैं :—

(१) कर्नल यूल ने इसकी पहचान रीवा से की है।

(२) फाह्यान की यात्रा के बील-कृत अनुवाद में (बुद्धिस्ट रेकार्ड आव द' वेस्टर्न वर्ल्ड, पृष्ठ Xliii) आता है कि कन्नौज से अयोध्या जाते समय गंगा के पूर्वी तट पर फाह्यान को एक जंगल मिला था। फाह्यान ने लिखा है कि बुद्ध ने यहाँ उपदेश दिया था और वहाँ स्तूप बना है। हार्नेल ने लिखा है कि पालि शब्द अळवी और संस्कृत अटवी का अर्थ भी जंगल होता है।

इसकी स्थिति के सम्बन्ध में कनिंघम का मत है कि नवदेवकुल ही अळवी हो सकती है, जिसका उल्लेख ह्वेन च्यांग ने किया है। कन्नौज से १९ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित नेवल में अब भी इसके अवशेष हैं (आर्क्या-लाजिकल सर्वे रिपोर्ट, खंड १, पृष्ठ २९३) फाह्यान और ह्वेनच्यांग के दिये वर्णन से इस दूरी का मेल बैठ जाता है।

(३) मेरा मत यह है कि, जैन-ग्रन्थों में आया आलंभिया बौद्ध-ग्रन्थों में आया आळवी एक ही स्थान के नाम है।

आ—राहुल साकृत्यायन ने आळवी की पहचान अर्वल (जिला कानपुर) से की है। (बुद्धचर्या, पृष्ठ २४२)

इ—संयुक्तनिकाय की भूमिका में बुद्धकालीन भारत के भौगोलि परिचय में भिक्षु जगदीश और धर्मरक्षित ने आळवी की पहचान उन्न जिले के नेवल से की है। (पृष्ठ ६)

पर मेरा मत यह है कि, महावीर के विहार में आयी आलंभिया न उन्नाव में हो सकता है और न कानपुर में। भगवान् का विहार-क्रम मगध, आलंभिया, कुंडाकसन्निवेश, मर्द्दनसन्निवेश, बहुसाल, लोहार्गला व पुरिमताल। अतः निश्चय रूप में इस स्थान को प्रयाग से पूर्व में (प्रया मगध के बीच में) होना चाहिए। डाक्टर हार्नेल ने बिना विहार-क्रम मिला ही प्रयाग से पश्चिम में उसे पहचानने की चेष्टा की।

आठवाँ चतुर्मास

कुंडाक-सन्निवेश[1] में भगवान् वासुदेव के मन्दिर में कुछ समय तक र और वहाँ से विहार कर मद्दन[2]-सन्निवेश में जाकर बल्देव के मंदिर हठरो। वहाँ से भगवान् बहुसालग[3] नामक गाँव में गये और शालव के उद्यान में स्थिर हो गये। यहाँ शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् के ऊपर बहुत उपसर्ग किये; लेकिन अंत में थक कर के अपने स्थान पर वापस लौट गयी। वहाँ से भगवान् लोहार्गला नामक स्थान पर गये।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खंड, पत्र २९३

२—मद्दन का उल्लेख महामयूरी में भी मिलता है। वहाँ पंक्ति इस प्रकार है 'मर्दने मंडपो यक्षो'। कुछ लोग मंडप को स्थान वाची मानकर मर्दन को व्यक्तिवाची मानते हैं। पर, यह ठीक नहीं है। मर्दन स्थानवाची है और मंडप व्यक्तिवाची। महामयूरी में वर्णित 'मर्दन' और महावीर स्वामी के विहार का 'मद्दन' वस्तुतः एक ही स्थान है।

३—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खंड, पत्र २९४

लोहार्गला में उस समय जितशत्रु नामका राजा राज्य करता था। एक
ड़ोसी राज्य के साथ उसकी अनबन चल रही थी। अतः उसके राज्य के
भी अधिकारी बहुत ही सतर्क रहते थे। और, शक पड़ने पर किसी को भी
कड़ लेते थे। उन्हीं दिनों में भगवान् महावीर और गोशाला वहाँ आये।
हरेदारों ने उन दोनों का परिचय पूछा; पर उनको कुछ भी उत्तर नहीं
ला। अतः पहरेदारों ने भगवान् और गोशाला दोनों को पकड़ कर राजा
पास भेज दिया।

जिस समय भगवान् महावीर और गोशाला राजसभा में लाये गये, उस
मय अस्थिक ग्राम का वासी नैमित्तिक उत्पल भी वहाँ उपस्थित था। भगवान्
ो देख कर उत्पल खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर राजा से बोला—"हे
जन्! यह राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्म-चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान् महावीर
। यह गुप्तचर नहीं हैं। चक्रवर्ती के लक्षणों को भी जो मात करे, ऐसे इनके
ाद-लक्षणों को तो देखिये।" जितशत्रु ने उत्पल के कथन पर अविलम्ब
नके बंधन खोल दिये और आदरपूर्वक सत्कार करके अपने अपराध की
मा माँगने लगा।

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमताल[१] की ओर विहार किया[२] और नगर
बाहर शकटमुख-नामक उद्यान में कुछ समय तक ध्यान में स्थिर रहे।

१—जैन-ग्रन्थों में प्रयाग का प्राचीन नाम पुरिमताल मिलता है। यहीं
वृक्ष के नीचे शकटमुख नामक उद्यान में आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव
। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुए थे (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक, वक्ष०
, सूत्र ३१, पत्र १४६-२) यहाँ द्वितीय चक्रवर्ती सगर ने संगम पर राजसूय-
 किया था। उस समय कोई उनकी यज्ञ-सामग्री को गंगा में फेंकने
ा। उसकी रक्षा के लिए ऋषभदेव भगवान् की मूर्ति स्थापित की गयी।
र यज्ञ हुआ। पर्वतक नामक एक कपटी ब्राह्मण ने चक्रवर्ती सगर पर
मुगी आदि विद्याएं फेंकीं। और, यहाँ सोमवल्ली छेदकर सोमपान किया।
द से लोग उस स्थान को दिति-प्रयाग कहने लगे। जो नहीं मानते थे, वे

पुरितामल नगर में वग्गुर नामका श्रेष्ठि रहता था। उसकी पत्नी नाम भद्रा था। वह वंध्या थी। संतान के लिए उसने बहुत से देवी-ताओं की मानताएं मानी; पर उसे पुत्र न हुआ। एक दिन वह शकट उद्यान में क्रीडा करने गया। घूमते हुए, उसने एक पुराना मंदिर दे जिसमें भगवान् मल्लिनाथ की मूर्ति विराजमान थी। उसने उसी स प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे पुत्र या पुत्री हुई, तो मैं भक्तिभाव से भगवान् मल्लि नाथ का मंदिर निर्माण करवाऊँगा। भाग्य से भद्रा को गर्भ रह गया जब से गर्भ रहा, तब से ही उन्होंने देवालय निर्माण का कार्य प्रारम्भ दिया। अब वह तीनों काल भगवान् की पूजा करता और पक्का धा बन गया। योग्य समय पर वग्गुर को पुत्र प्राप्ति हुई। श्रेष्ठि और उन पत्नी दोनों ही अति प्रसन्न हुए और भगवान् मल्लिनाथ की पूजा करने च उसी उद्यान में भगवान् महावीर ध्यानावस्थित थे। उसी समय ई देवेन्द्र सब ऋद्धियों के साथ भगवान् का वंदन करने आया। वंदन क वह जा रहा था, ठीक उसी समय वग्गुर सेठ भगवान् मल्लिनाथ की पूजा लिए जा रहे थे। इन्द्र बोला—"अरे क्या तू प्रत्यक्ष तीर्थंकर को न जानता, जो मूर्ति की पूजा करने जा रहा है। यह भगवान् महावीर स्वा जगत के नाथ और सभी के पूज्य हैं। तब वग्गुर सेठ ने वहाँ आ 'मिच्छामि दुक्कड़म' करके भगवान् की पूजा की।

[पृष्ठ २०६ की पादटिप्पणि का शेषांश]

प्रयाग कहते (वसुदेवहिंडी, पृष्ठ १६३)। यहीं अग्निकापुत्र नामक एक साधु निर्वाण प्राप्त किया। निकट के देवताओं ने उस समय वहाँ उत्सव मना तब से यह प्रयाग तीर्थ माना जाने लगा (प्रयाग इति तत्तीर्थं प्रथितं त्रिजगत्यां परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लोक १६६) यहीं चित्र नाम के एक ऋषि हुए (उत्तराध्ययन सटीक अ० १३, गाथा २, पत्र १६८-१) विपाकसूत्र में मह के एक राजा महाबल का उल्लेख मिलता है (३, ५७ पृष्ठ २६)

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खंड, पत्र २६५।

पुरिमताल से भगवान् उन्नाग और गोभूमि होकर राजगृह पहुँचे और
आठवाँ वर्षवास उन्होंने राजगृह[1] में किया। इस वर्षवास में भगवान् ने
चातुर्मासिक तप और विविध योग-क्रियाओं की साधना की। चातुर्मास
समाप्त होते ही भगवान् ने राजगृह से विहार किया और बाहर जाकर
चातुर्मासिक तप का पारना किया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९६।

नवाँ चतुर्मास

भगवान् महावीर के मन में फिर विचार उठा—"अब भी बहुत से क्लिष्ट
कर्म मेरी आत्मा के ऊपर चिपके हुए हैं। उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए मुझे
अभी अनार्य-देश में परिभ्रमण करना चाहिए; क्योंकि यहाँ के लोग मुझे
जानते हैं, इससे कर्मों को नष्ट करने में विलम्ब हो रहा है। अतः पुनः अनार्य
देश में जाना चाहिए।" ऐसा विचार करके उन्होंने राढ़देश[1] की वज्रभूमि
और सुम्हभूमि जैसे अनार्य प्रदेश में विचरना प्रारम्भ किया।

१—(अ) शास्त्रों में भगवान् के लाढ़ देश में आने को कुछ लोग उनका अर्बुद-
देश में विहार मानते हैं और इस लाढ़ अथवा राढ़ की समता लाट-देश
से करते हैं। परन्तु, यह उनका भ्रम है। लाढ़ अथवा राढ़ देश की
राजधानी कोटिवर्ष थी। उसके सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ विद्वानों के
मत दे रहे हैं :—

(१) राढ़—बंगाल का वह भाग जो गंगा के पश्चिम में स्थित है। उसमें
तमलुक, मिदनापुर तथा हुगली और बर्दवान जिले सम्मिलित थे।

[पृष्ठ २११ की पाद-टिप्पणी का शेषांश]

मुर्शिदाबाद जिले का कुछ भाग उसकी उत्तरी सीमा में था। जैन परम्परा में आता है कि वज्रभूमि और सुम्हभूमि नामक उसके द विभाग थे ।......॥—'ज्यागरैफिकल डिक्शनरी आव ऐंशेंट ऍ मिडिवल इंडिया' (नन्दलाल दे-रचित), पृष्ठ १६४।

(२) कार्य के लिए दिनाजपुर जिले में स्थित वानगढ़ चुना गय जिसका पुराना नाम कोटिवर्ष या देवीपुर था।
कुंजगोविंद गोस्वामी-लिखित 'एक्सकैवेशंस ऐट वानगढ़' (के० एन० दीक्षित, डाइरेक्टर जनरल आव आर्क्यालाजी, लिखित-भूमिका पृष्ठ V)

(३) इस में (आधुनिक) दिनाजपुर का पूरा जिला रहा होगा।
हिस्टाटिकल ज्यागरैफी आव ऐंशेंट इंडिया (विमलचरण ला-रचित) पृष्ठ २३०।

(४) लाढ़ का प्रमुख नगर कोटिवर्ष था। कोटिवर्ष दिनाजपुर जिले में स्थित वानगढ़ है।
—द' हिस्ट्री आव बंगाल, (आर० सी० मजूमदार-कृत), पृष्ठ ६.

(५) कोटिवर्ष—उत्तरी बंगाल में स्थित दिनाजपुर—पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया, हेमचन्द्रराय चौधुरी-रचित, ५-वाँ संस्करण—पृष्ठ ५६१.)

(६) वज्रभूमि (हीरे वाली भूमि) से हमें आईने-अकबरी में (खण्ड २) पृष्ठ १३८, (यदुनाथ सरकार द्वारा अनूदित) वर्णित दक्षिणी-पश्चिमी बंगाल में स्थित मरदान सरकार का ध्यान हो जाता है, जहाँ हीरे की खान थी। यह सरकार बीरभूमि, बर्दवान तथा हुगली तक फैली थी।

(ब) अपनी पुस्तक 'ज्यागरैफिकल डिक्शनरी आव ऐंशेंट ऐंड मिडिवल इण्डिया' में श्री नन्दलाल दे ने (पृष्ठ १६४) राढ़ की चर्चा करते हुए लिखा है—लाढ़ देश में २४-वें तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान केवल-ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व १२ वर्षों तक विहार करते रहे। अपनी इस उक्ति

भगवान् महावीर यह पहले से ही जानते थे कि, अनार्य-देश में विचरने का अर्थ कष्टों को मोल लेना है। वहाँ भगवान् को ठहरने के लिए भी स्थान नहीं मिलता था। अतः वे किसी वृक्ष के नीचे अथवा खँडहर में ठहर जाते थे। अनार्य-देश के लोग भगवान् का मखौल उड़ाते। भगवान् को देखते ही उनको चारों ओर से घेर लेते और घूर-घूर कर उन्हें देखने लगते थे। वे उनपर पत्थर फेंकते, धूल उड़ाते, गालियाँ बकते और उन्हें दाँत काटते और उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ते, जो भगवान् को काट लेते। इन सारे कष्टों को सहकर भगवान् अडिग बने रहे। उन अनार्यों के प्रति उनमें लेश

[पृष्ठ २१२ की पादटिप्पणी का शेषांश]

के प्रमाण में उन्होंने बूलर-रचित 'इण्डियन सेक्ट आव जैनिज्म' का उल्लेख किया है। उक्त पुस्तक में बूलर (पृष्ठ २६) ने लिखा है—१२ वर्षों से अधिक समय तक (केवल वर्षा में विश्राम करते हुए) वे लाढ़ प्रदेश में—वज्जभूमि और सुम्हभूमि में विहार करते रहे।"
पर, यह दे महोदय और बूलर दोनों का भ्रम है। महावीर स्वामी ने अपना पूरा छद्मकाल अनार्य प्रदेश में नहीं बिताया था। पाठक यहाँ दिये पूरे विवरण से इस उक्ति की भूल समझ जायेंगे।

४) अपनी पुस्तक 'प्री-एरियन एँड प्री ड्रैविडियन इन इण्डिया' (पृष्ठ १२५) में श्री सेलविन लेवी ने आचारांग का उद्धरण देते हुए लिखा है—"लोग छुच्छू करके कुत्तों से महावीर स्वामी को कटाते।" और, आगे उन्होंने "छुच्छू" और "तुत्तू" शब्द को समान माना है। पर, अपने इस निर्णय में लेवी ने भूल की है। मूल आचारांग भाग, १, में शब्द 'छुच्छुक्कू', (पत्र २८१।२) है, न कि 'छुच्छू'। और, 'तुत्तू' तथा 'छुच्छुक्कू' में मूलभूत अंतर यह है कि 'तुत्तू' कुत्ते के बुलाने के लिए प्रयुक्त होता है और 'छुच्छुक्कू' दूसरों पर आक्रमण कराने के लिए।

५) हमने इस संबंध में 'वीर-विहार-मीमांसा' (हिन्दी) में विशेष रूप से विचार किया है। जिज्ञासु उसे देख सकते हैं।

मात्र का आवेश उत्पन्न नही हुआ। अपने कर्मों का क्षय होते देख उनकी आत्मा में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता। और, उनके मुख पर प्रसन्नता की एक विशेष आभा दृष्टिगोचर होती। करुणामूर्ति महावीर का समभाव यहाँ पूर्ण रूप से खिल उठता। आनार्य लोग भगवान् को पीड़ा पहुँचाने में कोई कसर न छोडते; लेकिन भगवान् महावीर के करुणापूर्ण नेत्रों पर जब उनकी दृष्टि पड़ती तब उनकी क्रूरता पिघलने लगती।

इन चार महीनों में भगवान् को रहने के लिए कोई स्थान नहीं मिला। अतः, यह नवाँ चौमासा भगवान् ने पेड़ों के नीचे या खंडहरों में ध्यान धर कर और घूम कर ही समाप्त किया। छद्मस्थ काल मे यही एक चौमासा भगवान् ने अनार्यदेश में किया।

छः महीने तक अनार्य देश में विचर कर वर्षा काल के बाद भगवान् आर्यदेश[२] में वापस आ गये।

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खंड, पत्र २९६

दसवाँ चातुर्मास

अनार्य-भूमि से निकल कर भगवान् और गोशाला सिद्धार्थपुर से [कू]र्मग्राम की ओर जा रहे थे। रास्ते में सात पुष्प वाला एक तिल का पौधा देखकर गोशाला ने पूछा—"भगवन् ! क्या यह तिल का पौधा फलेगा ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"हाँ, यह पौधा फलेगा। उसमें सात पुष्प-जीव हैं। वे एक ही फली में उत्पन्न होंगे।" यह सुनकर पीछे से गोशाला ने उस तिल के पौधे को उखाड़ कर फेंक दिया, जिससे उसमें फल ही न लगे। और, वे दोनों ही कूर्मग्राम की ओर गये। लेकिन, भवितव्यता-वश उसी समय वर्षा हुई और वह तिल का पौधा एक गाय के खुर के नीचे आकर जमीन में चिपक गया।

महावीर और गोशाला कूर्मग्राम पहुँचे और वहाँ मध्याह्न समय हाथ ऊँचा करके जटा खोल कर सूर्यमंडल के सामने दृष्टि रख कर वैश्यायन-नामक बाल-तपस्वी[1] को घोर तपश्चर्या करते हुए देखा।

उस तापस का पूर्व जीवन इस प्रकार था। चम्पा और राजगृह के मध्य में गोबर नाम का एक गाँव था। वहाँ गोशंखी नाम का एक अहीर कुटुम्बी रहता था। उसकी पत्नी का नाम बन्धुमती था। वह वंध्या थी। उसके पास खेटक नाम का एक गाँव था। चोरों ने आकर उस गाँव को लूटा और लोगों को पकड़ ले गये। उस गाँव में वेशिका नाम की एक स्त्री थी। जो अत्यन्त रूपवती थी, वह सप्रसूता थी, उसका पति मारा गया था। अतः उसको जो लड़का पैदा हुआ उसको एक वृक्ष के नीचे रख कर उस

१—लौकिक तापसः राजेन्द्राभिधान, भाग ५, पृष्ठ १३१८, 'फुलिश ऐसेटिक'

२—हिस्ट्री आव आजीवक, पृष्ठ ४९।

३—त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ७८, पत्र ४३-२

स्त्री को चोर उठा ले गये। गोशंखी-नामक अहीर ने प्रातःकाल उस लड़के को देखा और उसको घर ले जाकर वह पुत्रवत् लालन-पालन करने लगा। इधर चोरों ने उस लड़के की माँ वेशिका को एक वेश्या के यहाँ चम्पा नगरी में बेच दिया। वेश्या ने उसको अपना सब व्यवहार सिखलाया। वेशिका का लड़का जब जवान हुआ तो एक समय मित्रों के साथ घी की गाड़ी लेकर चम्पा नगरी में गया। नगरनिवासियों को चतुर रमणियों के साथ विलास करते देखकर, वह भी क्रीड़ा के लिए वेश्याओं के मुहल्ले में गया। और, वहाँ एक सुन्दर वेश्या को देखकर उस पर मुग्ध हो गया। आभूषण आदि से उसे प्रसन्न करके रात को आने का संकेत करके वह चला गया। रात में स्नान-विलेपनादि से सज्ज होकर उस गणिका के पास जाते हुए उसका पाँव विष्ठा में पड़ गया। लेकिन, शीघ्रतावश, मार्ग में खड़े हुए गाय के वत्स से पाँव रगड़ कर जाने लगा। वत्स ने गाय से मनुष्यवाचा में कहा—"देखो माँ, यह मनुष्य विष्ठायुक्त पाँव मुझ पर पोंछ रहा है।" वत्स की बात सुनकर गाय बोली—"बेटा! चिंता मत करो। यह कामान्ध अपनी माता को ही भोगने के लिए जा रहा है। उसको ज्ञान ही कहाँ है?"

इस बात को सुन कर चिन्तामग्न वह वेश्या के पास गया और धन देकर, उससे उसकी जीवन-कथा पूछने लगा। जब उस वेश्या ने अपनी सारी कथा कह सुनायी, तो वह लौट कर अपने ज्ञात माता-पिता बंधुमती-गोशंखी के पास गया और उनसे पूछने लगा—"आज सच बताइए कि क्या आप मेरे सगे माता-पिता हैं या आप लोगों ने मुझे मोल लिया है।" बंधुमती और गोशंखी ने सारा वृत्तांत सच-सच कह सुनाया। अतः, वह सीधा अपनी माँ के पास पहुँचा और उस कुटनी से अपनी माता को छुड़ा कर अपने गाँव ले गया।

लेकिन, अपनी माता के साथ भोग-भोगने के विचार से उसे बड़ी ग्लानि लगी और वह तापस हो गया।[१]

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९७। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ७८-१०६ पत्र ४३-२—४४-२।

यही तापस घोर तपश्चर्या कर रहा था। उसकी जटाओं से जो जूएँ गिरतीं, उनको उठा कर वह पुनः अपनी जटा में रख लेता। उसे देखकर गोशालक ने महावीर स्वामी से पूछा—"यह जूँओं का घर कौन है?" इस प्रकार गोशाला को बार-बार प्रश्न करते देख, तापस को क्रोध आया और उसने अपनी तेजोलेश्या गोशाला के ऊपर छोड़ी। गोशाला डर के मारे भागा और भगवान् के बगल में जा छिपा। भगवान् ने शीतलेश्या से तेजोलेश्या का निवारण किया। यह देखकर उस तापस ने भगवान् से कहा—"यह आपका शिष्य है। यह मुझे नहीं ज्ञात था। नहीं तो, मैं ऐसा न करता।" और, वह चला गया।

तेजोलेश्या की बात सुनकर, गोशाला ने भगवान् महावीर से उसे प्राप्त करने की विधि पूछी। तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि बतलाते हुए भगवान् ने कहा—"छः महीने तक लगातार छठ की तपश्चर्या (दो उपवास) करके सूर्य के सामने दृष्टि रखकर खड़े-खड़े उसकी आतापना ले और पकाये हुए मुट्ठी भर नखकेदार कुल्माष[१] और चिल्लू भर पानी से पारना करे तो उस तपस्वी को थोड़ी-बहुत मात्रा में तेजोलेश्या की प्राप्ति होती है।"[२]

कुछ समय के बाद भगवान् ने फिर सिद्धार्थपुर की ओर विहार किया। जब वे उस तिल के पौधे के पास पहुँचे, तो गोशाला बोला—"देखिये भगवन्! वह तिल का पौधा नहीं पनपा, जिसके सम्बंध में आपने भविष्यवाणी की थी।" भगवान् ने अन्य स्थान पर उगे तिल के पौधे को दिखला कर कहा—"गोशाला! यह वही तिल का पौधा है, जिसे तुमने उखाड़

१—'कुल्मापाः' राजमापाः—नेमिचंद्राचार्यकृत उत्तराध्ययन टीका, पत्र १२९-१

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९९,
तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि के सम्बन्ध में हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणकम् में श्रीमन्मलधार गच्छीय हेमचन्द्र ने लिखा है—अंगुली-चतुष्टयनखाक्रान्तहस्ते यका मुष्टिर्बध्यते सा सनखा कुल्माष पिण्डिकेत्यु-च्यते (पत्र २५-२)

कर फेंक दिया था।"

गोशाला को पहले तो विश्वास नहीं हुआ; लेकिन जब उसने उस पौधे से फली को तोड़कर देखा तो उसमें सात ही तिल निकले थे। इस घटना से गोशाला नियतिवाद के सिद्धान्त के प्रति और दृढ़ीभूत होकर बोला—"इस प्रकार सभी जीव मरकर पुनः अपनी योनि में ही उत्पन्न होते हैं।[1]

यहाँ से गोशाला भगवान् से अलग होकर श्रावस्ती नगर में गया। और वहाँ आजीवक-मत को मानने वाली हालाहला[2] नामक कुम्हारिन के यहाँ उसकी भट्ठीशाला में तेजोलेश्या की साधना करने लगा।

भगवान् महावीर द्वारा बतायी विधि से, ६ महीने तक तप और आतापना के बल पर उसने तेजोलेश्या सिद्ध की। अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए वह कूएँ के पास गया और कंकड़ मार कर एक जल भरने वाली दासी का घड़ा तोड़ दिया। जब वह क्रुद्ध होकर गाली देने लगी, तो गोशाला ने तेजोलेश्या का प्रयोग किया। बिजली की तरह तेजोलेश्या ने उस दासी को भस्म कर दिया।

अष्टांग निमित्त के पारगामी शोण, कलिन्द, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान और अर्जुन—जो पहले पार्श्वपात्य साधु थे, और बाद में दीक्षा छोड़ कर निमित्त के बल पर अपनी आजीविका चलाते थे[3]—से गोशाला ने निमित्त-शास्त्र का अध्ययन किया। इस ज्ञान के द्वारा वह सुख, दुःख, लाभ, हानि, जीवन और मृत्यु—इन छः बातों में—सिद्धवचन नैमित्तिक बन गया।

तेजोलेश्या और निमित्तज्ञान-जैसी असाधारण शक्तियों से गोशाला का महत्व खूब बढ़ा। प्रतिदिन उसके अनुयायियों और भक्तों की संख्या बढ़ने लगी। सामान्य भिक्षु गोशाला अब आचार्य की कोटि में पहुँच गया और आजीवक-सम्प्रदाय का तीर्थंकर बन कर विचरने लगा।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २९९।

२—भगवती सूत्र, शतक १५, सूत्र, १ (तृतीय खंड, पृष्ठ ३६७)

३—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक १३५, पत्र ४५-२।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पहुँचे। एक दिन वाहर आप कायोत्सर्ग में स्थिर थे, तब लड़कों ने आपको पिशाच समझकर खूब तंग किया। उस समय शङ्ख राजा, जो राजा सिद्धार्थ का मित्र था, भगवान् महावीर को पहचान कर उनसे मिलने आया और उनके चरणों में पड़ कर उसने उनकी वंदना की।

वैशाली से भगवान् ने वाणिज्यग्राम की ओर प्रस्थान किया। वैशाली और वाणिज्यग्राम के मध्य में गण्डकी नदी बहती थी। भगवान् ने नाव द्वारा उस नदी को पार किया। किनारे पहुँचने पर नाविक ने किराया माँगा। भगवान् ने उसको कुछ उत्तर न दिया तो नाविक ने उन्हें रोक रखा। उसी समय शंख राजा का भांजा—चित्र, जो दूत-कार्य से कहीं गया हुआ था—वहाँ आ गया और किराया देकर उसने भगवान् को मुक्त कराया और उनकी[1] पूजा की।

वाणिज्यग्राम में जाकर नगर से बाहर भगवान् ध्यान में स्थिर हो गये। उस गाँव में आनंद नामक एक श्रमणोपासक रहता था। निरन्तर छठ (दो दिन का उपवास) की तपश्चर्या और आतापना के कारण आनंद को अवधिज्ञान'[2] ज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी। भगवान् के आगमन की बात सुनकर वह उनके पास गया और वंदन करके बोला—"हे भगवन्! आपका शरीर और मन दोनों ही वज्र के बने हैं। अतः, अति दुःसह परीषह और दारुण उपसर्गों के आने पर भी आपका शरीर टिका हुआ है। अब निकट-भविष्य में ही आपको केवल-ज्ञान की प्राप्ति होगी।"

वाणिज्यग्राम से विचरते हुए भगवान् श्रावस्ती पधारे और दसवाँ चातुर्मास आपने श्रावस्ती[3] में किया। इस वर्षावास में भगवान् ने नाना प्रकार के तप किये और योगक्रियाओं की सिद्धि की।

१-आवश्यकचूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र २९९।

२-इन्द्रियमनोनिरपेक्षे आत्मनो रूपिद्रव्य साक्षात्कारकारणे ज्ञानभेदे-स्था० २ ठा०

आत्मा, इन्द्रिय और मन की सहायता के विना जिस ज्ञान से पदार्थों को प्रत्यक्ष देखता है उस विशेष ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

३-आवश्यक चूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र ३००।

ग्यारहवाँ चातुर्मास

दसवाँ चातुर्मास समाप्त होते ही भगवान् ने श्रावस्ती से सानुलट्ठिय सन्निवेश की तरफ विहार किया। यहाँ पर आप भद्र[1], महाभद्र[2] और सर्वतोभद्र[3] प्रतिमाओं की आराधना करते हुए ध्यानमग्न रहे और अविच्छिन्न सोलह उपवास[4] किये।

तप का पारना करने के लिए, भगवान् आनन्द गृहपति के घर गये। आनन्द की बहुला-नामक दासी रसोई में बरतन साफ कर रही थी और ठण्डा अन्न फेंकने जा रही थी। इतने में भगवान् वहाँ आ पहुँचे। दासी ने पूछा—"महाराज, आपको क्या चाहिए ?" उस समय भगवान् ने दोनों हाथ पसारे और दासी ने बड़ी भक्ति से उस अन्न को उनके हाथों पर रखा। और

१—पूर्वादिदिक्चतुष्टये प्रत्येकं प्रहर चतुष्टय कायोत्सर्गकरणरूपा अहोरात्र द्वय मानेति—स्थानांग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५-२।
पूर्व आदि चारों दिशाओं में प्रत्येक में चार प्रहर तक कायोत्सर्ग करना। इसका प्रमाण दो अहोरात्र है।

२—महाभद्रापि तथैव, नवरमहोरात्र कायोत्सर्गरूपा अहोरात्र चतुष्टय माना—स्थानांग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५-२।
पूर्व आदि चारों दिशाओं में अहोरात्र कायोत्सर्ग करना। इसका मान चार अहोरात्र है।

३—सर्वतोभद्र तु दशसु दिक्षु प्रत्येकमहोरात्र कायोत्सर्गरूपा अहोरात्रदश प्रमाणेति।—स्थानांग सूत्र सटीक, प्रथम भाग, पत्र ६५-२।
दशों दिशाओं में प्रत्येक में अहोरात्र कायोत्सर्ग करना। इसका मान दस अहोरात्र है।

४—आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पत्र ३००।

भगवान् ने उस बचे हुए अन्न से ही पारना किया।

सानुलट्ठिय से भगवान् ने दृढ़भूमि की ओर विहार किया और पेढाल गाँव के पास स्थित पेढाल-उद्यान में पोलास नाम के[१] चैत्य में जाकर अट्ठम तप (तीन दिन का उपवास) करके, एक भी जीव की विराधना न हो, इस प्रकार एक शिला पर शरीर को कुछ नमाकर हाथ लम्बे करके किसी रूक्ष-पदार्थ पर दृष्टि स्थिर करके दृढ़मनस्क होकर अनिमेष दृष्टि से भगवान् वहाँ एक रात्रि ध्यान में स्थिर रहे। यह महाप्रतिमा-तप कहलाता है।

भगवान् की ऐसी उत्कृष्ट ध्यानावस्था देखकर, इन्द्र ने अपनी सभा में कहा—"भगवान् महावीर के बराबर इस जगत में कोई ध्यानी और धीर नहीं है। मनुष्य तो क्या, देवता भी उनको अपने ध्यान से चलायमान नहीं कर सकते।"[२]

इन्द्र के मुख से एक मनुष्य की ऐसी प्रशंसा संगमक-नामक देव से सहन नहीं हुई। उसने कहा—"ऐसा कोई मनुष्य नहीं हो सकता जो देवों की तुलना में आ सके। अभी जाकर मैं उनको ध्यान से चलायमान करता हूँ।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वह शीघ्र ही पोलास-चैत्य में जा पहुँचा, जहाँ भगवान् महावीर ध्यानारूढ़ थे। भगवान् को ध्यान से विचलित करने के लिए सारी रात उसने बीस अति भयंकर उपसर्ग किये :—

(१) पहले उसने प्रलयकाल की तरह धूल की भीषण वृष्टि की। भगवान् के नाक, आँख, कान उस धूल से भर गये; लेकिन अपने ध्यान से वे ज़रा भी विचलित नहीं हुए।

(२) धूल की वर्षा करने का उपद्रव शांत होते ही, उसने वज्र-सरीखी तीक्ष्ण मुँहवाली चीटियाँ उत्पन्न कीं। चींटियों ने महावीर के सारे शरीर को खोखला बना दिया।

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३०१।

१—आवश्यक चूर्णि प्रथम खंड, पत्र ३०२।

(३) फिर उसने मच्छर के झुंड-के-झुंड भगवान् पर छोड़े जो उनके शरीर को छेद कर खून पीने लगे। उस समय भगवान् के शरीर में से बहते हुए दूध-सरीखे खून से भगवान् का शरीर झरने वाले पहाड़-सरीखा मालूम होता था।

(४) यह उपसर्ग शान्त ही नहीं हुआ था कि, [illegible] (दीमक) आकर भगवान् के शरीर से चिपट गयी और उनको काटने लगीं। उनको देखने से ऐसा लगता था, मानो भगवान् के रोंगटे खड़े हो गये हों।

(५) उसके बाद उस देव ने बिच्छुओं को उत्पन्न किया, जो अपने तीखे दंशों से भगवान् के शरीर को डंसने लगे।

(६) फिर उसने न्यौले उत्पन्न किये, जो भयंकर शब्द करते हुए भगवान् की ओर दौड़े और उनके शरीर के मांस-खंड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

(७) उसके पश्चात् उसने भीमकाय सर्प उत्पन्न किये। ये भगवान् को काटने लगे। पर, जब उनका सारा विष निकल गया, तो ढीले होकर गिर पड़े।

(८) फिर, चूहे उत्पन्न किये। जो भगवान् के शरीर को काटते और उस पर पेशाब करके 'कटे पर नमक' की कहावत चरितार्थ करते।

(९) उसने लम्बी सूँड़वाला हाथी (गजेन्द्र) उत्पन्न किया, जो भगवान् को उछाल कर लोक लेता था। दाँतों से भगवान् पर प्रहार करता था, जिससे वज्र-सरीखी भगवान् की छाती में से अग्नि की चिनगारियाँ निकलती थीं। लेकिन, हाथी भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुआ।

(१०) उसके बाद हथिनी ने भी भगवान् पर वैसा ही उपद्रव किया। उनके शरीर को बींध डाला। अपने शरीर का जल-विष की तरह भगवान् पर छिड़का। लेकिन, यह भी भगवान् को विचलित करने में सफल नहीं हुई।

(११) उसके बाद उसने पिशाच का रूप ग्रहण किया और भयानक रूप में किलकारी भरते हुए, हाथ में बर्छी लेकर भगवान् की ओर झपटा। पर, अपनी सारी शक्ति आजमाने के बाद भी वह असफल रहा।

(१२) फिर उसने विकराल बाघ का रूप धारण किया। उसने वज्र-सरीखे दाँतों से और त्रिशूल की तरह नखों से भगवान् के शरीर का विदारण किया। पर, वह निष्फल रहा।

(१३) फिर, उसने सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप धारण किया और हृदय-विदारक ढंग से विलाप करते हुए कहने लगा—"हे वर्द्धमान, तुम वृद्धावस्था में हमें छोड़कर कहाँ चले गये।" लेकिन, भगवान् अपने ध्यान में स्थिर रहे।

(१४) उसने एक शिविर की रचना की। उस शिविर के रसोइए को भोजन बनाने की इच्छा हुई, तो उसने भगवान् के दोनों पैरों के बीच आग जला दी और बीच में भोजन पकाने का बर्तन रखा। वह अग्नि भी भगवान् को विचलित करने में समर्थ नहीं हुई। प्रत्युत् अग्नि में तपे सोने के समान भगवान् की कांति प्रदीप्त होने लगी और उनके कर्म-रूपी काष्ठ भस्म होने लगे। इस बार संगम लज्जित तो अवश्य हुआ; पर अभी भी उसका मद नहीं उतरा!

(१५) उसने फिर चांडाल का रूप धारण किया और भगवान् के शरीर पर विविध पक्षियों के पिंजरे लटका दिये, जो भगवान् के शरीर पर चोंच और नख से प्रहार करने लगे।

(१६) फिर, उसने भयंकर आँधी चलायी। वृक्षों को मूल से उखाड़ता हुआ और मकानों की छतों को उड़ाता हुआ, वायु गगनभेदी निनाद के साथ बहने लगा। भगवान् महावीर कई बार ऊपर उड़ गये और फिर नीचे गिरे; लेकिन फिर भी वे ध्यान से विचलित नहीं हुए।

(१७) उसके बाद उसने बवंडर चलाया, जिसमें भगवान् चक्र की तरह घूमने लगे; लेकिन फिर भी वे ध्यान से च्युत नहीं हुए।

(१८) थककर उसने भगवान् पर कालचक्र चलाया, जिससे भगवान् घुटने तक जमीन में धँस गये। लेकिन, इतने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ।

इन प्रतिकूल उपसर्गों से भगवान् को विचलित करने में अपने को असमर्थ पाकर, उसने अनुकूल उपसर्गों द्वारा भगवान् का ध्यान भंग करने का प्रयास किया।

(१९) और, एक विमान में बैठकर भगवान् के पास आया और बोला—"कहिये आपको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग?" लेकिन, भगवान् महावीर फिर भी अडिग रहे।

(२०) अंत में, उसने अंतिम उपाय के रूप में एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख खड़ी कर दिया। लेकिन, उसके हाव-भाव भी भगवान् को विचलित नहीं कर सके।

जब रात्रि समाप्त हुई और प्रातःकाल हुआ, तब भगवान् महावीर ने अपना ध्यान पूरा करके वालुका की ओर विहार किया।[1]

भगवान् महावीर की मेरु की तरह धीरता और सागर की तरह गम्भीरता देखकर संगमक लज्जित हो गया। अब उसे स्वर्ग में जाते लज्जा लगने लगी। लेकिन, इतने पर भी उसका हौसला पूरा नहीं हुआ। अतः मार्ग में उसने ५०० चोरों को खड़ा करके भगवान् को भयभीत करना चाहा। वालुका से भगवान् ने सुयोग, सुच्छेता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि गाँवों में भ्रमण किया। इन सब गाँवों में संगमक ने कुछ-न-कुछ उपद्रव खड़े किये।

एक समय भगवान् तोसलिगाँव[2] के उद्यान में ध्यानारूढ़[3] थे। तब संगमक साधु का वेष बनाकर गाँव में गया और सेंध मारने लगा।

१—आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३११।

२—इसका वर्तमान नाम धौलि है। यहाँ अशोक का लेख भी है। यह स्थान खण्डगिरी-उदयगिरी के निकट है।

३—आवश्यक चूर्णि, प्रथम खण्ड, पत्र ३१२।

लोगों ने उसको चोर समझ कर पकड़ा और जब पीटने लगे तो वह बोला— "मुझे क्यों पीटते हो। मैं तो अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।" तब लोगों ने पूछा कि तेरा गुरु कौन है, तो उसने उद्यान में ध्यानमग्न महावीर स्वामी को बता दिया।

लोग वहाँ गये तो लोगों ने वहाँ भगवान् को ध्यान में खड़े देखा। अतः, भगवान् को ही चोर समझ कर उन पर धावा कर दिया और बाँध कर गाँव ले जाने वाले थे कि, इतने में महाभूतिल नामका एक ऐन्द्रजालिक वहाँ आ गया। उसने भगवान् का परिचय गाँव वालों को करा कर उनको मुक्त कराया। अब लोग उस साधु की खोज करने लगे; लेकिन उसका कहीं भी पता नहीं चला। तब गाँव वालों को मालूम हुआ कि इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है।

तोसली से भगवान् मोसलि[1] पहुँचे[2] और उद्यान में कायोत्सग में खड़े हो गये। इस समय भी संगमक ने आप पर चोर होने का आरोप लगाया। सिपाही भगवान् को पकड़ कर राजा के पास ले गये। राजसभा में राजा सिद्धार्थ के मित्र सुमागध नामका राष्ट्रिय[3] बैठा हुआ था। भगवान् महावीर को देखकर वह खड़ा हो गया। और, भगवान् का परिचय करा कर उसने उनको बन्धन से मुक्त कराया। आप वहाँ से पुनः तोसलि जाकर उद्यान में ध्यानरूढ़ हो गये।

यहाँ संगमक देव ने चोरी के औजार लाकर भगवान् के पास रख दिये। इन औजारों को देखकर लोगों ने आपको चोर की शंका से पकड़ लिया और तोसलि-क्षत्रिय के पास ले गये। क्षत्रियने आपसे बहुत-से प्रश्न पूछे और

१—कलिंग देश का एक विभाग था। भरत के नाट्य-शास्त्र में इसका उल्लेख है।

२—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३१३.

३—(अ) राष्ट्रीय—राष्ट्रचिंता नियुक्ता—प्रश्नव्याकरण अभयदेव-सूरिकृत टीका, पत्र ९६.

(आ) राष्ट्रियो नृपतेः श्यालः ॥२४७॥ कांड २, अभिधान चिन्तामणि

(पृष्ठ २२५ की पादटिप्पणि का शेषांश)

(इ) राजश्यालस्तु राष्ट्रियः ॥१४॥ प्रथम कांड, अमर-कोष

(ई) शब्दसिद्धि के नियमानुसार "राष्ट्रे अधिकृतः" इति राष्ट्रियः इ अर्थ में राष्ट्रादियः ६-३-३ सिद्धहेम व्याकरण के नियमानुसार अधिक अर्थ में इयस् प्रत्यय आकर भी राष्ट्रिय बनता है। अतः राष्ट्र में देश जो अधिकारी या अध्यक्ष है, वह राष्ट्रिय कहलाता है। अमरकोष के ए टीकाकार क्षीरस्वामीने भी यही अर्थ किया है।

क्षीरस्वामी ने अपनी टीका में कहा है कि नाटक छोड़कर राष्ट्रिय क अर्थ राष्ट्रधिकृत होता है। अर्थात् वह प्राधिकारी जो राष्ट्र, राज अथवा प्रान्त के मामलों को देखने के लिए नियुक्त किया गया हो।

—'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया' राय चौधरी—कृत पृ २९० (पाद-टिप्पणि)

(ऊ) 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग रुद्रदामन के शिलालेख में इस रूप हुआ है :—

८—मौर्यस्य राज्ञः चन्द्र (गु) [प्त,] [स्य] राष्ट्रियेण [वै] श्येन, पुष्य गुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्यस्य (कृ) ते यवन राजेन तुष [।] स्फेनाधिष्ठाय।

'सिलेक्ट के इंस्क्रिप्शंस बियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री ऐंड सिविलाइजेशन' पृष्ठ १७१.

(ए) बरुआ ने अपनी पुस्तक 'अशोक ऐंड हिज इंस्क्रिप्शंस' में (पृष्ठ १४८, १४९, १५०) लिखा है :—

तालाब का निर्माता वैश्य पुष्यगुप्त चन्द्रगुप्त मौर्य का राष्ट्रिय था। यहाँ राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी पूरा रहस्य राष्ट्रिय शब्द में है। 'राष्ट्रिय' शब्द का अर्थ अमर-कोष में राजा का साला दिया है। अमरसिंह ने उसका यह अर्थ दिया है, जिस अर्थ में उसका प्रयोग संस्कृत-नाटकों में होता है। अतः इस सम्बन्ध में क्षीरस्वामी का यह मत ठीक है कि राष्ट्रिय राष्ट्राधिकृत को कहते हैं, जो राष्ट्र, राज्य अथवा प्रान्त देखभाल के लिए नियुक्त होता है। कीलहार्न ने पुष्यगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रान्तीय

परिचय जानना चाहा। लेकिन, भगवान् ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और न अपना परिचय ही बताया। इससे तोसलि-राजा और उनके सलाहकारों को विश्वास हो गया कि जरूर यह कोई छद्मवेशधारी साधु है। अतः उन्होंने आपको फाँसी की सजा सुनायी। अधिकारी आपको फाँसी के फंदे पर ले गये और गले में फांसी का फंदा लगाया; लेकिन तख्ता चलाते ही फंदा टूट गया। इस तरह सात बार फांसी लगायी गयी और सातों बार फंदा टूटता गया। इस घटना से सब अधिकारी आश्चर्य में पड़ गये और राजा के समीप जाकर सब घटना कह सुनायी। राजा बड़ा प्रभावित हुआ। और, उसने आदरपूर्वक उनको मुक्त कर दिया।

तोसलि से भगवान् सिद्धार्थपुर गये और वहाँ भी चोर की आशंका से पकड़े गये; लेकिन कौशिक नाम के एक घोड़े के व्यापारी (आस-वणिओ) ने आपका परिचय बताकर आपको मुक्त करा दिया। वहाँ से आप व्रज-गाम गये।[१]

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र ३१३।

(पृष्ठ २२६ की पादटिप्पणि का शेषांश)

गवरनर लिखा है। लेकिन, राय चौधरी ने लिखा है कि यह पद सम्भवतः इम्पीरियल हाई कमिश्नर-सरीखा था, जिसकी तुलना मिस्र के लार्ड क्रोमर से की जा सकती है। राय चौधरी राष्ट्रिय को राष्ट्रपाल शब्द के समकक्ष लेते हैं।

बुद्धघोष ने एक प्रसंग में लिखा है—जब मगध के अजातशत्रु राजा की सवारी निकलती थी, तो राष्ट्रिय लोगों को महामात्र लोगों के साथ स्थान मिलता था। ये महामात्र बड़े अच्छे कपड़े पहने ब्राह्मण होते थे, जो जयघोष करते चलते थे। राष्ट्रिय लोग भी बड़े सज-धज के कपड़े पहनते थे और हाथ में तलवार लेकर निकलते थे।

अतः स्पष्ट है कि 'राष्ट्रिय' शब्द वस्तुतः 'प्रान्तपति' के पद का द्योतक है।

व्रजगाम–गोकुल में उस दिन पर्व होने से, सब के घर में खीर पकी थी। भगवान् भिक्षा के लिए गये। संगमक वहाँ भी पहुँच गया और आहार को अशुद्ध करने लगा। भगवान् संगमक की कार्रवाई समझ गये और नगर छोड़ कर बाहर चले गये।

संगमक छः महीने से भगवान् को निरंतर कष्ट दे रहा था और विविध उपायों से सता रहा था। भगवान् को ध्यान से चलित करने के लिए, उसने बहुत-से उपाय किये। लेकिन, वह सफल नहीं हो सका। इन सब कृत्यों के बाद संगमक को यह अनुभव हुआ कि भगवान् महावीर का मनोबल पहले से दृढ़तर ही होता जा रहा है, तब उसने अपनी हार स्वीकार कर ली और भगवान् के पास जाकर बोला—"इन्द्र ने आपकी जो स्तुति की थी, वह पूर्णतः सत्य है। आप सत्य-प्रतिज्ञ हैं और मैं अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ हूँ। अब मैं भविष्य में किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित करूँगा।"

संगमक के इस वचन को सुनकर भगवान् महावीर ने कहा—"संगमक! मैं किसी के वचन की अपेक्षा नहीं रखता हूँ। मैं तो अपनी इच्छा के अनुसार ही विचरता हूँ।"

भगवान् के अपूर्व समभाव और क्षमाशीलता से पराभूत होकर संगमक वहाँ से चला गया। दूसरे दिन भगवान् उसी व्रजगाम में गये। पूरे छः महीने के बाद आपने वत्सपालक-एक वृद्धा-के हाथ से खीर से पारणा किया।

संगमक जब देवलोक में गया तब इन्द्र उसके ऊपर बड़ा क्रुद्ध हुआ।

उसकी भर्त्सना करते हुए उसको देवलोक से निकाल दिया। संगमक अपनी पत्नी के साथ जाकर मेरु पर्वत के शिखर पर रहने लगा।

व्रजगाम से भगवान् ने श्रावस्ती की ओर विहार किया। आलंभिका, सेयविया आदि प्रसिद्ध नगरों में होते हुए आप श्रावस्ती पहुँचे और नगर के उद्यान में ध्यानारूढ़ हो गये।

श्रावस्ती से कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरों में

घूमते हुए, आप वैशाली पधारे और ग्यारहवाँ चातुर्मास आपने वैशाली में ही व्यतीत किया।

वैशाली के बाहर समरोद्यान था। उसमें बलदेव का मंदिर था। उसी में भगवान् महावीर ने चातुर्मासिक तप करके चातुर्मास बिताया।[1]

वैशाली में जिनदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था। उसकी ऋद्धि-समृद्धि क्षीण हो जाने से, वह जीर्णश्रेष्ठी नाम से विख्यात था। जिनदत्त सरल एवं परम श्रद्धालु था। वह प्रतिदिन भगवान् महावीर को वंदन करने के लिए जाता था और आहार-पानी के लिए प्रार्थना करता था। लेकिन, भगवान् नगर में कभी जाते ही न थे। सेठ ने सोचा—"भगवान् को मास-क्षमण (एक महीने का उपवास) महीना पूरा होगा, तब आयेंगे। महीना पूरा हुआ तब सेठ ने विशेष आग्रहपूर्वक भगवान् से प्रार्थना की लेकिन भगवान् न आये। तब उसने द्विमासिक क्षमण की कल्पना की। जब दो महीने के अंत में भी प्रार्थना करने पर भगवान् नहीं आये, तो उसने त्रैमासिक मास-क्षमण की कल्पना की। जब तीन महीने पूरे हुए तो उसने फिर भगवान् से प्रार्थना की और इस बार भी जब भगवान् न आये, तो उसने सोच लिया कि भगवान् ने चातुर्मासिक तप किया है। चातुर्मासिक तप पूरा होने पर सेठ ने भगवान् से अपने घर पधारने की विनंती बड़े अनुनय-विनय से की और घर वापस लौट कर भगवान् के आने की प्रतीक्षा करने लगा। जब मध्याह्न हो चुका, तब विंडेपणा (भिक्षाचर्या) के नियम के अनुसार नगर में घूमते हुए भगवान् ने अभिनव श्रेष्ठी के घर में प्रवेश किया। घर के मालिक ने भगवान् महावीर को देखते ही दासी को इशारा किया कि जो कुछ हो वह दे दो। दासी ने लकड़ी की कलछी (दारुहस्तक) से कुलमाष (राजमाष) लिया और भगवान् ने उससे ही चातुर्मास-तप का पारणा किया।

१–अ–त्रिषष्टिशलाका, पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक २४२, पत्र५३–१
आ–महावीर चरियं नेमिचन्द्र-रचित, श्लोक ४३, पत्र ४८–२।

जीर्ण सेठ को जब यह सब बात मालूम हुई कि, भगवान् ने अन्य पारणा कर लिया, तब उसे बड़ी निराशा हुई और अभिनव सेठ के भाग्य की, जहाँ भगवान् ने आहार लिया था भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। चतुर्मास समाप्त होते ही, भगवान् ने वैशाली से सुंसुमारपुर की ओर विहार किया।

बारहवाँ वर्षावास

भगवान् ने ग्यारहवाँ चातुर्मास वैशाली नगरी में बिताया। यहाँ भूतानन्द[१] ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया कि थोड़े समय में आपको केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति होगी। वहाँ से प्रभु सुंसुमार-नामक नगर की ओर गये। वहाँ चमरेन्द्र का उत्पात[२] हुआ। उसकी कथा भगवती-सूत्र में निम्नलिखित रूप में आयी है।

१—जैन-साहित्य में ६४ प्रकार के इन्द्र वर्णित हैं। २० इन्द्र भवनपति के, ३२ व्यन्तर के, २ ज्योतिष्क के और १० वैमानिक के। भवनपति के इन्द्र निम्नलिखित हैं :—

प्रथम भवनपति के—१ चमर और २ बलि असुरकुमारेन्द्र हैं; द्वितीय के ३ धरण और ४ भूतानन्द नागकुमारेन्द्र हैं। तृतीय भवनपति के—५ वेणु और ६ वेणुदारी सुपर्णकुमारेन्द्र हैं चतुर्थ भवनपति के ७ हरि और ८ हरिसह विद्युत्कुमारेन्द्र हैं; पंचम भवनपति के—९ अग्निशिख और १० अग्निमाणव अग्निकुमारेन्द्र हैं; षष्ठम् भवनपति के—११ पूर्ण और १२ वासिष्ठ दीपकुमारेन्द्र हैं; सप्तम् भवनपति के—१३ जलकान्त और १४ जलप्रभ उदधिकुमारेन्द्र हैं; अष्टम भवनपति के—१५ अमितगति और १६ अमित-वाहन दिशाकुमारेन्द्र हैं। नवम भवनपति के—१७ वेलम्ब और १८ प्रभंजन

"हे गौतम, उस काल में, उस समय में, मैं छद्मस्थ अवस्था में था और मुझे दीक्षा लिये ११ वर्ष बीत चुके थे। मैं निरन्तर छट्ठ-छट्ठ के तप कर्म-पूर्वक तथा संयम और तपश्चर्यापूर्वक आत्म-भावना-युक्त अनुक्रम से, विहार

(पृष्ठ २३० की पादटिप्पणि का शेषांश)

वातकुमारेन्द्र हैं तथा दशम भवनपति के—१९ घोष और २० महाघोष स्तनितकुमारेन्द्र हैं।

व्यन्तर के निम्नलिखित इन्द्र हैं :—१ काल और २ महाकाल पिचाचेन्द्र हैं। ३ सुरूप और ४ प्रतिरूप भूतेन्द्र हैं। ५ पूर्णभद्र और ६ मणिभद्र यक्षेन्द्र हैं। ७ भीम और ८ महाभीम राक्षसेन्द्र हैं। ९ किन्नर और १० किंपुरुष किन्नरेन्द्र हैं। ११ सत्पुरुष और १२ महापुरुष किंपुरुषेन्द्र हैं। १३ अतिकाय और १४ महाकाय महोरगेन्द्र हैं। १५ गीतरति और १६ गीतयश गन्धर्वेन्द्र हैं।

व्यन्तर विशेष—१ सन्निहित और २ सामान्य अणपण्णेन्द्र हैं। ३ धात और ४ विहात पणपण्णेन्द्र हैं। ५ ऋषि और ६ ऋषिपालक ऋषिवादीन्द्र हैं। ७ ईश्वर और ८ महेश्वर भूतवातीन्द्र हैं। ९ सुवत्स और १० विशाल क्रन्दितेन्द्र हैं। ११ हास्य और १२ हास्यरति महाक्रन्दितेन्द्र हैं। १३ श्वेत और १४ महाश्वेत कुंभाडेन्द्र हैं। १५ पतय और १६ पतयपति पतयेन्द्र हैं।

ज्योतिष्क—१ चन्द्र और २ सूर्य ये दो ज्योतिष्केन्द्र हैं।

वैमानिक—सौधर्म देवलोक के इन्द्र—१ शक्र। ईशान देवलोक के—२ ईशानेन्द्र, सनत्कुमार देवलोक के—३ सनत्कुमार हैं, माहेन्द्र देवलोक के ४ महेन्द्र, ब्रह्मदेवलोक के—५ ब्रह्मलोकेन्द्र, लांतक देवलोक के—६ लांतकेन्द्र, महाशुक्र देवलोक के—७ महाशुक्रेन्द्र, सहस्रार देवलोक के—८ सहस्रारेन्द्र, आनत-प्राणत देवलोक के प्राणतेन्द्र और आरण-अच्युत देवलोक के अच्युतेन्द्र हैं।

—स्थानांग सूत्र ९४, पत्र

करते गाँव-गाँव फिरते हुए, जिस ओर सुंसुमारपुर नगर है, जिस ओर अशोक वन खंड है, जिस ओर उत्तम अशोक के वृक्ष हैं, जिस ओर पृथ्वी शिला-पट्टक[२] है, उस ओर आया। उसके बाद अशोक के उत्तम वृक्ष के नीचे, पृथ्वी शिलापट्टक पर अट्ठम (तीन उपवास) तप प्रारम्भ किया। मैंने दोनों पैर मिला (साहट्टु) करके हाथों को नीचे की ओर लम्बे कर,[३] एक पुद्गल पर (निर्निमेष) दृष्टि स्थिर करके, शरीर के अंगों को स्थिर करके शरीर के अंगों को यथास्थित रख कर, सभी इंद्रियों से गुप्त, एक रात्रि की मोटी प्रतिमा स्वीकार की।

"उस काल में उस समय में चमरचंचा राजधानी में इन्द्र नहीं था और पुरोहित नहीं था। उस समय पूरण नाम का बाल-तपस्वी १२ वर्ष पर्याय

१—यह सुंसुमारगिरि प्रतीत होता है। भग्ग (भंगी) देश की राजधानी थी। भग्ग देश वैशाली और सावत्थी के बीच में ही था। इसका वर्तमान नाम चुनार है।

२—मूसरा शिलायाम—आ० म० १ अ० (चिकनी चट्टान)

३—चत्तारि अंगुलाइं पुरओ ऊणाइं जत्थ पच्छिमओ।
पायाणं उस्सग्गे एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥
—प्रवचन सारोद्धार सटीक, १, ७५, पत्र १२-२

इस पर टीका करते हुए नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है—
एषा पुनर्भवति जिनमुद्रा यत्र पादपोरुत्सर्गेऽन्तरं भवति। चत्वार्यंगुलानि पुरतः अग्रभागे न्यूनानि च तानि पश्चिम भागे इति ॥
—वही, पत्र १५-२

जिनमुद्रा—जिसमें पैर के अग्रभाग में चार अंगुल और पीछे भी और चार अंगुल से कुछ कम अंतर रख करके, दोनों पैरों को समान रखकर खड़े होकर, दोनों हाथों को नीचे लटका कर रखा जाता है।
—धर्मसंग्रह (गुजराती भाषानुवाद) भाग १, पृष्ठ ३८६।

जिनमुद्रा का यही विवरण 'विधिमार्गप्रपा' (पृष्ठ ११९) आदि ग्रन्थों में भी मिलता है।

पाल मासिक संलेखना से आत्मा का ध्यान करता साठ समय (तीस दिन) अनशन कर मृत्यु को प्राप्त करके चमरचंचा राजधानी की उपपात सभा में इन्द्र रूप में उत्पन्न हुआ[४]। उस समय तुरत पैदा हुए असुरेन्द्र असुरराज ने पाँच प्रकार की पर्याप्तियों को प्राप्त करने के बाद, अवधि-ज्ञान से स्वाभाविक रीति से सौधर्मावतंसक नाम के विमान में शक्र नामक के सिंहासन पर बैठकर इन्द्र को दिव्य और भोग्य भोगों को भोगते हुए देखा। उसको इस प्रकार भोगों को भोगते देखकर चमरेन्द्र के मन में विचार हुआ—"यह मृत्यु को

४—देवताओं के जन्म के सम्बन्ध में बृहत्संग्रहणी सूत्र (पृष्ठ ४१८) में आता है।

अंतमुहुत्तेणं चिय पज्जत्तातरुणपुरिससंकासा।
सव्वभूसणधरा अजरा निरुआ समा देवा ॥१६०॥

इस पर विशेषार्थ देते हुए गुजराती भाषानुवाद में लिखा है—

"देव-देवी देवशैया में उत्पन्न होते हैं।...उत्पन्न होने के स्थान पर देव-दूष्य (वस्त्र) से आच्छादित विवृत योनि एक देवशैय्या होती है।... देवगति में उत्पन्न होनेवाला जीव एक क्षण में उपपात सभा में देवदूष्य वस्त्र के नीचे अंगुल के असंख्यातवें भाग में उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने के साथ ही आहारादिक पाँच पर्याप्तियाँ एक ही मुहूर्त में प्राप्त करने के बाद वे पूर्ण पर्याप्तिवाले हो जाते हैं।...और, ३२ वर्ष का व्यक्ति जिस प्रकार भोगों को भोगने के योग्य होता है, वैसे ही तरुण अवस्थावाले होते हैं।

—बृहत्संग्रहणी सूत्र (गुजराती भाषानुवाद सहित) पृष्ठ ४२०

५—पर्याप्तियाँ ६ हैं। प्रवचन सारोद्धार (सटीक, उत्तर भाग, पत्र ३८६–२) में आता है :—

आहार १, सरीरि २, दिय ३, पज्जति आणपाण ४, भास ५, मणे ६।
.... ॥१७॥

—आहार पर्याप्ति, २ शरीर पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ प्राणापान पर्याप्ति, ५ भाषा पर्याप्ति, ६ मनःपर्याप्ति।

चाहनेवाला,[1] बुरे लक्षणोंवाला लज्जा और शोभा-रहित (अपूर्ण) चतुर्दशी को जन्म लेने वाला, यह हीन-पुण्य कौन है? मेरे पास सब प्रकार की दिव्य देव-ऋद्धि प्राप्त होने पर भी, यह कौन है, जो मेरे ऊपर, मेरे सामने दिव्य भोगों को भोगता हुआ विचर रहा है।" ऐसा विचार करके चमरेन्द्र ने सामानिक सभा में उत्पन्न देवों को बुलाकर कहा—"हे देवों के प्रिय, यह मृत्यु का इच्छुक कौन है, जो इस प्रकार भोगों को भोग रहा है।" असुरेन्द्र चमर के इस प्रश्न को सुनकर उस सामानिक सभा में उत्पन्न हुए देवों को अत्यन्त हर्ष और तोष हुआ। वे दोनों हाथ जोड़ कर, दसों नख मिलाकर, चमरेन्द्र का जयजयकार करने लगे। फिर वे बोले—"हे देवताओं के प्रिय, ! यह देवराज शक्र भोगों को भोगता विचर रहा है।" उस सामानिक-सभा में उत्पन्न देवों के मुख से इस प्रकार सुनकर चमरेन्द्र बड़ा कुपित हुआ और उसने भयंकर आकृति बनाली क्रोध के वेग से काँपता हुआ वह चमरेन्द्र देवों से बोला—"हे देवों! देवेन्द्र शक्र दूसरा और असुरेन्द्र असुरराज चमर दूसरा है? देवेन्द्र देवराज शक्र बड़ी ऋद्धिवाला है, तो हे देवानुप्रियो मैं देवराज देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करूँगा।"

१—भगवती-सूत्र में यहाँ मूल शब्द है 'अपत्थियपत्थए,' इसका संस्कृत रूप है 'अप्रार्थितप्रार्थक।' 'अपत्थियपत्थए' शब्द का यही अर्थ आवश्यक की हरिभद्रीय टीका (पत्र १९२-१) में भी दिया है। पर, इसका अच्छा स्पष्टीकरण जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका वक्षस्कार ३, सूत्र ४५, पत्र २०२-१) में है। अप्रार्थित—केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावात् मरणं तस्य प्रार्थको—अभिलाषी, अयमर्थः—यो गयागद .युपुत्सुः स मुमूर्षरेवेति, दुरन्तानि। मनुष्य के लिए अप्रार्थित और प्रार्थित क्या है इस पर दशवैकालिक में प्रकाश डाला गया है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥
दशवैकालिक सूत्र सटीक अध्याय ६, गाथा २१९, पत्र १००

"ऐसा कहकर चमर गरम हुआ। अब उस असुरेन्द्र चमरेन्द्र ने अवधि-ज्ञान का प्रयोग किया। और, उस अवधिज्ञान से उसने मुझे (महावीर स्वामी को) देखा। इस प्रकार मुझको देखकर उसे संकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवंत महावीर जम्बूद्वीप नामके द्वीप में, भारतवर्ष में, सुंसुमारपुर नगर में, अशोकवनखंड-नामक उद्यान में, अशोकवृक्ष के नीचे, पृथ्वी-शिलापट्टक पर, अट्ठमतप करके, महाप्रतिमा स्वीकार करके विहार कर रहे हैं। मैं श्रवण भगवान् महावीर का आसरा लेकर देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से हीन करूंगा। वह (महावीर स्वामी) मेरे लिए कल्याण रूप होगें।

"ऐसा विचार करके चमरेन्द्र अपने शयन से उठकर देवदूष्य पहनकर उपपात सभा से पूर्व दिशा की ओर चला। फिर, जिस ओर सुधर्मा सभा है और जिस ओर चौपाल (चोप्पाल-चतुष्पाट) आयुधागार है, वहाँ गया और वहाँ से चमर ने फलिहयरण (परिघरत्न-लोहे की गदा) लिया। बिना किसी को साथ लिये, क्रोध में चमरचंचा राजधानी में से निकला और तिगिच्छकूट नामक उत्पात-पर्वत पर आया। वहाँ आकर उसने वैक्रिय समुद्घात किया और उत्तर वैक्रिय रूप बनाकर उत्कृष्ट गति से, जहाँ पृथ्वी शिलापट्टक था, जहाँ मैं था, वहाँ आया और तीन बार मेरी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करके इस प्रकार बोला—"हे भगवन्, आपकी शरण लेकर मैं स्वयं ही देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।"

"ऐसा करके वह चमरेन्द्र उत्तर-पूर्व के दिक्-भाग की ओर चला। वहाँ उसने वैक्रिय समुद्घात किया। वैसा करके उस चमर ने एक बड़ा घोर भयंकर एक लाख योजन ऊँचा काला शरीर बनाया। ऐसा रूप धारण करके चमर हाथ पटकता, कूदता, मेघ की तरह गरजता, सिंह की तरह दहाड़ता, उछलता, पिछड़ता। ऐसा करते, वह चमर परिघ को लेकर ऊँचे आकाश में उड़ा। वह चमरेन्द्र कहीं बिजली की तरह चमकता, और कहीं बरसात की तरह बरसता। ऊपर जाते हुए उसने वाणव्यंतर देवों में त्रास मचाया, ज्योतिष्कदेवों के दो भाग कर डाले और आत्मरक्षक देवों को

भगा दिया। परिघरत्न को आकाश में घुमाते हुए, असंख्य द्वीपों और समुद्रों में होकर, जहाँ सौधर्मावतंक नामक विमान है, जहाँ सुधर्मा सभा है, वहाँ आकर उसने एक पैर पद्मवर-वेदिका पर रखा और दूसरा पाँव सुधर्मा-सभा में रखा और परिघरत्न से बड़े-बड़े हुंकारपूर्वक उसने इन्द्रकील को तीन बार ठोंका। उसके बाद वह चमर इस प्रकार बोला—"देवेन्द्र देवराज शक्र कहाँ है ? वे चौरासी हजार सामानिकदेव कहाँ हैं ? वे करोड़ों अप्सराएं कहाँ है ? उन सब को आज नष्ट करता हूँ। तुम सब मेरे आधीन हो जाओ।" इसी प्रकार के कितने ही अशुभ वचन चमरेन्द्र ने कहे। चमरेन्द्र की बात सुनकर देवेन्द्र देवराज को क्रोध हुआ। क्रोध से देवराज के माथे में तीन रेखायें पड़ गयीं और उन्होंने चमरेन्द्र से इस प्रकार कहा—अरे चौदस के दिन जन्मा हीनपुण्य असुरेन्द्र असुरराज चमर तू आज ही मर जावेगा।' ऐसा कह कर वहीं उत्तम सिंहासन पर बैठे-बैठे उसने वज्र ग्रहण किया और उसे चमरेन्द्र पर छोड़ा। हजारों उल्काओं को छोड़ता हुआ, अग्नि से भी तेजस्वी, वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढ़ा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र ने सोचा कि, कहीं ऐसा ही अस्त्र मेरे पास भी होता तो कितना अच्छा होता। पर, वज्र तो आ ही रहा था। अतः वह पग को ऊँचा करके सिर को नीचा करके उत्कृष्ट गति से असंख्य द्वीपों और समुद्रों के बीच में होता हुआ, जिस ओर जम्बूद्वीप था, जिस ओर अशोक का वृक्ष था, जिस ओर मैं (महावीर स्वामी) था, वहाँ आया और रुँधे गले से बोला—"आप ही मेरे शरण हो।" ऐसा कहता हुआ वह दोनों पावों के बीच में गिर गया।

उस समय देवराज शक्रेंद्र को यह विचार हुआ कि, असुरेन्द्र केवल अपने बल से सौधर्मकल्प तक नहीं आ सकता। ऐसा विचार करके शक्र ने अवधि-ज्ञान से देखा और मुझे (महावीर स्वामी) देख लिया। मुझे देख कर वह अरे-अरे करता हुआ दिव्यगति देवगति से वज्र पकड़ने के लिए दौड़ा। असंख्य द्वीपों और समुद्रों को पार करता, शक्र उस स्थल पर आया, जहाँ मैं था और मेरे से चार अंगुल की दूरी पर स्थित वज्र को पकड़ लिया। शक्र ने वज्र को पकड़ कर मेरी तीन बार परिक्रमा की। और पूरी कथा कह कर

क्षमा माँगी।[1]

यहाँ से भगवान् भोगपुर[2] और नंदग्राम होते हुए मेंढियग्राम पधारे। यहाँ एक गोपालक ने भगवान् को कष्ट देने की चेष्टा की।

मेंढिय से आप कौशाम्बी गये और पौष वदि एकम के दिन भगवान् महावीर ने भिक्षा-सम्बन्धी यह घोर अभिग्रह[3] किया—"सिर से मुंडित, पैरों में बेड़ी, तीन दिन की उपवासी, पके हुए उड़द के वाकुल, सूप के कोने में लेकर भिक्षा का समय व्यतीत होने के बाद, द्वारके बीच में खड़ी हुई, दासी-पने को प्राप्त हुई और रोती हुई किसी राजकुमारी से भिक्षा मिले तो लेना अन्यथा नहीं।"

इस प्रकार की भीषण प्रतिज्ञा करके भगवान् महावीर प्रतिदिन कौशांबी[4] नगरी में भिक्षा के लिए निकलते थे; लेकिन भगवान् का अभिग्रह पूर्ण नहीं होता था और वे लौट जाते थे। ऐसे घूमते हुए चार महीने व्यतीत हो गये; लेकिन भगवान् का अभिग्रह पूरा नहीं हुआ। सारे नगर में चर्चा

१—भगवती सूत्र, शतक ३, उद्देसा २

२—बौद्धग्रंथों में इसे भोगनगर लिखा है। वैशाली से कुशीनारा वाले पड़ाव पर यह पाँचवाँ पड़ाव था।

३—"सामी य इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हति, चउव्विहंदव्वतो ४, दव्वतो कुंमासे सुप्पकोणेणं, खित्तओ एलुगं विक्खंभइत्ता कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जदि रायधूया दासत्तणं पत्ता णियलबद्धा मुंडिय-सिरा रोयमाणी अब्भत्तट्ठिया, एवं कप्पति, सेसं ण कप्पति, कालो य पोसबहुलपाडिवओ। एवं अभिग्गहं घेत्तूणं कोसंबीए अच्छति।"

—आवश्यकचूर्णि, भाग १, पत्र ३१६–३१७।

४—वत्स अथवा वंश की राजधानी थी। आजकल कोसम नाम से यह प्रसिद्ध है, जो इलाहाबाद से ३० या ३१ मील की दूरी पर यमुना के किनारे है। विशेष जानकारी के लिए देखिए 'ज्ञानोदय' वर्ष १ अंक ६-७ में प्रकाशित मेरा लेख कोशांबी)

फैल गयी कि भगवान् भिक्षा के लिए निकलते तो हैं; लेकिन बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

एक दिन आप कौशाम्बी के अमात्य सुगुप्त[1] के घर पधारे। अमात्य की पत्नी नन्दा श्राविका भक्तिपूर्वक भिक्षा देने आयी। लेकिन, भगवान् महावीर बिना कुछ लिए ही चले गये। नन्दा को बड़ा पश्चाताप हुआ। तब दासियों ने कहा—"ये देवार्य तो प्रतिदिन यहाँ आते हैं और बिना कुछ लिये ही चले जाते हैं।" तब नंदा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई कठिन अभिग्रह ले रखा है और उसी कारण से वे आहार-ग्रहण नहीं करते। नन्दा इससे बड़ी चिंतित हुई।

जब सुगुप्त घर पर आया और उसने नन्दा को उदास देखा तो उसने नन्दा से उदासी का कारण पूछा। नन्दा ने उत्तर दिया—"क्या आपको मालूम है कि भगवान् महावीर आज चार-चार महीनों से भिक्षा के लिए निकलते हैं और बिना कुछ लिये ही लौट जाते हैं? आपका यह प्रधानपद किस काम का कि चार महीने बीत जाने पर भी उनको भिक्षा न मिले और आपकी यह बुद्धिमत्ता किस काम की, अगर आप उनके अभिग्रह का पता न लगा सकें?" सुगुप्त ने अपनी पत्नी को आश्वासन दिया कि मैं ऐसा उपाय करूँगा कि वे भिक्षा ग्रहण कर लें।

जिस समय भगवान् के अभिग्रह की बात चल रही थी, उस समय विजया नाम की प्रतिहारी वहाँ खड़ी थी। उसने यह बात सुनकर महल में जाकर महारानी मृगावती से कही। रानी भी बड़ी दुःखित हुई और राजा से बोलीं—"भगवान् महावीर बिना भिक्षा के लिये, नगर से चार महीने से लौट जाते हैं। आपका राजत्व किस काम का कि आप उनके अभिग्रह का पता न लगा सकें।

राजा शतानीक ने रानी को शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्था करने का आश्वासन दिया। राजा ने तथ्यवादी नामक उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात

१—आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३१६।

पूछी। पर, तथ्यवादी ने बताने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

फिर, राजा ने सुगुप्त नामक मन्त्री से पूछा। सुगुप्त ने कहा—"महाराज अभिग्रह के अनेक प्रकार होते हैं; लेकिन किसके मन का क्या अभिप्राय है, यह बताना कठिन है।" उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अभिग्रह तथा सात पिंडैषणा पानैषणाओं का निरूपण करके साधुओं के आहार-पानी लेने-देने की रीतियों का वर्णन किया।

राजा शतानीक ने प्रजा को आहार-पानी देने की विधियों से अवगत करा दिया कि भगवान् महावीर के आने पर इस तरह आहार-पानी दिया जाये। प्रजा ने भी उसका पालन करके भगवान् को भिक्षा देने का प्रयास किया पर भगवान् ने भिक्षा नहीं ली और कोई भी भगवान् के आग्रह को भाँप न सका।

भगवान् के अभिगृह को छः महीने पूरे होने में केवल पाँच दिन ही शेष थे। भगवान् अपने नियम के अनुसार कौशाम्बी में भिक्षा के लिए घूमते हुए धनावह नामक श्रेष्ठि के घर पर गये। यहाँ आपके अभिगृह पूर्ण होने में कुछ न्यूनता रही। अतः, भगवान् वापस लौट रहे थे कि चन्दना की आँखों में में अश्रु बह उठे। भगवान् ने अपना अभिग्रह सम्पूर्ण हुआ जान कर, राजकुमारी चन्दना के हाथसे भिक्षा ग्रहण की।

उस चन्दना की कथा इस प्रकार है—"चम्पा-नगरी में दधिवाहन-नामक राजा राज्य कर रहा था। उसको धारिणी-नामकी रानी और वसुमती-नामकी पुत्री थी। किसी-कारण से कौशाम्बी के राजा शतानिक ने एक ही रात[1] में नाव द्वारा सेना ले जाकर चम्पा को घेर लिया। चम्पा का राजा

१—"इओ य सयाणिओ चंपं पधाविओ दहिवाहणं गेण्हामित्ति, णावा कडएण गतो एगाए रत्ती ए, अचिंतिया चेव णगरी वेढिया, तत्थ दधिवाहणो पलात्तो।" आवश्यक चूर्णि भाग-१ पृष्ठ ३१८

कौटिल्य-अर्थशास्त्र की टीका में 'रात्रि' से दिन-रात लेने को लिखा है। (देखिए-कौटिल्य अर्थशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ६७ की पाद-टिप्पणि २) 'रात्रि' का अर्थ दिन-रात भी होता है, यह आप्टे की संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरी, भाग ३, पृष्ठ १३३७ पर दिया गया है। उनमें महाभारत आदि के प्रमाण भी दिये हैं।

दधिवाहन भयभीत होकर भाग गया। शतानीक के सैनिकों ने अपनी इच्छानुसार चम्पा नगरी लूटी। एक ऊँट-सवार धारिणी और वसुमती को लेकर भागा।

शतानीक विजयी होकर कौशाम्बी लौट कर आया। धारिणी के रूप पर, मोहित होकर सुभट ने उससे विवाह करने की बात की। शील की रक्षा के लिए धारिणी अपनी जिह्वा कुचल कर मर गयी। तब ऊँट-सवार ने वसुमति को कौशाम्बी लाकर धनावह सेठ के यहाँ बेच दिया। सेठ पुत्रीवत् वसुमती का पालन-पोषण करने लगा। उत्तम गुणों से युक्त और चन्दन-समान शीतल व्यवहार वाली होने से वह 'चन्दना' नाम से पुकारी जाने लगी।

कालान्तर में चंदना युवती हुई। उसकी रूप-राशि दिन-पर-दिन निखरने लगी। धनावह श्रेष्ठि की स्त्री मूला को उसे देख कर ईर्ष्या होने लगी। उसके मन में प्रायः यह विचार उठता—"यदि श्रेष्ठि इससे विवाह कर लें, तो मेरा क्या होगा ?"

एक दिन दोपहर को श्रेष्ठि घर आया। कोई नौकर उपस्थित नहीं था। चन्दना ने ही श्रेष्ठि का पैर धुलवाया।

उस समय उसका सुन्दर केशपाश जमीन पर लटकने लगा। उसका केशपाश कीचड़ में पड़ कर खराब न हो, इस विचार से श्रेष्ठि ने उसे उठा कर बाँध दिया। श्रेष्ठि की पत्नी मूला यह सब झरोखे से देख रही थी। अब उसे अपनी आशंका सत्य होती नजर आयी।

अतः जब श्रेष्ठि बाहर चला गया तो उसने नाई बुला कर उसके बाल मुँड़वा दिये। पाँव में बेड़ी डाल कर उसे एक कोठरी में बंद कर दिया और नौकरों को डाँट दिया कि कोई श्रेष्ठि से उसके संबंध में कुछ न बतावे।

सायंकाल को जब श्रेष्ठि घर आया और चन्दना नहीं दिखलायी पड़ी तो उसने नौकरों से चन्दना के बारे में पूछ-ताछ की। नौकरों ने उसे कुछ नहीं बताया। यह सोच कर कि चन्दना सो गयी होगी, श्रेष्ठि शांत रह गया।

दूसरे दिन भी श्रेष्ठि ने चन्दना को न देखा और न उसके संबंध में कुछ जानकारी ही प्राप्त कर सका। ऐसा ही तीसरे दिन भी हुआ। श्रेष्ठि का धैर्य टूट गया। उसने उस दिन जो नौकरों को फटकार बतायी, तो हिम्मत करके एक वृद्धा ने सारी बात सच-सच कह दी।

श्रेष्ठि ने कमरे का द्वार खोला। चंदना की दारुण दशा देख कर उसकी आँखों में आँसू आ गये। चंदना को भोजन देने के लिए, श्रेष्ठि स्वयं रसोई-घर में गया; लेकिन उस समय एक सूप में उबाला कुल्माप पड़ा था। उसे चंदना को देकर, वह बेड़ी काटने के लिए लुहार बुलाने चला गया।

चंदना उस उड़द के बाकुल को लेकर खड़ी-खड़ी विचारों में लीन थी। और, अपने अतीत के बारे में विचार कर रही थी। इसी समय उसके मन में विचार उठा कि मुझे तीन दिन का उपवास हो चुका है, यदि कोई अतिथि दिखलायी पड़े, तो उसे दान देकर पारणा करूँ। इस विचार से उसने द्वार की ओर जो दृष्टि डाली, तो भगवान् महावीर को आते देखा। हर्षातिरेक से उसने भगवान् से प्रार्थना की—"इस प्रासुक अन्न को ग्रहण करके मेरी भावना पूर्ण करें।" लेकिन, अभी भा अपने अभिग्रह में कमी देख कर भगवान् लौट रहे थे कि, निराशा से चंदना की आँखों में आँसू आ गये। अब भगवान् का अभिगृह पूरा हो गया और चंदना के हाथों से भगवान् ने छः महीने में पाँच दिन शेष रहने पर पारणा किया। उस समय आकाश में देवदुंदुभी बज उठी। पंचदिव्य प्रगट हुए और चंदना का रूप पहले से भी अधिक चमक उठा। और, सर्वत्र उसके शील की ख्याति फैल गयी।

उस समय राजा शतानीक भी वहाँ आये और पूछा कि यह सब किसके पुण्य से हो रहा है। इस पर उसकी पत्नी मृगावती चंदना को लक्ष्य करके बोली—"यह मेरी बहन' की लड़की है।' (आवश्यक हारिभद्रीय टीका, पत्र २२५-१)

आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्र १६४ में आता है—"वेसालिए नगरीए चेडओ राया हेहयकुल संभूतो, तस्स देवीणं अन्नमण्णाणं सत्त

कालान्तर में यह चन्दना भगवान् की प्रथम साध्वी हुई और निरतिचार चारित्रधर्म का पालन करके मोक्ष को गयी।

कौशाम्बी से सुमंगल, सुच्छेता, पालक आदि गामों में होते हुए, भगवान् चम्पा नगरी में पहुँचे और चातुर्मासिक तप करके वहीं स्वातिदत्त नामक ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवाँ चौमासा किया।

पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो यक्ष भगवान् की तपश्चर्या से आकृष्ट होकर रात को आकर आपकी सेवा करते रहे। यह देखकर स्वातिदत्त को विचार[1] हुआ कि क्या यह देवार्य इस बात को जानते हैं कि प्रत्येक रात को देव उनकी पूजा करते हैं। ऐसा विचार कर जिज्ञासु स्वातिदत्त, ब्राह्मण ने भगवान् के निकट जाकर उनसे पूछा—"शिर आदि सभी अंगों से युक्त इस

१—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१० पत्र ६२-२

(पृष्ठ २४१ की पादटिप्पणि का शेषांश)

धूताओ–१ पभावती, २ पउमावती, ३ मिगावती, ४ सिवा, ५, जेट्ठा, ६ सुजेट्ठा, ७ चेल्लण्णात्ति...१ प्रभावती वीतिभए उदायणस्स दिण्णा २ पउमावती चंपाए दहिवाहणस्स ३ मिगावती कोसंबीए सताणियस्स, ४ सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स ५ जेट्ठाकुंडग्गामे वद्धमाण सामिणो जेट्ठस्स नंदिवद्धणस्स, ६ सुजेट्ठा चेल्लणा य दो कण्णगाओ अच्छंति......

इससे स्पष्ट है कि पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को ब्याही थी। दधिवाहन ने किन्हीं कारणों से बाद में धारिणी से विवाह किया। इस धारिणी की ही पुत्री चंदना थी। उसका नाम पहले वसुमति था 'बहन की लड़की' है का स्पष्टीकरण करते हुए हारिभद्रीय टीका की टिप्पणि (पत्र २७-१) में कहा है—"किल मृगावत्या भगिनी पद्मावती दधिवाहनेन परिणीता धारिणीच पद्मावत्याः सपत्नीति कृत्वा धारिण्यपि मृगावत्या भगिन्येवेति 'भाव:', अर्थात् बहन की सौत होने से धारिणी भी बहन हुई।

देह में आत्मा कौन है ?"

भगवान्—"जो 'मैं' शब्द का वाच्यार्थ है, वही आत्मा है।"

स्वातिदत्त—'मैं' शब्द का वाचार्थ जिसे आप कहते हैं, वह क्या है ? मेरे संशय को दूर करें।"

महावीर—"शिर आदि सब से पूर्णतः भिन्न आत्मा सूक्ष्म है।"

स्वातिदत्त—"सूक्ष्म क्या है ?"

महावीर—"जिसे इंद्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती हैं, उसे सूक्ष्म कहते हैं ?"

स्वातिदत्त—"शब्द, गन्ध, अनिल वायु क्या हैं ?

महावीर—"ये नेत्र से देखे नहीं जाते है; लेकिन अन्य इन्द्रियों से इनकी उपलब्धि होती है। 'ग्रहण' शब्द 'इन्द्रिय' शब्द का दूसरा पर्याय है। इन्द्रिय को भी आत्मा नहीं कह सकते; क्योंकि वे ग्रहण करानेवाली हैं और आत्मा ग्रहण करने वाला होता है। इसलिए इन्द्रिय आत्मा नही है।"

स्वातिदत्त—"महाराज ! 'प्रदेशन' क्या है ?"

महावीव—'प्रदेशन' का अर्थ उपदेश होता है और वह दो प्रकार का है। धार्मिक प्रदेशन और अधार्मिक प्रदेशन !"

स्वातिदत्त—"महाराज ! 'प्रत्याख्यान' किसे कहते हैं ?"

महावोर—"प्रत्याख्यान का अर्थ है 'निषेध'। प्रत्याख्यान भी दो प्रकार का होता है। मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। आत्मा के दया, सत्यवादिता आदि मूल स्वाभाविक गुणों की रक्षा तथा हिंसा, असत्य-भाषण आदि वैभाविक प्रवृत्तियों के त्याग को मूलगुण प्रत्याख्यान कहते हैं। और, मूलगुणों के सहायक सदाचार के विरुद्ध आचरणों के त्याग का नाम है—उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

इस वार्तालाप से स्वातिदत्त को विश्वास हो गया कि भगवान् महावीर केवल तपस्वी ही नहीं बल्कि महाज्ञानी भी हैं।

चातुर्मास के बाद विहार करके भगवान् जंभिय[1] ग्राम पधारे।

१—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ३२१

तेरहवाँ चातुर्मास

जंभीय-ग्राम में कुछ समय रहने के बाद, भगवान् वहाँ से मेंढिय होते हुए छम्माणि[1] गये और गाँव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। रात के समय कोई गोपाल भगवान् के पास बैल रखकर गाँव में चला गया और जब वापस आया तो उसको वहाँ बैल नहीं मिले। उसने भगवान् से पूछा—'देवार्य ! मेरे बैल कहाँ गये ?' भगवान् मौन रहे। तब उस ग्वाले ने क्रुद्ध होकर काँस-नामकी घास की शलाकाएँ भगवान् के दोनों कानों में घुसेड़ दी। उन शलाकाओं को पत्थर से ऐसा ठोका कि अंदर दोनों शलाकाएँ मिल गयी। दोनों शलाकाओं के मिलने के बाद उसने बाहर की शलाकाएँ तोड़ दीं, ताकि कोई उनको देख न सके।

छम्माणि से भगवान् मध्यमा पावा[2] पधारे और भिक्षा के लिए घूमते हुए सिद्धार्थ नामक वणिक् के घर गये, सिद्धार्थ अपने मित्र खरक वैद्य से बातें कर रहा था। भगवान् को देखकर वह उठा और उसने सादर वंदना की।

१—मगध देश में था। बौद्ध-ग्रन्थों में इसका उल्लेख खानुमत नामसे हुआ है। (वीर-विहार-मीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ २८)

२—इस पावा के सम्बंध में मैंने अपनी पुस्तक 'वैशाली' (हिन्दी, द्वितीय आवृत्ति) के पृष्ठ ८५-८७ पर विस्तार के साथ विचार किया है। इसका आधुनिक नाम सठियांवडीह है।

खरक वैद्य धन्वन्तरि-वैद्य था। भगवान् की मुखाकृति देखते ही उसे पता चल गया कि भगवान् का शरीर सर्वलक्षणों से युक्त होने पर भी शल्ययुक्त है। सिद्धार्थ ने खरक से भगवान् के शरीर का शल्य देखने को कहा। खरक ने भगवान् के शरीर की परीक्षा की और कानों में कास की शलाकाएँ होने की बात कही। घोर तपस्वी भगवान् महावीर के शरीर की वेदना दूर होने से असीम पुण्य की प्राप्ति होगी, इस विचार से वैद्य और वणिक दोनों ही शलकाएँ निकालने को तैयार हुए; लेकिन भगवान् महावीर ने उनको मना किया। वे वहाँ से चले गये। और, गाँव के बाहर उद्यान में जाकर ध्यानारूढ़ हो गये। सिद्धार्थ और खरक वैद्य औषधि आदि के साथ भगवान् को ढूँढते-ढूँढते उद्यान में आये। उन्होंने भगवान् को तेल की द्रोणी में बिठाकर तेल की खूब मालिश की। और, संडसी (संडासएण) से पकड़ कर काँस की शलाकाएं कानों में से खींच कर निकाल दीं। रुधिर युक्त शलाकाएँ निकालते समय भगवान् के मुख से एक चीख निकल पड़ी। उससे सारा उद्यान और देवकुल भयंकर लगने लगा। शलाका निकालने के बाद संरोहण औषधि से उस घाव को भरकर वे भगवान् का वंदन करके चले गए।

भगवान् के कान में शलाका डालने वाला वह ग्वाला मर कर सातवें नर्क में गया और खरक तथा सिद्धार्थ देवलोक में गये। इस प्रकार भगवान् महावीर के तपस्या-काल में ग्वाले से ही उपसर्ग का प्रारम्भ हुआ था और ग्वाले से ही उपसर्गों का अन्त हुआ।

जघन्य उपसर्गों में सब से अधिक कठिन कठपूतना राक्षसी का शीत उपसर्ग था। मध्यम उपसर्गों में सब से ज्यादा कठिन संगमक का कालचक्र उपसर्ग था और उत्कृष्ट उपसर्गों में सब से ज्यादा कठिन कानों में से कीलों का निकालना था।[1]

१—सव्वेसु किर उवसग्गेसु दुव्विसहा कतरे?
कडपूयणासीयं कालचक्कं एतं चेव सल्लं कड्ढिज्जंतं,
अहवा जहन्नगाण उवरि कडपूयणासीतं,
मज्झिमाण काल चक्कं, उक्कोसगाण उवरिं सल्लुद्धरणं।
आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३२२

इस प्रकार भीषण उपसर्ग और घोर परिषद-सहन करते हुए नाना प्रकार के विविध तप और विविध आसनों द्वारा ध्यान करते हुए भगवान् को साढ़े बारह वर्ष से भी कुछ अधिक समय हो गया था।

इस साढ़े बारह वर्ष में भगवान् ने जो घोर तपश्चर्या की उसका विवरण इस प्रकार है।

तपस्या

ओमोयरियं[1] चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं ॥ १ ॥
संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च।
संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाय ॥ २ ॥
विरए गायधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।
सिसिरम्मि एगया भगवं छायाए झाइ आसी य ॥ ३ ॥
आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडए अभितावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

१—डाक्टर याकोबी ने इस सूत्र का अनुवाद करते हुए सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट (वाल्यूम २२, पृष्ठ ८५) में लिखा है 'द वेनेरेबुल वन वाज़ एबुल टु ऐब्सटेन फ्राम इंडलजेंस आव द फ्लेश...' और 'फ्लेश' पर पादटिप्पणि लगा कर 'ओमोदरिय' लिखा है। ओमोदरिय का अर्थ टीका, चूर्णि और कोष में जिस रूप में मिलता है, उन सब में से किसी से भी 'फ्लेश' शब्द का प्रयोग सिद्ध नहीं होता।

याणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मासे अजावयं भगवं।
पिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि॥ ५॥
वि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्था।
ओवरायं अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुञ्जे॥ ६॥
ट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं
वालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिंअपडिन्ने॥ ७॥
च्चा णं से महावीरे नोऽवि य पावगं सयमकासी।
न्नेहि वा ण कारित्था कीरंतंपि नाणुजाणित्था॥ ८॥
ामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
विसुद्धमेसिया भगवं आयतजोगयाए सेवित्था॥ ९॥
दु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
ासेसणाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए॥ १०॥
दुवा माहणं च समणं वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा।
ोवाग मूसियारिं वा कुकुरं वावि विट्ठियं पुरओ॥ ११॥
वित्तिच्छेयं वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
न्दं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था॥ १२॥
अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिण्डं पुराण कुम्मासं।
अदु बुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिण्डे अलद्धे दविए॥ १३॥
अवि झाइ से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने॥ १४॥
अकसाई-विगतगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाइ।
छउमत्थो कि परक्कमाणे न पमायं[1] सइंपि कुव्वित्था॥ १५॥

१—'पमायं' शब्द पर 'आचाराङ्ग सूत्र चूर्णि' में आता है—'छउमत्थोवि परक्कममाणो' छउमत्थकाले विहरंतेणं भगवता जयंतेणं घुवंतेणं परक्कमं तेणं ण कयाइ पमाओ कयतो, अविसद्दा णवरं एक्कसि एक्को यंतोमुहुत्तं अट्ठियगामे सयमेव अभिसमागम्म।

सयमेव अभिसमागम्म आयत जो गमाय सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ॥ १६ ॥

एस विही अगुक्कन्तो माहरोण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ति ॥ १७ ॥

(—भागवान् निरोग होने पर भी अल्प भोजन करते थे। रोग न होने पर या होने पर वे भगवान् चिकित्सा की अभिलाषा नहीं करते थे ॥ १ ॥

विरेचन, वमन, शरीर पर तेल मर्दन करना, स्नान करना, हाथ-पैर आदि दबवाना, और दाँत साफ करना आदि-पूर्ण शरीर को ही अशुचिमय जानकर —उन्हें नहीं कल्पता था ॥ २ ॥

वे महान् ! इन्द्रियों के धर्मों से—विषयों से—पराङ्मुख थे, अल्पभाषी होकर विचरते थे। कभी भगवान् शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे ॥ ३ ॥

ग्रीष्म ऋतु में ताप के सामने उत्कट आदि आसन से बैठते, आतापना लेते, और रुक्ष (स्नेहरहित) चावल, बेर का चूर्ण और कुल्माष (नीरस) आहार से निर्वाह करते। चावल, बेर-चूर्ण और कुल्माष इन तीनों का ही सेवन करके, भगवान् ने आठ मास व्यतीत किये। कभी भगवान् पंद्रह-पंद्रह दिन और महीने-महीने तक जल भी नहीं पीते थे।

कभी दो-दो महीने से अधिक छः-छः महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात-दिन निरीह होकर विचरते थे। और, कभी-कभी पारणे के दिन नीरस आहार काम में लाते थे ॥ ६ ॥

वे कभी दो दिन के बाद खाते अथवा तीन-तीन दिन बाद, चार-चार

(पृष्ठ २४७ की पादटिप्पणि का शेषांश)

—*आचारांगचूर्णिः जिनदासगणिवर्य विहिता*, (रतलाम) पत्र ३२४।

इससे स्पष्ट है कि, पूरे छद्मस्थ काल में भगवान् महावीर को हस्तिग्राम में एक मुहूर्त रात्रि शेष रहने पर निद्रा आ गयी थी (देखिये पृष्ठ १७१)

दिन बाद, कभी पाँच-पाँच दिन बाद निरासक्त होकर शरीर-समाधि का विचार कर आहार करते थे ॥ ७ ॥

हेय-उपादेय को जानकर उन महावीर ने स्वयं पापकर्म नहीं किया। अन्य से नहीं कराया और करते हुए का अनुमोदन नहीं किया ॥ ८ ॥

ग्राम अथवा नगर में प्रवेश करके, दूसरों के लिए बनाये हुए आहार की गवेषणा करते। निर्दोष आहार प्राप्त कर भगवान् मन-वचन-काया को संयत करके सेवन करते थे ॥ ९ ॥

अगर भूख से व्याकुल कौए, अन्य पानाभिलाषी प्राणी जो आहार की अभिलाषा में बैठे हैं और सतत भूमि पर पड़े हुए देख कर अथवा ब्राह्मण को, श्रमण को,[1] भिखारी को, अतिथि को, चाण्डाल को, बिल्ली को, और कुत्ते को सामने स्थित देख कर, उनकी वृत्ति में अंतराय न डालते हुए उनकी अप्रीति के कारण को छोड़ते हुए उनको थोड़ा भी त्रास न देते हुए भगवान् मंद-मंद चलते और आहार की गवेषणा करते। १०-११-१२ ॥

मिला हुआ आहार चाहे आर्द्र हो अथवा सूखा हो, चाहे ठंडा हो, चाहे पुराने कुम्मास (राजमाष) हों, अथवा मूँग इत्यादि का छिलका हो, चना बोल आदि का असार भाग हो, आहार के मिलने पर और न मिलने पर भगवान् समभाव रखते थे ॥ १३ ॥

वह महावीर भगवान् उत्कट् गोदोहिकादि आसन से स्थित होकर स्थिर या निर्विकार होकर अंतःकरण की शुद्धता का विचार कर, कामनारहित होकर ध्यान ध्याते थे, ध्यान में उर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक-लोक के स्वरूप का विचार करते थे ॥ १४ ॥

कषायरहित, आसक्ति-रहित शब्द और रूप में आसक्त न होकर, ध्यान करते थे। छद्मस्थ होते हुए भी, उन्होंने संयम में पराक्रम करते हुए एक बार भी प्रमाद नहीं किया ॥ १५ ॥

१—श्रमणों पाँच के नाम बताये गये हैं :—

निग्गंथ १ सक्क २ तापस ३ गेरुय ४ आजीव ५ पंचहा समणा।

—प्रवचन सारोद्धार सटीक, पूर्वार्द्ध पत्र २१२-२

स्वयं ही तत्व को जानकर आत्मशुद्धि के द्वारा योगों को संयत करके कषायों से अतीत हुए, मायारहित हुए, भगवान् यावज्जीवन समितियों से समित थे ॥ १६ ॥

महान् मतिमान भगवान् महावीर ने (अप्रतिज्ञ) कामनारहित इस प्रकार आचरण का पालन अनेक प्रकार से किया। (मुमुक्षु साधु भी) इसी नियम का पालन करें॥ १७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

आवश्यक-निर्युक्ति में भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन इस रूप में है :—

जो अ तवो अणुचिन्नो वीरवरेणं महाणुभावेणं।
छउमत्थकालियाए अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

नव किर चउम्मासे छ क्किर दो मासिए ओवासीअ।
बारस य मासियाइं बावत्तरि अद्धमासाइं ॥ २ ॥

इक्कं किर छम्मासं दो किर तेमासिए उवासीअ।
अड्ढाइज्जाइं दुवे दो चेवरदिवड्ढमासाइं ॥ ३ ॥

भद्दं च महाभद्दं पडिमं तत्तो अ सव्वओ भद्दं।
दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी यमणुवद्धं ॥ ४ ॥

गोअरमभिग्गहजुअं खमणं छम्मासिअं च कासी अ।
पंच दिवसे हिं ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए ॥ ५ ॥

दस दो किर महप्पा ठाइ, मुणी एगराइयं पडिमं।
अट्ठमभत्तेण जई इक्किक्कं चरमराई अं ॥ ६ ॥

दो चेव य च्छट्ठसए अउणातीसे उवासिओ भयवं।
न कयाइ निच्चभत्तं चउत्थभत्तं च से आसि ॥ ७ ॥

बारस वासे अहिए छठं भत्तं जहन्नयं आसि।
सव्वं च तवो कम्मं अपाणयं आसि वीरस्स ॥ ८ ॥

तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो ।
उक्कुडु अनिसिर्ज्जाए ठिय पडिमाणं सए बहुए ॥ ९ ॥

पव्वज्जाए दिवसं पढमं इत्थं तु पक्खिवित्ता णं ।
संकलियम्मि उ संते जं लद्धं तं निसामेह ॥ १० ॥

बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो अ ।
वीरवरस्स भगवओ एसो छउमत्थ परियाओ ॥ ११ ॥'

आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ १००, १०१.

छः मासी तप	१
५ दिन कम छः मासी	१
चउमासी	९
त्रिमासी	२
ढाईमासी	२
दो मासी	६
डेढ़ मासी	२
मास खमण	१२
पक्ष खमण	७२
भद्र प्रतिमा २ दिन	१
महाभद्र प्रतिमा ४ दिन	१
सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन	१

भगवान् की तपस्या का विवरण नेमिचंद्र सूरि-रचित 'महावीर-चरियं' गाथा १३५८-१३६५ पत्र ५८-१; हेमचन्द्राचार्य-रचित 'त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र', पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६५२-६५७ पत्र ६४-२; गुणचन्द्र गणि विरचित 'महावीर-चरियं' पत्र २५-२ में भी मिलता है।

आवश्यक की हारिभद्रीय टीका २२७-२ से २२९-१ और मलयगिरि की टीका पत्र २९८-२ से ३००-२ तक आवश्यक-निर्युक्ति-दीपिका प्रथम भाग पत्र १०७-१ से १०८ पत्र में यही विवरण है।

छट्ठ	२२६
अट्ठम	१२
पारणा के दिन	३४६
दीक्षा का दिन	१

इस १२ वर्ष ६ मास १५ दिन की तपश्चर्या में, भगवान् ने केवल ३५० दिन (पारणे के दिन) भोजन किया और शेष दिन भगवान् ने निर्जल उपवास किये।

केवल-ज्ञान

जब भगवान् की तपस्या का १३-वाँ वर्ष चल रहा था तो मध्यम पावा के उद्यान से विहार करते हुए, भगवान् जंभियग्राम पधारे। यहाँ ग्रीष्म-काल के दूसरे महीने में, चौथे पक्ष में, वैशाख शुक्ल १० के दिन, पूर्व दिशा की ओर छाया जाने पर, पिछली पोरसी के समय (चौथे प्रहर में), सुव्रत (रवि-वार) नामक दिन में, विजय नामक मुहूर्त में, जंभिय ग्राम के बाहर उज्जु-वालुया (ऋजुबालुका) नामक नदी के उत्तर[1] तट पर, एक जीर्ण-शीर्ण[2] चैत्य से न बहुत निकट और न बहुत दूर, श्यामक नाम के कौटुम्बिक के खेत में शाल वृक्ष के नीचे, गोदोहिका आसन (जैसे बैठकर गाय दुही जाती है, वह आसन) में बैठे हुए, आतापना लेते हुए, छट्ठ की निर्जला तपस्या करते हुए, चन्द्रमा के साथ उत्तरा-फाल्गुनी का योग आ जाने पर, ध्यानान्तर में वर्तमान (अर्थात् शुक्ल ध्यान के चार भेदों—१ पृथक्त्व वितर्क वाला सवि-

---

१—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३२२

२—आवश्यक निर्युक्ति (पृष्ठ १०० गाथा ६९) में 'वियावत्त' शब्द आया है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्र सूरि ने लिखा है (पत्र २२७–२)—'वियावत्तस्य चेइयस्स अदूरसामंते वियावत्तं नाम अव्यक्तमित्यर्थः भिन्नपडियं अपाडगं' इस पर टिप्पणि (पत्र २८–१) में लिखा है—'वेयावत्तं' चैत्य-मिति कोऽर्थं इत्याह—'अव्यक्त' मिति जीर्ण पतितप्रायमनिर्द्धारितदेवता-विशेषाश्रयभूतमित्यर्थः।'

चार, २ एकत्व वितर्क वाला अविचार, ३ सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ४ उच्छिन्न क्रिया अप्रतिपात के) प्रथम दो भेदों वाले ध्यान को ध्याते हुए, प्रथम दो श्रेणियों को पार करके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिकर्मों के क्षय हो जाने पर, भगवान् को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन हुए।

इस प्रकार केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर, श्रमण भगवान् महावीर प्रभु अर्हन् हुए अर्थात् अशोक वृक्षादि प्रातिहार्य से पूजने योग्य हुए। राग-द्वेष को जीतनेवाले जिन हुए सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली हुए।

ऐसा नियम है कि जहाँ केवल-ज्ञान हो, वहाँ तीर्थंकर एक मुहूर्त तक ठहरते हैं। इस विचार से भगवान् महावीर वहीं एक मुहूर्त तक ठहरे रहे।[1]

जब भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, तो इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। महावीर स्वामी को केवल-ज्ञान हो गया, यह जानकर समस्त देवता अत्यंत, हर्षित हो, वहाँ आये और आनन्द में कोई कूदकर, कोई नाचकर, कोई हँसकर, कोई गाकर, कोई सिंह की तरह गरजकर, कोई नाना प्रकार के नाद कर, उत्सव मनाने लगे और उनकी स्तुति करने लगे। देवताओं ने वहाँ समोसरण की रचना की। यह जानकर कि, यहाँ उपस्थित लोगों में कोई सर्व विरति के योग्य नहीं है, महावीर स्वामी ने एक क्षण तक देशना दिया।[2]

भगवान् की देशना का उन देवताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यह बात जैन-साहित्य में आश्चर्य-रूप में गिनी गयी है।[3]

१—आवश्यक टीका मलयगिरि कृत, प्रथम भाग, पत्र ३००–१।

२—नेमिचन्द्र-रचित महावीर-चरियं पत्र ५६, गाथा ८६।
गुणचन्द्र-रचित-महावीर-चरियं गाथा ५, पत्र २५१–१।
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १०, सर्ग ५, श्लोक १०, पत्र ६४।

३—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ६४।

卐

भगवान् महावीर स्वामी

गणधरवाद्

उस समय मध्यम पावापुरी में वड़ा विशाल धार्मिक आयोजन चल रहा था। आर्य सोमिल नामक ब्राह्मण यहाँ बड़ा भारी यज्ञ करा रहा था। इस यज्ञ में भाग लेने के लिए स्थान-स्थान से विद्वान वहाँ पहुँचे थे। धार्मिक उपदेश का सब से उत्तम अवसर जानकर, भगवान् रात भर में १२ योजन का विहार करके मध्यम पावापुरी पहुँचे और वहाँ ग्राम से बाहर महासेन-नामक[1] उद्यान में ठहरे।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति ये तीनों भाई विद्वान आये थे। ये १४ विद्याओं[2] में पारंगत थे। पर, इन्द्रभूति को जीव के सम्बन्ध मे, अग्निभूति को कर्म के संबन्ध में और वायुभूति को वही जीव और वही शरीर के सम्बन्ध मे शंका थी। उन तीनों में प्रत्येक के साथ पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। इनका गोत्र गौतम था और ये तीनों मगध देश में स्थित गोर्वर गाँव के रहने वाले थे।

---

(१) स्कंदः स्वामी महासेनः सेनानीः शिखिवाहनः।
पाण्मातुरो ब्रह्मचारी गंगोमाकृत्तिका सुतः॥
द्वादशाक्षो महातेजाः कुमारः षण्मुखो गुहः।
विशाखः शक्तिभृत क्रौञ्चतारिः शराग्निनभूः॥
अभिधान चिंतामणि, कांड २, श्लोक १२२-१२३, पृष्ठ ८८। महासेन स्कंद का नाम है। महावीर के काल में उनकी भी पूजा होती थी।

(२) (अ) पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानांधर्मस्य च चतुर्दश॥
—याज्ञवल्क्य स्मृति, अ० १, श्लोक ३, पृष्ठ २

(आ) अङ्गानिवेदाश्चत्वारोमीमांसा न्याय विस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्येताश्चतुर्दश॥
—विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय ६, श्लोक २८ (गोरखपुर), पृष्ठ २२२

(इ) षडंगमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकं।
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश॥
—आप्टे की संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, भाग २, पृष्ठ ६६४

उन्हीं भाइयों के समान ख्याति वाले व्यक्त और सुधर्मा नामक दो विद्वान कोल्लाग-सन्निवेश के रहने वाले थे। उनको भी पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। व्यक्त का गोत्र भारद्वाज था और सुधर्मा का अग्नि-वैश्यायन। व्यक्त को पंचभूतों के सम्बन्ध में और सुधर्मा को 'जैसा है, वैसा ही होता है' के सम्बन्ध में शंका थी।

उसी सभा में मंडिक और मौर्यपुत्र नामक दो विद्वान मौर्यसन्निवेश से आये थे। मंडिक वासिष्ठ गोत्र के थे और मौर्य काश्यप गोत्र के थे। मंडिक को बंधमोक्ष और मौर्य को देवों के सम्बन्ध में शंका थी। इन दोनों विद्वानों को ३५० शिष्य थे।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास नाम के चार अन्य विद्वान भी आये थे। उनमें से हर का शिष्य-परिवार ३०० शिष्यों का था। अकम्पित को नारकी के सम्बन्ध में, अचलभ्राता को पुण्य के सम्बन्ध में, मेतार्य को परलोक के सम्बन्ध में और प्रभास को आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध में शंका थी। अकम्पित मिथिला के थे और उनका गोत्र गौतम था। अचलभ्राता कोशल के थे, उनका गोत्र हारित था। मेतार्य कौशाम्बी के निकट स्थित तुंगिक के थे। उनका गोत्र कौडिन्य था। और, प्रभास राजगृह के थे। उनका भी गोत्र कौडिन्य था।

इस प्रकार उस वृहद् आयोजन में आये ग्यारहों विद्वानों को एक-एक विषय में सन्देह था। पर, अपनी मर्यादा को ध्यान में रखकर वे अपनी शंका किसी से प्रकट नहीं करते थे।

पावापुरी के जिस उद्यान में भगवान् का समवसरण हुआ, वहाँ जाने के लिए लोगों में होड़-सी लग गयी थी। वृहद् मानव-समुदाय को ही कौन कहे, देवगण भी उधर जा रहे थे। उसी समय भगवान् का द्वितीय समवसरण हुआ। उस समवसरण में प्रभु ने कहा—

"यह अपार संसार-सागर दारुण है। जिस प्रकार वृक्ष का कारण बीज है, उसी प्रकार इसका कारण कर्म है। जिस प्रकार कुआँ खोदनेवाला व्यक्ति

ज्यों-ज्यों कुआँ खोदता जाता है, त्यों-त्यों नीचे जाता रहता है, उसी प्रकार अपने कर्म से विवेकपरिवर्जित प्राणी अधोगति को प्राप्त होता है और अपने ही कर्म से महल बनानेवाले के समान मानव ऊर्ध्व गति भी प्राप्त करता है। कर्म के बन्धन के कारण प्राणी प्राणातिपात (जीव-हिंसा) नहीं करता और अपने प्राण के समान दूसरों के प्राण की रक्षा करने में तत्पर रहता है। पर-पीड़ा को आत्म-पीड़ा के समान परिहरण करनेवाला व्यक्ति झूठ नहीं बोलता, सत्य बोलता है। मनुष्य के बहिः प्राण लेने के समान मनुष्य अदत्त द्रव्य नहीं लेता; क्योंकि अर्थ-हरण उसके वध के समान है। बहुजीवोपमर्दक मैथुन का सेवन नहीं करता। प्राज्ञ पुरुष परब्रह्म प्राप्ति के लिए, ब्रह्मचर्य धारण करते हैं। परिग्रह को धारण नहीं करना चाहिए; क्योंकि अधिक बोझ से दबे बैल के समान वह व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है। इस प्राणातिपात आदि के दो भेद हैं। जो उनमें सूक्ष्म का परित्याग (साधु-धर्म का पालन) नहीं कर करता, तो उसे सूक्ष्म के त्याग में अनुराग करके बादर का त्याग (श्रावक-धर्म का पालन) तो अवश्य करना चाहिए।[1]

देवगणों को देखकर पहले ब्राह्मणों के मन में विचार हुआ कि उनके यज्ञ के प्रभाव से देवगण वहाँ आये हैं। पर, देवताओं को यज्ञ-मंडप छोड़कर—जिधर महावीर स्वामी थे—उधर जाते देखकर ब्राह्मणों को दुःख हुआ। जब वहाँ यह समाचार पहुँचा कि वे देवतागण सर्वज्ञ भगवान् महावीर की वंदना करने वहाँ उपस्थित हुए हैं तो इन्द्रभूति के मन में विचार हुआ कि "मेरे सर्वज्ञ होते हुए यह दूसरा कौन सर्वज्ञ यहाँ आ उपस्थित हुआ। मूर्ख मनुष्य को तो ठगा जा सकता है; पर इसने तो देवताओं को भी ठग लिया। तभी तो ये देवगण मुझ-सरीखे सर्वज्ञ का त्याग करके उस नये सर्वज्ञ के पास जा रहे हैं।" फिर, इन्द्रभूति को स्वयं देवताओं पर ही शंका होने लगी। उसने सोचा—"सम्भव है, कि जैसा वह सर्वज्ञ हो, उसी प्रकार के ये देव भी हों। परन्तु, कुछ भी हो, जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती, उसी भाँति हम दो सर्वज्ञ भी नहीं रह सकते।"[1]

१ त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग ५, श्लोक ३६–४७, पत्र ५६पूरि

फिर प्रभु को वंदन करके लौटते हुए कुछ लोगों को देखकर इन्द्रभूति ने उनसे पूछा—"क्यों, तुम लोगों ने उस सर्वज्ञ को देखा ? कैसा है सर्वज्ञ ? वह कैसा रूपवान है ? उसका स्वरूप कैसा है ?"

इन्द्रभूति के इस प्रश्न को सुनकर, लोग भगवान् महावीर के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते। उनकी इतनी प्रशंसा सुनकर, इन्द्रभूति को विचार हुआ कि "नया सर्वज्ञ कोई कपटमूर्ति है। नहीं तो, इतने लोग भ्रम में कैसे आ जाते। मैं इसको सहन नहीं कर सकता। मैंने बड़े-बड़े वादियों की बोली बंद कर दी है, फिर यह कौन-सी चीज होंगे। मेरे भय से कितने ही पंडित मातृभूमि छोड़कर भाग गये तो मेरे सम्मुख सर्वज्ञपन के मान को धारण करने वाला यह कौन-सा व्यक्ति है।"

इन विचारों से प्रेरित होकर, मस्तक पर द्वादश तिलक धारण करके, स्वर्ण के यज्ञोपवीत से विभूषित हो, पीत वस्त्र पहन कर, हाथ में पुस्तक धारण करने वाले बहुत से शिष्यों को साथ लेकर, दर्भ के आसन, कमंडल आदि लेकर इन्द्रभूति वहाँ चले जहाँ भगवान् महावीर थे।

[१]

इन्द्रभूति

इन्द्रभूति को देखते ही भगवान् ने कहा—"हे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति तुम्हें जीव आत्मा के सम्बंध में सन्देह है; क्योंकि घट के समान जीव प्रत्यक्ष रूप से गृहीत नहीं होता है। तुम्हारी धारणा है कि जो अत्यन्त अप्रत्यक्ष है वह इस लोक मे आकाश-पुष्प के समान है ही नहीं।

"वह आत्मा अनुमान गम्य नहीं है; क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। अनुमान लिंग (हेतु) और लिंगी (साध्य) इन दोनों के पूर्व उपलब्ध व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बंध के स्मरण से होता है।

"जीव का लिंग के साथ सम्बंध नहीं देखा गया है। जिससे कि फिर से स्मरण करने वाले को उस लिंग के दर्शन से जीव की सम्यक प्रतीत हो।

"यह तो आगम गम्य भी नही है; क्योंकि आगम भी अनुमान से भिन्न नहीं है। आगम जिनके वचन हैं, उनको भी जीव प्रत्यक्ष नहीं हुआ है।

"और, आगम भी परस्पर-विरुद्ध है[1]। अतः इस कारण तुम्हारे

१—यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट करते हुए शास्त्रों के निम्नलिखित उद्धरण दिये हैं।

(अ) नास्तिक कहते हैं :—

"एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्र वृक पदं पश्य यद् वदन्ति बहुश्रुता॥"

(आ) भट्ट का वचन है:—

"विज्ञान घन एवं तेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न च प्रेत्यसञ्ज्ञा स्ति।"

शंका भी उचित ही है। अतः तुम ऐसा मानते हो कि जीव सर्व-प्रमाणों के विषय से परे हैं।

"परन्तु, हे गौतम जीव निश्चित रूप से तुम्हें भी प्रत्यक्ष है, जिससे कि तुमको संशय हो रहा है। जिस तरह अपने शरीर के सुख-दुःख के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही होती है, उसी प्रकार जो प्रत्यक्ष है, उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नही है।

"'मैंने किया है', 'मैं कर रहा हूँ', और 'मैं करूँगा', में जो 'मैं' ('अहम्'-प्रत्यय) है, उससे भी आत्मा सिद्ध है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के कार्य-व्यवहार से आत्मा प्रत्यक्ष है।

"जब आत्मा ही नहीं है, तो फिर 'अहम्' को तुम कैसे स्वीकार कर सकते हो। मैं हूँ या नहीं, इस प्रश्न पर फिर शंका कैसी? और, यदि इतने पर भी शंका है, तो फिर 'अहम्' प्रत्यय किसके साथ लागू होगा।

"जब संशय करने वाला ही नहीं है तो फिर 'किम् अस्मि नास्मि' (मैं हूँ या नहीं) की शंका होगी किसको? हे गौतम! जब तुमको अपने स्वरूप के विषय में ही शंका है तो फिर कौन-सी वस्तु शंकाहीन हो सकती है।

"आत्मा 'गुणिन्' (गुणवान्) भी है। गुण के प्रत्यक्ष होने से वह भी

(पृष्ठ २६० की पाद-टिप्पणी का शेषांश)

(इ) सुगत का वचन है :—

"न रूपं भिक्षवः पुद्गलः

(ई) वेद में आता है :—

(i) "न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिय योरप हतिरस्ति अशरीर वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृश्यतः।"

(ii) अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकाम:"

(उ) कपिल के आगम में आता है

"अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणों भोक्ता चिद्रूपः"

घट के समान ही प्रत्यक्ष है। तुम जानते हो, गुण मात्र के ग्रहण से गुणवान् घट भी प्रत्यक्ष है।

"गुणिन्' गुण के साथ अन्य है या अनन्य है ? यदि वह (गुण के साथ) अनन्य है, तो गुण मात्र के ग्रहण होने से, गुणी जीव भी साक्षात् ग्राह्य हो जाता है। और, यदि गुणिन् गुण से अन्य है, तो गुणिन् (गुणवान्) घटादि भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तो फिर गुणमात्र के ग्रहण होने पर, जीव के सम्बन्ध में तुम्हारा यह विचार ही क्यों है ?

"यदि ऐसा मानते हो कि गुणिन् है तो अवश्य; वह शरीर आदि से भिन्न नही है। ज्ञानादि गुण भी शरीर के होंगे और गुणों का गुणी देह ही युक्त होगा।

"पर, ज्ञानादि शरीर का गुण नहीं है; क्योंकि शरीर घट के समान मूर्त और चाक्षुप (देखे जाने योग्य) है। गुण द्रव्यरहित नहीं हो सकता। अतः ज्ञानादि गुण जिसके हैं, वही देह से अतिरिक्त जीव है।

"इस तरह जीव तुम्हें आंशिक रूप में और मुझे पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष है। मेरा ज्ञान अविहृत है। इसलिए विज्ञान की तरह तुम जीव को स्वीकार कर लो।

"इसी तरह अनुमान से तुम यह भी मानों कि, दूसरे के देह में भी जीव है। जिस प्रकार अपनी देह में आत्मा को मानते हो, उसी प्रकार अनुवृत्ति और निवृत्ति से दूसरे की देह में भी विज्ञानमय आत्मा को स्वीकार करो। क्योंकि, इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्ति और निवृत्ति होने से दूसरे के शरीर में भी जीव है—ठीक उसी प्रकार जैसे अपने शरीर में जहाँ इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है, वह सात्मक होता है, जैसे कि अपना शरीर। जब प्रवृत्ति और निवृत्ति पर शरीर में भी देखी जाती है तब पर शरीर भी आत्मा से युक्त होगा। आत्मा के न रहने पर इष्टानिष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती—जैसे कि घट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं है।

"जहाँ पर लिंग (हेतु) के साथ लिंगी (साध्य) पहले नहीं गृहीत हुआ है, वहाँ उस 'लिंग' से 'लिंगी' का उसी प्रकार ग्रहण नहीं होता, जैसे शशक से श्रृंग का ग्रहण नहीं होता। इसलिए वह जीव लिंग से अनुमेय नहीं है।

"आपका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि लिंग के साथ देखा गया ग्रह-(देवयोनि विशेष) शरीर में हँसना, गाना, रोना इत्यादि विकृत ग्रह-लिंग-दर्शन से जिस प्रकार ग्रह का अनुमान किया जाता है, उसी तरह कार्य-दर्शन से ऐसा माना जा सकता है कि शरीर में आत्मा है।

"शरीर का एक नियत आकार है। अतः शरीर का भी कोई विधाता अवश्य है। जिस प्रकार चक्र, चीवर, मिट्टी, सूत्र आदि का अधिष्ठाता कुम्हार है, उसी प्रकार इन्द्रियों का भी अधिष्ठाता कोई है। जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, वही आत्मा है।

"इन्द्रिय और विषयों का परस्पर आदानादेय-भाव-सम्बंध होने से एक आदाता (ग्रहणकर्त्ता) अवश्य सिद्ध होता है। लोक में जिस तरह संदशक (संडसी) और लोह इन दोनों का आदानादेय-भाव-सम्बन्ध होने पर, आदाता कर्मार (लुहार) अवश्य ही देखा जाता है।

"देहादि का एक भोक्ता अवश्य होना चाहिए; क्योंकि देहादि भोग्य है। जो-जो भोग्य होता है, उसका कोई-न-कोई भोक्ता अवश्य होता है। (जैसे अन्नादि का भोक्ता मनुष्य है) जिसका भोक्ता नहीं होता, वह भोग्य नहीं कहलाता, जैसे शश-श्रृंग। जो संघातरूप (समुदाय-रूप) होते हैं, उनका एक स्वामी अवश्य होता है, जैसे गृह का गृहपति। देहादि भी संघात-रूप हैं। अतः इनका भी स्वामी कोई-न-कोई अवश्य होगा। जिसका स्वामी नहीं होता, वह संघात-रूप नहीं होता, जैसे कि गगन-कुसुम। जो देहादि का स्वामी है, वही आत्मा है।

"देहेन्द्रियादि का कर्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता तथा अर्थी जिसे मैंने अभी बतलाया है, वही जीव है। साध्य-विरुद्ध के साधक होने से ये हेतु विरुद्ध हैं। घट आदि के कर्तादि-रूप कुलाल आदि मूर्तिमान हैं, संघात-रूप

हैं और अनित्यादि-स्वभाव भी हैं। अतः जीव भी मूर्तिमान, संघात-रूप और अनित्यादि स्वभाव वाला ही सिद्ध होगा—ऐसा तुम्हारा मत ठीक नहीं माना जा सकता। संसारी जीव के अष्ट कर्म पुद्गल संघात युक्त सशरीर कथंचित् मूर्तिमान् मानने में कोई दोष नहीं है।

"हे सौम्य! संशय होने से स्थाणु-पुरुष की तरह तुम्हारा जीव भी है ही। गौतम! जो संदिग्ध है, वह उस स्थल पर अथवा कहीं अन्यत्र निश्चित रूप से रहता ही है।

"तुम कहोगे कि, इस तरह गधे में भी सींग होनी चाहिए। पर, यह नियम नहीं है कि जिसमें सन्देह हो, उसी में वह वस्तु होना ही चाहिए। खर में न होने पर भी अन्यत्र सींग होती ही है। विपरीत ज्ञान करने पर इसी प्रकार समझना चाहिए।

"अजीव का विपक्ष (आत्मा) है ही; क्योंकि प्रतिषेध होने से जैसे कि अघट का विपक्ष होने से घट माना ही जाता है। जिस प्रकार (घट नास्ति) 'घट नहीं है' यह शब्द घट के अस्तित्व का साधक होता है, उसी प्रकार 'अजीव' शब्द जीवास्तित्व का साधक होगा।

"असत् वस्तु का निषेध नहीं होता है, यह बात सिद्ध है; क्योंकि संयोग आदि का प्रतिबंध किया जाता है। जैसे कि जब हम कहते हैं कि 'घर पर देवदत्त नहीं है' तो यहाँ 'घर' और 'देवदत्त' के रहने पर भी केवल संयोग का प्रतिषेध होता है। संयोग आदि [चार—संयोग, समवाय, सामान्य विशेष] और जगह में सिद्ध ही है।

"घटाभिधान की तरह शुद्ध होने से, 'जीव' यह पद भी सार्थक है जिस अर्थ से यह जीव-पद सदर्थ है, वह अर्थ आत्मा ही है, ऐसा विचार हो सकता है।

"यदि कहें कि 'जीव-पद' का अर्थ देह ही है, अन्य कुछ नहीं और इस प्रकार देह ही जीव सिद्ध हो सकता है' तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जीव और देह इन दोनों के पर्याय एक नहीं है। जहाँ पर पर्यायवचन-भेद

होता है, वहाँ उन दोनों में भेद देखा जाता है, जिस तरह घट और आकाश में (यहाँ 'घट', 'कुट', 'कुम्भ', 'कलश' आदि घट के पर्याय है और 'नभ', 'व्योम', 'अंतरिक्ष', 'आकाश' ये सब आकाश के पर्याय देखे जाते है। अतः घट और आकाश भिन्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जीव और देह पर्याय भी भिन्न-भिन्न है। जैसे कि, 'जीव' के 'जन्तु', 'असुमान्', 'प्राणी', 'सत्व', 'मूल' इत्यादि और शरीर के 'शरीर', 'वपु:' 'काम', 'देह', 'कलेवर' इत्यादि) पर्याय-वचन के भेद रहने पर भी यदि वस्तु को एक मानें तो सब वस्तुएँ एक ही हो जायेंगी।

"जीव ज्ञानादि गुण वाला बताया गया है, देह नहीं।

" 'जीवोऽस्ति' (जीव है) यह बात मेरा वचन होने से (आपके संशय-विषय अन्य अवशेष वचन की तरह) सिद्ध है। जो सत्य नहीं होता है, वह मेरा वचन ही नहीं होता है, जैसे कूट साक्षि-वचन। 'जीवोऽस्ति' यह वचन सर्वज्ञ-वचन होने से सिद्ध है—ठीक उसी प्रकार जैसे तुम्हारे मत से अभिमत सर्वज्ञ का वचन तुम सत्य मानते हो।

"मेरा सभी वचन दोष-रहित है; क्योंकि मुझ में भय, राग, द्वेष, मोह सबका अभाव है। भयादि रहित जो वचन होता है, वह सत्य देखा गया है—जिस प्रकार भय-रहित और पूछने वाले के प्रति रागद्वेष-रहित ऐसे मार्ग जानने वाले का मार्गोपदेश-वचन सत्य और दोष-रहित होता है।

"तुम सोचते होगे कि मैं सर्वज्ञ कैसे हूँ? इसका कारण यह है कि मैं समस्त शंकाएँ मिटा सकता हूँ। जो तुम न जानते हो, पूछो, जिससे हमारी सर्वज्ञता का विश्वास हो जाये।

"हे गौतम! इस तरह जीव को समझो। उपयोग जिसका हेतु है और जो सभी प्रमाणों से संसिद्ध है। संसार से इतर, स्थावर और त्रसादि भेद वाले जीव को तुम समझो।[1]

१—इसे स्पष्ट करते हुए टीकाकारने लिखा है—वेदान्तिन् कह सकते है कि आत्मा सर्वत्र एक ही है; अतः उसके बहुत से भेद नहीं करने चाहिए और कहेगा :—

"जिस तरह सभी पिंडों (देह) में आकाश एक माना जाता है, उसी तरह सभी देहों में आत्मा को एक मानने में क्या दोष है ? हे गौतम ! जिस तरह सभी पिंडों में एक रूप ही आकाश होता है, उसी तरह सभी देहों में आत्मा एक रूप नहीं होता है; क्योंकि पिंड में आत्मा भिन्न-भिन्न ही देखा जाता है।

"संसार में लक्षण के भेद होने से जीव नाना रूप होते हैं—कुम्भादि की तरह ! जो भिन्न नहीं होता है, उसका लक्षण भी भिन्न नहीं होता है है, जैसे आकाश। आत्मा के एक होने से सुख-दुःख बंध और मोक्षाभाव सब को होंगे। अतः जीव भिन्न ही हैं।

"जिससे कि जीव का उपयोग लक्षण है और उसका वह उपयोग उत्कर्ष अपकर्ष भेद से भिन्न होता है। अतः, उपयोग के अनन्त होने से जीव को भी अनन्त मानना चाहिए।

"जीव को एक मानने पर सर्वगतत्व (व्यापक) होने से—आकाश की तरह—सुख-दुःख, बंध-मोक्ष आदि नहीं हो सकते हैं। और, आकाश की तरह

[पृष्ठ २६५ की पादटिप्पणि का शेषांश]

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥
यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥२॥
तथेद मंगलं ब्रह्म निर्विकल्पम विद्यया ।
कलुपत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥३॥
ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥४॥

तथा "पुरुष एवेदंग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानः यदन्नेनातिरोहति, यदेजति । यद् नैजति, यद् दूरे, यद् अन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादि ।

संसारी जीव, कर्त्ता, भोक्ता, मन्ता (मनन करने वाला) नहीं हो सकता। जो एक होता है, उसमें कर्तृत्व आदि नहीं होते।

"एक मानने पर आत्मा (जीव) सुखी नहीं हो सकता है; क्योंकि एक देश में निरोग रहने पर भी अनेक तरह के शारीर, मानस, व्याधि-परम्पराओं के कारण दुःख की आशंका रहेगी। बहुतर बद्धत्व (बंधन) के होने से देशमुक्त की तरह वह आत्मा मुक्त भी नहीं हो सकता है।

"शरीर में ही आत्मा के गुणों की उपलब्धि होने से, जीव घट की तरह शरीर मात्र में ही रहनेवाला है। अथवा जो जहाँ पर प्रमाणों से उपलब्ध नहीं होता है, वहाँ उसका अभाव ही उसी तरह माना जाता है, जैसे घट में पट का।

"अतः आत्मा में, अनेकत्व और असर्वगतत्व के होने पर ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष, सुख, दुःख और संसरण (जन्म-मरण) ये सब उत्पन्न हो सकते हैं।

"गौतम ! तुम **'विज्ञानघन एवैतेभ्यः'** आदि वेदवाक्यों का सही अर्थ नहीं जानते हो। तुम मानते हो कि मद्य के कारण धातकी आदि में मदभाव की तरह इस पृथ्वी आदि भूत-समुदाय से उत्पन्न विज्ञान मात्र ही जीव है। वह पीछे फिर उन्हीं भूतों में लय को प्राप्त होता है। इसलिए परभव में वही पूर्वभव वाली संज्ञा नहीं होती है। अतएव जीव इस लोक से परलोक नहीं जाता है।

"हे गौतम ! उक्त वेदवाक्य का पूर्वोक्त अर्थ मान करके 'जीव नहीं है', ऐसा तुम मानते हो। पर, **'न ह वै सशरीरस्य'** आदि अन्य वेद-वाक्यों में जीव बतलाया गया है। और, **'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः'** इत्यादि वेदवचन से अग्नि-हवनादि क्रिया का पारलौकिक फल सुना जाता है। जब आत्मा अन्य भव में नहीं जाने वाला है, तब यह बात संगत नहीं हो सकती है। इन वाक्यों को देखकर नहीं, तुम्हें जीव के सम्बन्ध में संशय होता है। तुम संशय मत करो क्योंकि **'विज्ञानघन एवैतेभ्यः'** वेदवाक्य का वह अर्थ नहीं है, जो तुम जानते हो। जो मैं अभी कहने वाला हूँ, उस वास्तविक अर्थ को तुम सुनो।

"इस श्रुति में विज्ञान-रूप होने से (विज्ञान से अभिन्न होने से) जीव विज्ञानघन है। विज्ञान प्रति प्रदेश में होने से, यह विज्ञानघन सर्वतो व्यापी है। नैय्यायिक लोग जिस तरह स्वरूपतः जीव को जड़ और उसमें बुद्धि को समवेत मानते हैं, ऐसा नहीं हैं। वह विज्ञानघन घटादि विज्ञान की तरह भूतों से उत्पन्न होता है और वह विज्ञानघन विनिश्चमान उन्हीं भूतों में काल क्रम से (अन्य वस्तु के उपभोग में आने से, ज्ञेय भाव से) विनाश को प्राप्त कर जाता है।

"एक ही यह विज्ञानघन जीव तीन स्वाभावों वाला है। अन्य वस्तु के उपयोग काल में, पूर्व विज्ञान के उपयोग से, यह विनस्वर-रूप होता है। अन्य विज्ञानोपयोग होने पर वह उत्पाद-स्वरूप होता है। अनादि काल से आता हुआ, सामान्य विज्ञान मात्र की परम्परा से, वह जीव अविनाशी होता है। इसी तरह सभी वस्तुओं को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य (अविनश्वरता) स्वभाव ही जानना चाहिए। न तो कोई वस्तु सर्वथा उत्पन्न होती है और न विनाश को ही प्राप्त होती है।

"अन्य वस्तु के उपयोगकाल में, पूर्व की ज्ञान-संज्ञा नहीं रहती है; क्योंकि तत्काल दिखलायी देने वाली वस्तु के उपयोग से वह ज्ञान संज्ञा हो जाती है (इससे यह बतलाया गया कि जब घटोपयोग-निवृत्ति होने पर पटोपयोग उत्पन्न होता है, तब घटोपयोग संज्ञा नहीं रहती है।) इसलिए वेद-वाक्यों में 'विज्ञानघन' नाम वाला वह जीव ही है।

"ऐसा होने पर भी तुम्हारी यह मान्यता है कि, घटादि भूत के होने पर घटज्ञान के उत्पन्न होने से और उसके अभाव से घटादि विज्ञानाभाव होने से वह विज्ञान भूतधर्म है। यह तुम्हारा विचार ठीक नहीं है; क्योंकि वेद-सिद्धांत में उन घटादि भूतों के रहने और नहीं रहने पर भी विज्ञान होता ही है और सूर्य-चन्द्र के अस्त हो जाने पर अग्नि और वाणी इन दोनों के शांत होने पर उस समय पुरुष में (किं ज्योति) कौन-सी ज्योति[1] है?

१—टीकाकार ने यहाँ लिखा है:—

अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्यः, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः, आत्मज्योतिः, सम्राडिति होवाच......

वह ज्योति आत्मज्योति है। वह आत्म ज्योति वाला पुरुष ही आत्मा है।

"वह विज्ञानघन भूतधर्म नहीं होता है; क्योंकि घटादिभूत के अभाव में वह होता है। यह भावदशा में .भी नहीं होता है, जिस तरह घट के रहने पर या न होने से पर उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए 'पट' को 'घट' का धर्म नहीं मानना चाहिए।

"इन वेदवाक्यों का अर्थ तुम नहीं जानते हो अथवा सभी वेदों का अर्थ तुम नहीं जानते हो। क्या इन वेद पदों का अर्थ श्रुति (शब्द) होगा, जिस तरह 'भेरी' 'पट' इत्यादि के शब्द का शब्द ही अर्थ होता है। अथवा घटादि शब्द के उच्चारण करने पर जो घटादि विषयक विज्ञान होता है, वही उसका अर्थ है? अथवा वस्तुभेद से ही शब्द का अर्थ है, जैसे 'घट' के उच्चाराण करने 'पृथुबुध्नोदरादि' आकारवान् घट-रूप वस्तु ही बतायी जाती है—पटादि नहीं।

"अथवा 'जाति' ही शब्दो का अर्थ है, जैसे 'गो' शब्द के उच्चारण करने पर गो-जाति मानी जाती है।

"अथवा क्या द्रव्य ही इनका अर्थ है—जैसे दण्डी शब्द कहने पर दण्ड वाला द्रव्य माना जाता है।

"अथवा क्या गुण ही शब्दों का अर्थ है—जैसे शुक्ल कहने पर शुक्लत्व गुण समझा जाता है।

"अथवा क्रिया ही इनका अर्थ है—जैसे 'धावति' कहने पर दौड़ने की क्रिया समझी जाती है।

"यह तुम्हारा संशय ही अयुक्त है; क्योंकि किसी वस्तु का धर्म 'अयमेव नैव वा अयं' (यही है अथवा यह नहीं है) इस तरह से नहीं जाना जाता है; क्योंकि वाच्य-वाचक आदि सभी वस्तु 'स्व', 'पर' पर्यायों से सामान्य विवक्षा से निश्चय ही सर्वात्मक है। और, केवल 'स्व' पर्याय की अपेक्षा से सभी वस्तुएँ सब से भिन्न और असर्वमय हैं। इससे पदार्थ विवेक्षा के द्वारा सामान्य तथा विशेष रूपोंवाला होता है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि 'ऐसा ही है' अथवा 'ऐसा नहीं है', क्योंकि वस्तु का स्वभाव पर्याय की अपेक्षा से नाना प्रकार का होता है।"

जर-मरण-रहित जिनेश्वर के द्वारा संशय दूर कर दिये जाने पर इन्द्रभूति ने ५०० शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

[२]

अग्निभूति

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार सुनकर, इन्द्रभूति के भाई अग्निभूति को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने सोचा कि, मैं स्वयं चल कर अब उस साधु को पराजित करूँगा और इन्द्रभूति को वापस लाऊँगा। उन्हें विचार हुआ कि, इन्द्रभूति छल से पराजित किये गये हैं। सम्भवतः वह साधु मायेन्द्रजाल जानने वाला है। क्या होता है, यह तो मेरे चलने पर ही निश्चित होगा। यदि वह साधु मेरे एक भी पक्षान्तर (पक्ष-विशेष) को जानने वाले होंगे, और उत्तर देकर मुझे संतुष्ट कर देंगे तो मैं भी उनका शिष्य हो जाऊँगा।

ऐसा विचार करके अग्निभूति तीर्थंकर के पास गये। उनको देखते ही भगवान् ने उनके नाम और गोत्र के साथ उन्हें सम्बोधित किया और बोले —"कर्म है, या नहीं तुम्हें इस बात पर शङ्का है। (मिथ्यात्व के वश में जो कार्य किया जाता है और ज्ञानावरण ढंग का जो काम है, उनका अस्तित्व है या नहीं तुम्हें इस सम्बन्ध में शंका है।). तुम वेद-वाक्यों का सही अर्थ नहीं जानते।

"तुम्हारा विचार है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से 'कर्म' का होना सिद्ध नहीं होता है। अतः, तुम उसे ज्ञान-गोचरातीत (ज्ञान की सीमा से परे) मानते हो। लेकिन, सुख-दुःखादि के अनुभूति-रूप फल ही कर्म के अनुमान में साधन है। तुम कहोगे कि, कर्म यदि आपको प्रत्यक्ष है तो मुझे भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता। पर, तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। ऐसा नियम नहीं है कि जो एक को प्रत्यक्ष हो, वह दूसरे को भी प्रत्यक्ष हो। सिंह, शरभ आदि प्रत्यक्ष तो हैं; पर वे भी सब को प्रत्यक्ष नहीं होते।

"जिस प्रकार अंकुर का हेतु बीज है, उसी प्रकार सुख-दुःख के लिए भी हेतु की आवश्यकता है। उनका हेतु कर्म ही है। तुम्हारा यह मत कि, वह कारण दृष्ट ही हो सकता है, ठीक नही है। साधन-सामग्री समान होने पर भी, फल मे जो विशेष अंतर दृष्टिगत होता है, उसके लिए कोई कारण अपेक्षित है। वह कारण कर्म को ही मानना चाहिए।

"जिस प्रकार यौवन के शरीर से पूर्व वचपन का शरीर होता है, उसी प्रकार वचपन के शरीर से पूर्व एक अन्य शरीर होता है। और, वचपन के शरीर के पूर्व का शरीर वस्तुतः 'कर्म' है। उसे 'कार्मण-शरीर' कहते हैं।

"जिस प्रकार कृषि का फल सस्योत्पादन है, उसी प्रकार क्रिया के फल दानादि का भी दृष्ट फल—होना चाहिए वह फल मनः-प्रसाद है। अदृष्ट कर्म-रूप फल पाने की आवश्यकता नहीं।

"और, प्रश्न किया जा सकता है कि, मनः-प्रसाद भी तो स्वयं क्रिया-रूप ही है। अतः उसका भी फल होना ही चाहिए। उसका जो फल है, वह कर्म है। उसी के परिणाम-स्वरूप वारम्बार सुख-दुःखादि फल उत्पन्न होते हैं।

"यदि तुम्हारा यह विचार है कि दानादि क्रिया मनोवृत्ति का फल है, तो ऐसा तुम्हारा मानना ठीक नहीं है। दानादि-क्रिया मनोवृत्ति का निमित्त (कारण) है। यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे कि मिट्टी का पिंड घट का निमित्त है।

"इस प्रकार भी स्पष्ट है कि, क्रिया का फल दृष्ट ही होता है। उसका फल 'कर्म' नहीं हुआ। क्रिया का फल ठीक उसी रूप में दृष्ट होता है, जैसे पशु-विनाश का फल दृष्ट मांस ही माना जाता है—अदृष्ट अधर्मादि नहीं। जीव-लोक प्रायः ऐसे ही फल में लगता है, जिसका फल दृष्ट होता है। जीवलोक का असंख्य भाग ही अदृष्ट फल वाली क्रिया में प्रवृत्त होता है।

"हे सौम्य! जीव दृष्ट फल वाली क्रियाओं में ही प्रायः प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण क्रिया को आप अदृष्ट फल वाली मानें।

"यदि ऐसा न माना जायेगा तो, विना प्रयत्न के सब के सब मुक्त हो जायेंगे। और, अदृष्ट फल वाली क्रियाओं को करने वाला ही अधिक क्लेश वाला हो जायेगा। क्योंकि, दानादि क्रिया को करने वाले अदृष्ट फल के साथ सम्बन्ध करेंगे, तो पीछे जन्मान्तर में उनके फल का अनुभव करते हुए फिर भी दानादि क्रिया में प्रवृत्त होंगे। और, फिर उसके अधिक फल का अनुभव करने पर फिर दानादि क्रिया में प्रवृत्त होंगे। उससे उनका संसार अनंत होगा।

"इस जगत् में बहुतर लोग अनिष्ट भोगों का भोग करते हैं। पर, यह भी निश्चित है कि उसमें कोई अदृष्ट और अनिष्ट फल वाला कार्य कदापि नहीं करना चाहता। अतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हर क्रिया का एक अदृष्ट फल भी निश्चित् रूप में होता है। और, करने वाले के अदृष्ट के प्रभाव से उसका फल भी अनिश्चित देखा जाता है।

"अतः फल से ही (कार्यत्व हेतु) कर्म को पहले ही सिद्ध कर दिया गया है। जैसे, घट के परमाणु कारण होते हैं, उसी तरह फल का भी कोई कारण होगा। वह कारण 'कर्म' ही है। लेकिन, वह फल क्रिया से भिन्न होता है; क्योंकि कार्य-कारण में भेद मानना आवश्यक है।

"परपक्षवाला कहेगा कि, काम के मूर्त होने से, उसका कारण परमाणु भी मूर्त होते हैं।

"जिसके सम्बन्ध होने से सुखादि का अनुभव होता है, वह मूर्त होता है। अतः कर्म के सम्बन्ध से सुखादि का अनुभव होने से, कर्म मूर्त माना जायेगा—जैसे कि आहार।

"जिसके सम्बन्ध होने से वेदना का उद्भव होता है, वह भी मूर्त माना जाता है, जैसे अग्नि। कर्म के सम्बन्ध से वेदना की उत्पत्ति होती है। अतः कर्म मूर्त माना जायेगा।

"जिसको बाह्य वस्तु के द्वारा बल प्राप्त होता है, वह भी मूर्त माना जाता है—जिस प्रकार तेल आदि से पुष्ट किया गया घड़ा। मिथ्यात्वादि

के कारण बाह्य वस्तुओं से कर्म का उपचय-रूप बन्ध देखा जाता है। अतः कर्म भी मूर्त होगा।

"आत्मादि से भिन्न होकर जो परिणामी होता है, वह मूर्त माना जाता है जैसे क्षीर। कर्म भी आत्मादि से भिन्न होता हुआ, परिणामी देखा जाता है अतः, यह भी मूर्त होगा।

"जिसका कार्य परिणामी होता है, वह स्वयं भी परिणामी होता है। जैसे दूध के कार्य दही के परिणामी होने के कारण दूध को भी परिणामी माना जाता है। उसी तरह कर्म के कार्य-शरीर के परिणामी होने से उसका कारण कर्म भी परिणामी माना जायेगा।

"जिस प्रकार बिना कर्म की सहायता के बादलों में वैचित्र्य होता है, उसी प्रकार की स्थिति संसारी जीव के सम्बन्ध में भी है। यदि हम यह मान लें कि, दुःख-सुख बिना कर्म की सहायता से घटते रहते हैं, तो कोई हानि न होगी।

"इसका उत्तर यह है कि तो फिर कर्म के सम्बन्ध में क्या भेद आने वाला है? जैसे बाह्य पदार्थों का वैचित्र्य सिद्ध है, उसी प्रकार कर्मपुद्गलों का भी वैचित्र्य सिद्ध किया जा सकता है।

"यदि बाह्य वस्तुओं की चित्रता सिद्ध हो गयी, यह तुमको स्वीकार है तो शिल्पिन्यस्त रचनाओं की तरह जीवानुगत कर्म का भी वैचित्र्य और भी अधिक स्पष्ट रूप में सिद्ध है।

"यदि अभ्रादि-विकार स्वभावतः वैचित्र्य को धारण करते हैं, तो कर्म को माना ही क्यों जाये', इस प्रकार का विचार ठीक नहीं है। कर्म भी स्वतः एक शरीर ही है, उसे 'कार्मण्य-शरीर' कहते हैं। अतीन्द्रिय होने से वह सूक्ष्मतर है और जीव के साथ अत्यन्त संश्लिष्ट होने से अभ्यन्तर है। तब तो जिस प्रकार अभ्रविकारादि बाह्य तनु में तुम वैचित्र्य मानते हो, उसी तरह कर्म-शरीर में भी विचित्रता मानने में क्या हानि है?'

"यदि कर्म-तनु को नहीं मानते हैं, तो मरण-काल में स्थूल शरीर से सर्वथा विमुक्त जन्तु का भवान्तर में स्थूल शरीर ग्रहण करने में कारणभूत सूक्ष्म कार्मण्य-शरीर के अतिरिक्त और क्या होगा ? इसके फलस्वरूप संसार का विच्छेद हो जायेगा।

"और, इसका फल यह होगा कि, या तो सभी को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा या बिना कारण सबको संसार प्राप्त हो जायेगा। और, दूसरों की क्या बात— भवमुक्त सिद्धजनों का भी अकस्मात् निष्कारण संसारपात होगा। तब तो मोक्ष में भी अविश्वास !

"(प्रश्न किया जा सकता है कि) मूर्त (कर्म) का अमूर्त जीव से कैसे सम्बन्ध हो सकता है ? (इसका उत्तर यह है) हे सौम्य ! यह सम्बन्ध भी मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ अथवा मूर्त अंगुलि द्रव्य का अमूर्त आकुंचन (समेटने) आदि क्रिया के साथ के सम्बन्ध के समान है।

"जीव के साथ लगा हुआ, यह स्थूल शरीर जैसे प्रत्यक्ष है, वैसे ही भवान्तर में जीव के साथ संयुक्त कार्मण शरीर को भी स्वीकार करना चाहिए।

"अमूर्त (आत्मा) का मूर्त (कर्मन्) के साथ उपघात (परितापादि) अथवा अनुग्रह (अल्हादि) कैसे हो सकते हैं क्योंकि अमूर्त आकाश का मूर्त अग्नि ज्वालादि के साथ सम्बन्ध नहीं होता है।' तुम्हारी इस शंका का उत्तर यह है कि, जिस प्रकार मूर्त मदिरा अथवा मूर्त औषधियोग से अमूर्त विज्ञान का उपघात और अनुग्रह होता है, उसी तरह आत्मा का कर्म के साथ होगा।

"अथवा यह नियम नहीं है कि, संसारी जीव एक दम अमूर्त हो; क्योंकि यह तो अनादि काल से कर्म की शृंखला से सम्बद्ध है।

"हे गौतम ! कर्म और शरीर बीज और अंकुर के समान एक दूसरे के हेतु-हेतु के रूप में हैं। इस प्रकार कर्म की शृंखला का कोई आदि नहीं है।

"हे गौतम ! यदि कर्म को ही अस्वीकार कर दिया जाये तो स्वर्ग की कामना से किये गये अग्निहोत्र आदि तथा वेदविहित दानादि फल का कोई उपयोग नहीं है।

"कर्म को अस्वीकार करने पर, तुम शुद्ध जीव और ईश्वर को शरीरादि का कर्ता मानते हो। पर, यह बात नहीं हो सकती। निश्चेष्ट और अमूर्त होने उपकरण आदि के न होने से यह बात देह के आरम्भ के संबध में ईश्वर के साथ भी लागू होगी। ईश्वर को शरीरवाला कहेंगे या अशरीरी। यदि अशरीरी मानें तो उपकरणरहित होने से वह जगत् का कर्ता न होगा। यदि शरीरवान् मानते हैं तो ईश्वर के शरीर बनने में भी यह बात लागू हो सकती है; क्योंकि बिना कर्म के उनके शरीर की भी रचना नहीं हो सकती। यदि कहें कि उनके शरीर को कोई अन्य बनाता है तो फिर प्रश्न होगा कि उसके शरीर को कौन बनाता है। इस प्रकार अनावस्था-हो जायेगी।

"हे गौतम ! वेदवाक्य 'विज्ञानघन' आदि के आधार पर यदि तुम्हारा विचार है कि स्वभावत: सब कुछ होता है तो तुम्हारे इस विचार से बहुत-से दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने जब अग्निभूति की शंका का निवारण कर दिया तो अग्निभूति ने अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(३)

वायुभूति

यह सुनकर कि इन्द्रभूति और अग्निभूति साधु हो गये, तृतीय गणधर वायुभूति तीर्थंकर के निकट गये। उन्हें विचार हुआ कि जिन भगवान् महावीर को इन्द्रभूति और अग्निभूति ने गुरु मान लिया है और तीनों लोक जिनकी वंदना करता है, उनके सम्मुख जाकर वन्दना करने से मेरे समस्त पाप धुल जायेंगे और उनकी उपासना करके मैं अपनी समस्त शंकाओं का निवारण करा लूंगा।

ऐसा विचार करके वायुभूति जब भगवान् के पास गये तो भगवान् ने उन्हें देखते ही उनके गोत्र के सहित उनका नाम लेकर सम्बोधित किया और बोले—"तुम्हें शंका है कि जो जीव है, वही शरीर है। पर, तुम मुझसे कुछ पूछ नहीं रहे हो। तथ्य यह है कि तुम वेदवाक्य का अर्थ नहीं जानते। उनका यह अर्थ है।

"तुम्हारा यह विचार है कि वसुधा आदि भूत-समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। तुम समझते हो कि जैसे पृथक-पृथक वस्तु में मादकता न होने पर भी उनके समुदाय से मादकता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जीव भी उत्पन्न होता है। जैसे पृथक-पृथक वस्तु में मादकता न होने पर भी उनके योग से मद्य तैयार होता है, और एक निश्चित् अवधि के बाद गायब हो जाता है; उसी प्रकार पृथक-पृथक भूतों में चैतन्य न रहने पर भी, भूतों के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है और कालान्तर में विनष्ट हो जाता है।

"उन वस्तुओं के संयोग से चेतना नहीं उत्पन्न हो सकती, जिनमें पृथक-पृथक रूप में चेतना न हो। उदाहरण के लिए कहें कि जैसे बालू के पृथक-पृथक कणों में तेल के अभाव के कारण बालू से तेल नहीं निकल

सकता, उसी प्रकार जिन पदार्थों के संयोग से मद्य बनता है, उन पदार्थों में भी पृथक रूप से मद का पूर्ण अभाव नहीं रहता। मद्य के अंगों में कुछ-न-कुछ ऐसा अंश होता है जो भ्रमि, घ्राणि, वृतृष्णता आदि उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अतः भूतों में जब पृथक-पृथक चेतना होगी, तभी उनके संयोग से चेतना उत्पन्न हो सकती है।

"यदि निर्माता-पदार्थों में नशा लाने की प्रवृत्ति का सदा अभाव हो तो फिर उसे मद-निर्माता पदार्थ माना ही क्यों जायेगा? और, उनके संयोग के सम्बन्ध में कोई नियम ही क्यों बनेगा? क्योंकि, यदि मद्य के अभाव वाली वस्तुओं के संयोग से मद्य तैयार होने लगे, तो अन्य पदार्थों के संयोग से मद्य तैयार किया जाने लगेगा।

"समुदाय में चैतन्य दिखने से, प्रत्येक भूत में भी पृथक-पृथक रूप में चेतना माननी चाहिए। यह बात ठीक वैसी है, जैसे मद्यांग में मद। अतः, तुम्हारा यह हेतु असिद्ध है।

"हे गौतम्! यह प्रत्यक्ष विरोध है। भूतसमुदाय के अतिरिक्त जीव को सिद्ध करने वाले अनुमान के होने से, तुम ऐसा मत मानों। तुम जो कहते हो कि प्रत्येक में चेतना है, यह परस्पर-विरोध है।

"भूतेन्द्रियों से प्राप्त अर्थ का अनुसरण करने से, भूतेन्द्रियों से भिन्न किसी का धर्म चेतना है, ऐसा मानना ही चाहिए। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे एक आदमी पाँच खिड़कियों से दृश्य देखता है और फिर उसे अपने मस्तिष्क में स्मरण करता है।

"इन्द्रियों के विनाश हो जाने पर भी, ज्ञान होता है और कभी इन्द्रिय-व्यापार के रहने पर भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता। अतः, इन्द्रियों से भिन्न किसी वस्तु की सिद्धि होती है। यह वैसे ही है, जैसे पाँच खिड़कियों से दृश्य देखने वाला इन्द्रियों से भिन्न माना जाता है।

"जिस तरह एक खिड़की से घटादि वस्तु को प्राप्त कर, दूसरी खिड़की से उसको ग्रहण करनेवाला व्यक्ति उन दोनों से भिन्न है, उसी तरह नेत्र से

घटादि-वस्तु को प्राप्त कर हाथ आदि से उस वस्तु को ग्रहण करनेवाला जीव, नेत्र और हाथ दोनों से भिन्न है, यह बात सिद्ध है।

"सभी इन्द्रियों से प्राप्त वस्तुओं का स्मरण करने वाली कोई वस्तु, इन इन्द्रियों से भिन्न है। यह बात उसी प्रकार है, जैसे पाँच व्यक्ति हों, उन्हें पाँच विज्ञान हों और छठाँ व्यक्ति हो, जो पाँचों के विज्ञान को जानता हो।

"युवा-ज्ञान से पूर्व जैसे बाल-ज्ञान होता है, उसी प्रकार बाल-विज्ञान विज्ञान्तरपूर्वक है। वह ज्ञान शरीर से अलग है; क्योंकि उस शरीर के न रहन पर भी उस ज्ञान का स्थायित्व है।

"बालक की पहली इच्छा माँ के स्तनपान की होती है। वह वस्तु के भोजन की इच्छापूर्वक ठीक वैसी है, जैसी अभी की अभिलाषा। यह अभिलाषा शरीर से भिन्न है।

"यौवन का शरीर जैसे बचपन के शरीरपूर्वक होता है, उसी प्रकार बचपन का शरीर भी शरीरान्तरपूर्वक होगा; क्योंकि दोनों में इंद्रियादि हैं। और वह देह जिसका है, वह देही (आत्मा) है।

"बालक के सुख-दुःख के पूर्व अन्य सुख-दुःख की अवस्थिति है—अनुभवात्म होने से। इस सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला जीव ही है।

"हे गौतम, बीज और अंकुर का परस्पर कार्य-कारण सम्बंध होने से बीज और अंकुर का संतान जिस तरह अनादि है, उसी तरह परस्पर कार्य-कारण भाव होने से शरीर और कर्म का संतान भी अनादि है।

"कार्य-कारण भाव होने से, कर्म और शरीर के अतिरिक्त कर्म और शरीर का कर्ता कोई-न-कोई मानना ही चाहिए। जिस तरह दंड और घट में कार्य-कारण भाव होने से दोनों से, अतिरिक्त एक कर्ता कुलाल माना जाता है।

"बौद्ध-सैद्धांतिक के अनुसार, इस जगत में सब कुछ क्षणिक है। इसलिए विरोधी कह सकता है कि, शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाता है। अतः, जीव शरीर से भिन्न है, यह सिद्ध करना निरर्थक है।

"जैसे हम वचपन की घटना वृद्धावस्था में अथवा स्वदेश की घटना को विदेश में स्मरण करते हैं, उसी तरह जातिस्मरण करनेवाला जीव पूर्व शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

'ज्ञानशृंखला के सामर्थ्य से क्षणिक जीव भी पूर्व वृतांत को स्मरण करता है। यदि ऐसा मानें तो भी यह सिद्ध हो जाता है कि, ज्ञान-संतान शरीर से भिन्न ही माना जायेगा।

"ज्ञान सर्वथा क्षणिक नहीं है; क्योंकि वह पूर्व की बातें स्मरण कर सकता है। सर्वथा क्षणिक अतीत का स्मरण नहीं कर सकता। जन्म लेते ही विनष्ट हो जाने वाले के लिए पूर्व क्या ?

"वादी (बौद्ध) के 'एक विज्ञान संततय: सत्वा' वचन से उसका 'सर्वमपि वस्तु क्षणिकं' ऐसा विज्ञान कभी युक्त नहीं हो सकता और उसका इष्ट तो 'यत् सत् तत् सर्व क्षणिकं' 'क्षणिकाः सर्व संस्काराः' इत्यादि वचनों से सर्वक्षणिकता विज्ञान ही है। यह सब बातें क्षणिकताग्राहक ज्ञान के एक मानने पर संगत नहीं हो सकती। एक प्रतिनियत कारण वाला ज्ञान अशेष वस्तु में रहने वाली क्षणिकता को कैसे समझ सकता है। यदि उत्पत्ति के बाद ही उसका विनाश न माना जाता तो एक और एक निवन्धन विज्ञान सभी पदार्थों में क्षणिकता को बता सकता था।

"ऐसा ज्ञान जो अपने तक ही सीमित है और जन्म के बाद ही नष्ट हो जाता है, वह सुबहुक विज्ञान और विषय के क्षय आदि को कैसे ग्रहण कर सकता है।

"अपने विषय के विज्ञान से 'अयं अस्मद् विषयः क्षणिकः' "अहं च क्षण नश्वर रूपं' इस तरह अन्य विज्ञानों को भी विषय साम्य होने से क्षणिकता का ज्ञान कर सकता है। यह भी बात ठीक नहीं है; क्योंकि अनुमान तो सत्ता आदि की सिद्धि करता है। सर्वक्षणिकता वाला ज्ञान तो क्षण-नश्वर होने से अपने को भी नहीं जानता। उसके लिए दूसरे का ज्ञान तो असम्भव ही है।

(४)

व्यक्त

यह सुनकर कि वायुभूति और उसके साथियों ने दीक्षा ले ली, व्यक्त नामक चौथे पंडित तीर्थंकर के पास उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के विचार से गये। भगवान् ने उन्हें देखते ही उनका नाम और गोत्र लेकर उन्हें सम्बोधित किया और कहा—

"व्यक्त, तुम्हें शंका है कि भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) हैं या नहीं। इसका कारण यह है कि तुम वेदवाक्यों[1] का यह अर्थ करते हो कि यह पूरा विश्व स्वप्न अथवा भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक ओर जहाँ वेदों में पंचतत्वों की स्थिति का विरोध है, वहीं 'द्यावा पृथ्वी...' और 'पृथ्वी देवता आपो देवता...' आदि वाक्यों में इन तत्वों का होना भी स्वीकार किया गया है। वेदों के इन विरोधाभासों से ही तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न हो गयी है।

"जब तुम्हें स्वतः भूतों के ही संबंध में शंका है, तो जीव-सरीखी वस्तु का क्या कहना है। सभी वस्तुओं में सशंक होने के कारण तुम इस सम्पूर्ण जगत को माया के रूप में मानते हो।

"जैसे ह्रस्व और दीर्घ की सिद्धि स्वतः, परतः, उभयतः और अन्यतः

१—टीकाकार ने संदर्भ के वेदवाक्यों का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित पद दिये हैं:—

(अ) स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधि रञ्जसा विज्ञेयः।

(आ) द्यावा पृथिवी...

(इ) पृथिवी देवता आपो देवता...

नहीं हो सकती है, उसी प्रकार भावों की सिद्धि भी स्वतः, परतः, उभयतः और अन्यतः नहीं हो सकती है; किन्तु अपेक्षा से होती है। 'अस्तित्व' और 'घटत्व' एक हैं अथवा अनेक है। यदि एक मानते हैं तो, सर्वैकता-दोष के कारण सब विषय या तो शून्य हो जाएँगे या व्यवहार के विषय न रह जाएँगे।

"जो 'उत्पन्न हो चुका' (जात) है, उसे ऐसा नहीं कह सकते कि वह 'उत्पन्न होता' (जायते) है और जो 'अजात' हो उसके लिए भी 'जायते' का व्यवहार नहीं कर सकते; क्योंकि यदि इसे स्वीकार किया जाये तो खर-विषाण की भी उत्पत्ति हो जायेगी। जो 'जात' भी हो, और 'अजात' भी हो, उसके लिए भी 'जायते' का व्यवहार नहीं होगा; क्योंकि उसमें उक्त प्रकार के दोनों दोष आते हैं। इसलिए शून्यता सिद्ध हुई।

"किसी वस्तु का निर्माण तब होता है, जब उपादान और निमित्त सब एक स्थान पर एकत्र हो जाते हैं। जब वे पृथक्-पृथक कार्यरत रहते हैं, तो क्रिया कभी नहीं होती।

"किसी वस्तु का पर भाग तो दर्शनगत होता नहीं और उसका सामने का भाग जो दिखलायी पड़ता है, वह अति सूक्ष्म होता है। अतः इन दोनों के अदर्शनीय होने से सब भाग की अनुपलब्धि हो जाती है। दोनों की अनुपलब्धि होने से सभी की अनुपलब्धि मानी जाती है। और, उससे सर्वशून्य हो जाता है।

"हे व्यक्त! भूतों की स्थिति के सम्बन्ध में शंका मत करो। असत् वस्तु में तुम्हारा संशय उचित नहीं है। जो वस्तु होती ही नहीं, उसके सम्बंध में आकाश-कुसुम अथवा खरशृंग के समान शंका सम्भव नहीं है और जो वस्तु विद्यमान होती है, उसी के सम्बंध में शंका होती है—जैसे कि पेड़ का ठूंठा अथवा पुरुष!

"ऐसा कोई विशेष कारण नहीं है, जिससे सर्वशून्यता-काल में स्थाणु और पुरुष के संबंध में तो शंका हो; पर आकाशकुसुम के सम्बन्ध में नहीं। अथवा इसके विपरीत शंका क्यों नहीं होती?

"प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम इन तीन प्रकारों से पदार्थों की सिद्धि होती है। जिनमें इन प्रमाणों की विषयता नहीं है, उनमें संशय ठीक नही है।

"संशयादि (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, निर्णय) ज्ञान के पर्याय हैं। वे ज्ञेय से सम्बद्ध ही होते हैं। अतः, जब सभी ज्ञेय का अभाव हो, तो संशय के लिए स्थान कहाँ है।

"हे सौम्य ! तुम्हारे संशय-भाव के कारण ये पदार्थ स्थाणु-पुरुष की तरह हैं ही। और, अगर तुम्हारा मत यह है कि, स्थाणु और पुरुष का दृष्टांत असिद्ध है तो संशय का ही अभाव हो जाता है।

"यह मानना ठीक नहीं है कि, सर्वाभाव में भी स्वप्न की तरह सन्देह उत्पन्न हो जाता है; क्योंकि स्वप्न स्मृति आदि निमित्त के कारण होता है[1]। उनके अभाव में तो स्वप्न भी नहीं होता।

"अद्भुत, दृष्ट, चिन्तित, श्रुत, प्रकृति-विकार, देवता, सजल प्रदेश, पुण्य और पाप ये स्वप्न के कारण हैं। सर्वाभाव दशा में स्वप्न भी नहीं होता है।

"विज्ञानमय होने से घट-विज्ञान की तरह स्वप्न 'भाव' है अथवा नैमित्तिक होने से घट की तरह स्वप्न है, क्योंकि 'अनुभूत, दृष्ट, चिन्त्य, इत्यादि उसके निमित्त बताये गये हैं।

"सर्वाभाव की स्थिति मे स्वप्न और अस्वप्न में कैसे अंतर जाना जा सकता है ? यह सच है, यह झूठ है ? गंधर्वनगर है अथवा पाटलिपुत्र ? तथ्य है या उपचार है ? कार्य है अथवा कारण है ? साध्य है अथवा साधन है ? इनका अंतर कैसे होगा और कर्त्ता-वक्ता और वचन-वाच्य और पर-पक्ष अथवा स्वपक्ष में क्या अंतर रहेगा ?

१–गोयमा ! पंचविहे सुविणदंसणे पण्णत्ते, तंजहा—अहातच्चे, पयाणे, चिंता सुविणे, तव्विवरीए, अवत्तदंसणे।

—भगवती सूत्र सटीक शतक १६, उद्देशः ६, सूत्र ५७८, पत्र १३०४-१

"ऐसी स्थिति में स्थिरता, द्रवता, उष्णता, चलन, अरुचित्व तथा शब्द आदि ग्राह्य कैसे होते हैं, और कान आदि ग्राहक कैसे होंगे। समता, विपर्यय सर्वाग्रहण आदि शून्य की स्थिति में क्यों नहीं माने जाते? और, यह समीचीन ज्ञान है अथवा मिथ्या ज्ञान है? 'स्व', 'पर' और 'उभय'-बुद्धि कैसे होगी? उनकी परस्पर असिद्धि कैसे हो सकती है। और, यदि इन सब का कारण दूसरे की बुद्धि है तो 'स्व'-बुद्धि, 'पर'-बुद्धि का अंतर क्या है? 'स्व'-भाव और 'पर'-भाव मानने पर सर्वशून्यता की हानि हो जायगी।

"तुम्हारा दीर्घ-ह्रस्व सम्बन्धी विज्ञान युगपत है और क्रमशः है। यदि युगपत है तो परस्पर अपेक्षा क्या है? यदि क्रम से, तो पूर्व में पर की क्या अपेक्षा? बच्चे को जो प्रथम विज्ञान होता है, उसमें किसकी अपेक्षा है। जिस तरह दोनों नेत्रों में परस्पर अपेक्षा नहीं होती, उसी तरह तुल्य दो ज्ञानों में भी अपेक्षा नहीं हो सकती।

"ह्रस्व की अपेक्षा करके जो दीर्घज्ञान होता है, सो क्यों? दीर्घ की अपेक्षा करके ही दीर्घज्ञान क्यों नहीं होता। असत्व तो दोनों में समान ही है। ख-पुष्प से दीर्घ और ह्रस्व का ज्ञान क्यों न हों अथवा असत्व की समानता से ख-पुष्प से ख-पुष्प रूप ही ह्रस्व-दीर्घ ज्ञानादि व्यवहार क्यों न न हो। ऐसा नहीं होता। इसलिए पदार्थ हैं ही—जगत की शून्यता असत है।

"यदि संसार में सर्वाभाव ही है तो ह्रस्व आदि को दीर्घादि की अपेक्षा क्यों? यह अपेक्षा की स्थिति ही शून्यता के प्रतिकूल है। जैसे, घटादि अर्थ की सत्ता। यदि तुम ऐसा कहो कि, स्वभाव से अपेक्षा से ही ह्रस्व-दीर्घ व्यवहार होता है, तो स्व-पर भाव का स्वीकार होने से, शून्यता की हानि हुई। वंध्यापुत्र की तरह पदार्थों के स्वभाव का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

"अपेक्षा से विज्ञान, अभिधान हो सकता है—जैसे कि दीर्घ-ह्रस्व। अन्य की अपेक्षा करके वस्तुओं में सत्ता और आपेक्षिक ह्रस्व-दीर्घत्व आदि धर्मों से रूप-रसादि सिद्ध नहीं होते।

"यदि घटादि की सत्ता भी अन्य की अपेक्षा से हो, तो ह्रस्वाभाव में

जिस तरह ह्रस्व का विनाश माना जाता है, उसी तरह दीर्घ का भी सर्व-विनाश माना जायेगा; क्योंकि दीर्घ-सत्ता को ह्रस्वसत्ता की अपेक्षा होती है। लेकिन, ह्रस्वाभाव में दीर्घ का विनाश देखा नहीं जाता, इससे यह निश्चय होता है कि, घटादि पदार्थों के सत्ता-रूपादि धर्म अनन्यापेक्ष हैं। यदि यह सिद्ध है तो शून्यता नही रहती।

"अपेक्षण, अपेक्षक, अपेक्षणीय इनकी अपेक्षा किये बिना, ह्रस्वादि को दीर्घादि की अपेक्षा नहीं होती। यदि इनको स्वीकार कर लें, तो शून्यता नाम की कोई चीज नहीं रह जायेगी। कुछ वस्तुएँ स्वतः हैं, जैसे जलद; कुछ वस्तुएँ परतः है, जैसे घट; कुछ वस्तुओं की उभय स्थिति है, जैसे पुरुष और कुछ वस्तुएँ नित्य सिद्ध हैं जैसे आकाश। ये सब बातें व्यवहार-नय की अपेक्षा से मानी जाती हैं। बहिर्निमित्त के आश्रय से निश्चय से सभी वस्तुएँ स्वतः होती हैं। पर, जिस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, वह बाह्य निमित्त से भी उत्पादित नहीं हो सकती, जैसे खर-विषाण!

"घट और अस्तित्व में एकता है अथवा अनेकता? जैसे घट और अस्तित्व में एकता है अथवा अनेकता; इसी तरह एकत्व और अनेकत्व रूप पर्याय मात्र की ही चिंता की जाती है। इससे उन दोनों का अभाव सिद्ध नहीं होता है। नहीं तो, यह बात खरशृंग और वंध्यापुत्र में एकत्व-अनेकत्व के साथ क्यों नही लागू होती।

"घट और शून्यता इन दोनों में भेद है अथवा अभेद। यदि भेद मानते हो तो, हे सौम्य! वह शून्यता घट के अतिरिक्त और क्या है? यदि अभेद मानते हो तो घट और शून्यता एक होने से वह शून्यता घट ही है—न कि शून्यता-नामका घट का कोई अतिरिक्त धर्म!

"यदि विज्ञान और वचन एक माना जाये, तो वस्तु की अस्तिता सिद्ध होने से शून्यता नहीं मानी जा सकती और भेद मानने पर विज्ञान और वचन को न जाननेवाला अज्ञानी और निर्वचनवादी शून्यता का साधन कैसे कर सकता है?

"घट-सत्ता घट का धर्म है। इसलिए, वह (घट-सत्ता) उससे अभिन्न है। पर, वह पट आदि से भिन्न है। अतः जब कहा जाता है कि 'घट है', तो इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि 'और कुछ है ही नहीं'; क्योंकि अपनी सत्ता तो पटादि में भी है ही।

"यह कहने से कि 'घट है', यह अर्थ कहाँ निकलता है कि जो कुछ है, सब घट ही है। या यह कहने से कि 'घट है', यह अर्थ कैसे हो सकता है कि और कुछ है ही नहीं।

"'वृक्ष' शब्द से हम 'आम का वृक्ष' अथवा आम से भिन्न 'नीम आदि किसी का वृक्ष' अर्थ लेते हैं। लेकिन, जब हम 'आम का वृक्ष' कहते हैं तो आम के वृक्ष के अतिरिक्त और किसी वृक्ष का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'है', तो उससे भाव यह होता है कि घट अथवा घट से भिन्न कोई वस्तु है; लेकिन इसमें 'घट' जोड़कर 'घट है', ऐसा कहने से, केवल घट का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

"यदि ऐसा माना जाये कि न तो 'जात', न 'अजात', और न 'जाताजात' उत्पन्न किया जा सकता हैं, तो प्रश्न है कि 'जात' की जो बुद्धि होती है, वह कैसे होगी ? यदि 'जात' जात (उत्पन्न हुआ) नहीं है, तो यह विचार खपुष्प के साथ क्यों नहीं लागू किया जाता।

"यदि सर्वदा जात नहीं है, तो जन्म के बाद उसकी उपलब्धि क्यों होती है। उसकी उपलब्धि पूर्व में क्यों नहीं होती अथवा भविष्य में उसके नष्ट होने के बाद क्यों नहीं होती।

"'शून्यता' चाहे वह जात न हो, जात मान ली जाती है, उसी प्रकार अन्य वस्तुओं को भी हम जात मान ले सकते हैं। और, यदि जात को हीं जात नहीं मानें तो फिर शून्यता कैसे प्रकाशित होगी। शून्यता का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा।

"'जात', 'अजात', 'जाताजात' और 'जायमान' अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। कोई वस्तु सर्वथा उत्पन्न नहीं होती। 'कुम्भ' 'जात' इसलिए होता है

कि उसका रूप होता है। रूपितया जात ही घट उत्पन्न होता है; क्योंकि मृद्-रूपिता तो वह पहले से विद्यमान है। 'अजात कुम्भ' इसलिए उत्पन्न होता है कि पहले से उसका वह संथान (आकार-विशेष) नहीं रहता है। और, मृद्रूप तथा आकार विशेष से जाताजात उत्पन्न होता है। जायमान इस कारण से कि वर्तमान में उसके जायमान होने की क्रिया प्रस्तुत है। पर, जो 'कुम्भ' पहले बन चुका है, वह 'घटता' के कारण 'पट' पर्याय (पटादि रूप) के कारण और उन दोनों से पुनः उत्पन्न नहीं किया जा सकता। और, जो जायमान कुम्भ है वह पटता के कारण जायमान भी नहीं होता। इसी प्रकार आकाश नहीं पैदा किया जा सकता; क्योंकि वह नित्य 'जात' है। इसलिए, हे सौम्य ! कोई वस्तु द्रव्य के रूप में नहीं उत्पन्न होती। हर वस्तु पर्याय-चिन्ता से जात अजात; जाताजात और जायमान मानी जाती है।

"सब वस्तुएँ सामग्रीमय दीखती हैं। पर, जब सब शून्य ही है तो सामग्री का प्रश्न कहाँ उठता है। तुम्हारा यह कहना विरुद्ध है। अविद्या के वश से हम अविद्यमान को देखते हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि अविद्यमान को देखने की बात होती, तब तो कछुए की रोम की सामग्री भी देखी जानी चाहिए थी।

"यदि वक्ता सामग्रीमय है और उसका वचन है, तो शून्यता कहाँ रह जाती है। और, यदि उनका अस्तित्व नहीं है तो फिर बोलता कौन है और सुनता कौन है ?

"(विरोधी कह सकता है) "जैसे वक्ता और वाणी नहीं हैं, तो उसी प्रकार वचनीय (जिन वस्तुओं की हम चर्चा करते हैं) भी नहीं हैं।" यह सत्य है अथवा असत्य ? यदि सत्य है तो अभाव की स्थिति नहीं रहेगी और यदि असत्य है तो फिर तुम्हारा वचन अप्रमाण होता है। और, सर्वशून्यता की स्थिति की सिद्धि नहीं होगी।

"जैसे-जैसे शून्यता प्रतिपादक वचन को स्वीकार करता है, अतः हमारे वचन के प्रामाण्य से शून्यता की सिद्धि होगी, यह तुम्हारा मानना ठीक नहीं

है; क्योंकि स्वीकार करनेवाले, स्वीकार्य और स्वीकारणीय इन तीनों की सत्ता सिद्ध होने पर ही यह स्वीकृति भी सिद्ध हो सकेगी।

"बालू से तेल क्यों नही निकलता ? तिल में भी तेल क्यों है ? और, सभी वस्तुएँ खपुष्प की सामग्री से क्यों नहीं बनती ?

"सब वस्तु सामग्रीमय है—यह निश्चय नहीं है; क्योंकि 'अणु' 'अप्रदेश' है—स्थान ग्रहण नही करता। तुम्हारे कथनानुसार यदि उसे 'सप्रदेश' (स्थान ग्रहण करनेवाला) मानें, तो तुम्हारी बुद्धि से जहाँ कहीं निष्प्रदेशतया उसकी स्थिति होती है, वह 'परमाणु' है और वह 'परमाणु' सामग्रीरहित है।

"यह बात परस्पर-विरोधी है कि सामग्रीमय वस्तु का दृश्य है और अणु नहीं होते या बात यह है कि अणु के अभाव में वह वस्तु खपुष्प से निर्मित होती है ?

"दृश्य पदार्थ का निकटवर्ती भाग गृहीत होता है, पर अन्य पर भाग की कल्पना से 'नहीं है' ऐसा आपका कहना ठीक नही। यह बात विरुद्ध है। क्योंकि, सर्वाभाव के तुल्य होने पर, गधे की सींग का निकट का भाग क्यों नहीं दिखायी देता।

"परभाग का दर्शन नहीं होने से अग्रभाग भी नही है, यह आपका अनुमान कैसा है ? या बात ऐसी है कि अग्रभाग के ग्रहण करने पर परभाग की सिद्धि क्यों नहीं होगी ?

"यदि सर्वाभाव ही है, तो निकट का, पर का, मध्यभाग का, अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? और, दूसरों के विचार से ऐसा हो, तो अपने और दूसरों के विचार का अंतर कहाँ है ? यदि सामने के, मध्य के और पृष्ठ के भाग की अवस्थिति स्वीकार कर लें, तो शून्यता कहाँ ठहर पाती है। और, यदि न स्वीकार करें, तो खर की सींग की कल्पना क्यों नहीं होती ? और, सब वस्तुओं के अभाव की स्थिति में सामने का भाग क्यों दिखायी देता है ? और, पीछे का भाग क्यों नहीं दिखायी देता ? और, इसका विपर्यय क्यों नहीं होता ?

"स्फटिक आदि का परभाग भी दिखायी देता है। अतः, वे बिना संदेह हैं। और, यदि स्फटिक आदि न माने जायें, पर भाग के अदर्शन से सभी भागों के अनास्तित्व की तुम्हारी बात असिद्ध होगी। यदि ऐसा कहें कि सर्वादर्श से ही स्फटिक आदि पदार्थ भी नहीं हैं, तो 'पर भाग के अदर्शन से पदार्थ का अस्तित्व नहीं माना जाता है' वाली तुम्हारी प्रतिज्ञा गलत होगी और परस्पर-विरोध होगा।

" अप्रत्यक्ष होने से यदि पर भाग और नहीं है और उनके न होने पर यदि निकट का भाग भी न माना जायेगा, इसलिए सर्वशून्यता सिद्ध होती हैं, तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, 'अप्रत्यक्ष' कहने से इन्द्रिय की सत्ता सिद्ध हो जाती है। और, यदि इन्द्रिय की सत्ता सिद्ध हो जाती है, और इन्द्रिय की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं, तो सर्वशून्यता की हानि होती है और अप्रत्यक्षत्व की भी हानि होती है।

"अप्रत्यक्ष होने पर भी कुछ चीजों का अस्तित्व होता है। उदाहरण के लिए, जैसे तुम्हारा संशयादि विज्ञान, दूसरों के लिए अप्रत्यक्ष होने पर भी, है। इसी प्रकार मध्यभाग भी अप्रत्यक्ष होने पर भी सिद्ध माना जायेगा। यदि शून्यता ही नहीं है, तो वह किसकी मानी जायेगी? और, वह किसे उपलब्ध होगी?

"भूमि, जल, अनल आदि वस्तुओं के सम्बन्ध में तुम्हारी शंका उचित नहीं है; क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं। वायु और आकाश के सम्बन्ध में तुम्हारी शंका उचित नहीं है; क्योंकि वे अनुमान से सिद्ध हैं।

"अदृश्य शक्ति से उत्पादित स्पर्शादि गुणों का कोई-न-कोई गुणी अवश्य माना जाता है जैसे 'रूप' का 'घट'। इसी प्रकार स्पर्श आदि का जो द्रव्य होगा, वह पवन ही है।

"जैसे जल का भाजन घट है, वैसे ही पृथ्वी आदि पदार्थों के भी भाजन है। हे व्यक्त! जो इन भूतों का भाजन है, वह भाजन स्पष्ट रूप से आकाश है।

"हे सौम्य ! जीव और शरीर के आधार और उपयोग में आनेवाले, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध, इन भूतों की सत्ता स्वीकार कर लो।

"पूछा जा सकता है कि वे भूत सचेतन कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सचेतन है, कारण यह है कि उनमें जीवन के लक्षण दिखलायी पड़ते हैं। आकाश अमूर्त है। वह जीवन के लिए आधार मात्र है। वह सजीव नही है।

"जन्म, जरा, जीवन, मरण, रोहण, आहार, दोहद, व्याधि और रोग-चिकित्सा आदि से नारी के समान ही वृक्ष भी सचेतन हैं (कुष्माण्डी, बीजपूरक आदि वृक्षों में गर्भिणी के समान इच्छा होती है।)

"हे व्यक्त ! स्पृष्टप्ररोदिका-सरीखे पौदे स्पर्श मात्र से कीड़ों की तरह सिकुड़ जाते हैं; वल्ली आदि आश्रय की खोज में फैलती है; शमी आदि वृक्षों में सोने, जागने, संकोचन आदि के गुण होते हैं; और बकुल आदि में शब्दादि विषय ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है; बकुल, अशोक, कुरवक, विरहक, चम्पक, तिलक वृक्ष शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपयोग करते हैं। इसलिए वृक्ष सचेतन हैं।

"तरु, विद्रुम, लवण, पत्थर आदि अपने उद्गम-स्थान पर रहते हुए सचेतन हैं; क्योंकि इन वस्तुओं को भी पुनः-पुनः अंकुर निकला करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अर्श आदि की स्थिति में मांस निकल आता है।

"पृथ्वी खोदने से प्राकृतिक रूप में जल निकलता है अतः जल भी वैसा ही सजीव है जैसे मेंढक। आकाश से पानी गिरता है। अतः वह भी मछली के समान ही सजीव है।

"बिला दूसरों से प्रेरणा प्राप्त किये, तिरछी चाल से, अनियमित दिशाओं में चलने के कारण हवा, गाय की तरह, सचेतन है। अग्नि सचेतन है; क्योंकि आहार से उसे वृद्धि-विकार प्राप्त होता है।

"पृथ्वी, जल, तेज और वायु-सरीखे चार भूतों से बना हुई जो शरीर

है, वह बादल आदि से अन्य होने से और मूर्त जाति होने से, यह शरीर तब तक जीवित है, जब तक शस्त्र से वह हत नहीं होती। और, जब शस्त्र से से हत होती है तो वह निर्जीव हो जाती है।

"हे सौम्य! बहुत-से जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। नये जीव का उत्पाद कोई नहीं चाहता। यह लोक परिमित है। अतः, इस लोक को आधार करनेवाले थोड़े ही स्थूल जीव हो सकते हैं। अतः, जिनके मत से पौदे आदि एकेन्द्रिय सचेतन नहीं हैं, उनके मत में सम्पूर्ण जगत का नाश प्राप्त हो जाता है। लेकिन, वह किसी को इष्ट नहीं है। अतः, भूत को आधार बनाने वाले अनंत जीव सिद्ध होते हैं।

"(विरोधी पूछ सकता है) 'जीवघन' संसार को स्वीकार कर लेने से अहिंसा का अभाव हो जायेगा; क्योंकि उस स्थिति में संयमी से भी अहिंसा-व्रत का पालन नहीं हो सकेगा। (इसका उत्तर यह है कि) ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा पहले कहा जा चुका है कि, शस्त्र के का आघात से ही जीव निर्जीव होता है। अतः केवल यह मान लेने से ही कि 'संसार जीवघन है', हिंसा सम्भव नहीं होती।

"जो घातक है, वह सर्वथा हिंस्र नहीं है और जो घातक नहीं है, वह सर्वथा अहिंस्र नहीं है। जीव थोड़े हो तो हिंसा न हो और अधिक हों तो हिंसा हो, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, बिना हनन किये ही, अपने दुष्टत्व के कारण आदमी शिकारी के समान हिंस्र हो जाता है और दूसरों को पीड़ा देने पर भी शुद्ध होने से वैद्य हिंस्र नहीं है।

"पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी साधु अहिंसक होता है और जो इसके विपरीत है, वह अहिंसक नहीं होगा। वह संयमी जीव का आघात करे या न करे; लेकिन वह हिंसक नहीं कहलाता; क्योंकि उसका आधार तो आत्मा के अध्यवसाय के ऊपर है।

"जिसका फल अशुभ हो, वह हिंसा है। बाह्य-निमित्त हिंसा अथवा अहिंसा में कारण नहीं है; क्योंकि वह व्यभिचरित है। कोई उसकी अपेक्षा करता है, कोई उसकी अपेक्षा नहीं करता।

"जो जीवघात अशुभ परिणाम का कारण है, अथवा अशुभ परिणाम जिसका कारण है, वह जीवघात हिंसा है। ऐसा तीर्थंकर और गणधर मानते हैं। जिस जीवघात का निमित्त अशुभ-परिणाम नही है, ऐसे जीव वध करने वाले साधु को हिंसा नहीं होती।

"भावशुद्धि होने से वीतराग साधु के शब्दादि अनुराग उत्पन्न नही करते; क्योंकि उसका भाव शुद्ध है। वैसे ही संयमी का जीववध भी हिंसा नही है; क्योंकि उसका मन शुद्ध है।"

जब व्यक्त की शंकाओं का समाधान हो गया तो उन्होंने भी अपने ५०० शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(५)

सुधर्मा

व्यक्त तथा अन्य लोगों के दीक्षा लेने की बात सुनकर सुधर्मा ने भगवान् के सुम्मुख जाकर वंदन करने का विचार किया। जब सुधर्मा भगवान् के पास आये तो तीर्थंकर ने उनका नाम और उनके गोत्र का नाम लेकर उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हारा विश्वास हैं कि इस भव में जो जैसा है, पर भव में भी वह भी वैसा ही होता है। लेकिन तुम वेद-पदों[1] का सही अर्थ नहीं जानते।

"तुम्हारा यह विचार है कि जैसे अंकुर बीज के अनुरूप होता है। वैसे ही कार्य भी कारण के अनुरूप होता है। इस आधार पर तुम यह मानते हो कि परभव में भी वस्तुएँ इस भव के अनुरूप ही होती हैं। पर, तुम्हारा यह मानना ठीक नहीं है।

---

(१) इस पर टीका करते हुए टीकाकार ने निम्नलिखित वेदवाक्य उद्धृत किया है।

१—पुरुषो वैं पुरुषत्वमश्नुते पाशवः पशुत्वम्'

२—शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते

इनमें प्रथम का अर्थ तुम यह मानते हो कि पुरुष मर कर पर भव में पुरुषत्व को ही प्राप्त करता है और पशु मर कर पशुत्व को प्राप्त करते हैं। (इससे पूर्वभव के समान ही दूसरा भव सिद्ध होता है)

और दूसरे का जो पुरीष-सहित जलाया जाता है, वह शृंगाल-योनि में जन्म लेता है। (इससे यह स्पष्ट होता है कि दूसरा भव पहले भव से बिलकुल भिन्न होता है)

"शृंग से शर नाम की वनस्पति उत्पन्न होती है। और, उस शृंग में यदि सर्षप का लेप कर दिया जाये, तो भूतृण (सस्य-समुदाय) उत्पन्न होता है और गोलोम तथा अविलोम के संयोग से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के मिश्रण के संयोग से नाना प्रकार की वनस्पतियों की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायुर्वेद और योनिविधान में है। इसलिए, हे सुधर्मा! यह कोई नियम नहीं है कि जिस प्रकार का कारण होता है, उसी प्रकार कार्य होता है।

"बीज के अनुरूप जन्म मानों, तब भी एक भव से भवान्तर में (जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप आदि) विभिन्न परिणाम वाले जीव को स्वीकार करना पड़ेगा। भव-रूपी अंकुर को उत्पन्न करने वाला बीज-रूपी कर्म विचित्र है। इसलिए कारण की विचित्रता से भवांकुर में भी वैचित्र होगा। अतः, हे सौम्य! यदि तुमने कर्म को स्वीकार किया और हेतु की विचित्रता होने से उसे विचित्र भी माना, तो ऐसा भी मानों कि उससे उत्पादित उसका फल भी विचित्र होगा।

"और, विचित्र कार्यों के फलरूप होने से यह संसार भी विचित्र है। लोक में जिस तरह भिन्न-भिन्न कार्यों का फल भिन्न-भिन्न होता है, उसी तरह यहाँ इस लोक में किये गये भिन्न-भिन्न कर्मों का फल परलोक भिन्न-भिन्न होगा। बाह्य (अभ्रादि विकार की तरह) पुद्गल-परिणाम होने के फलस्वरूप कार्यों का परिणाम विचित्र होता है और कर्म के कारणों मे वैचित्र्य होने से कर्म भी विचित्र होते हैं।

"इस भव के समान ही परलोक भी है, इतना यदि तुम मानते हो तो तुम्हें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कर्मफल भी दूसरे भव में इसी भव के समान ही होगा। इस लोक में नानागति कर्म करने वाले मनुष्य यदि उसका फल भोगते हैं तो दूसरे भव में भी उन्हें उसका फल भोगना पड़ेगा।

"(यदि विरोधी कहे) कर्म इसी लोक में फलरहित है, परलोक में नहीं तब सर्वथा सादृश्य नहीं होगा। अकृतकर्म फल देगा और कृत कर्म निष्फल

होंगे। या तो कर्म का ही अभाव होगा। कर्म के अभाव में दूसरा भवान्तर कहाँ रह जायेगा। और, उसके अभाव में सदृश्यता कहाँ रह जायेगी। और, यदि यह मान लिया जाये कि वह भव निष्कारण है तो उसका नाश भी उसी प्रकार निष्कारण होगा।

"तुम्हारा यह कहना है कि कर्म का अभाव मानने में भी क्या दोष हैं; क्योंकि सब कुछ कारण के अनुरूप घटादि कार्य होते हैं।

"पर, मैं कहता हूँ कि क्या वह स्वभाव निश्चित वस्तु है? अथवा कारण भावरूप है? अथवा वस्तु-धर्म है?

"यदि उसे वस्तु मान लें, तो उसकी अनुपलब्धि होने से आकाशकुसुम के समान वह वस्तु नही मानी जा सकती। और, यदि अनुपलब्ध होने के बावजूद वह 'है', तो कर्म को क्यों न 'है' माना जाये। उसके स्वीकार करने में तुम जो कारण समझते हो, वह कारण कर्म के साथ भी लागू होगा। यदि कहें कि कर्म का ही नाम स्वाभाव है, तो इसमें क्या दोष होगा? उसे स्वाभाव के नित्य समान रहने में क्या कारण है?

"वह स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि मूर्त है तो वह परिणामी होने से दूध की तरह सर्वथा समान नहीं होगा। और, यदि अमूर्त है, तो उपकरण के अभाव में शरीर का कारण नही होगा। अतः हे सुधर्मा! इस कारण से भी शरीर अमूर्त नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसके कार्य-शरीर आदि मूर्त होते हैं। अमूर्त से मूर्त कार्य उत्पन्न नही होता। और, सुख-दुःखादि का ज्ञान होने से वह स्वभाव अमूर्त नहीं हो सकता।

"यदि (भवान्तर) स्वभाव से उत्पन्न होता है और स्वाभाव अकारण होता है, तो सादृश्यता नहीं हो सकती है। और, बिना कारण के निःसदृशता क्यों नही होती? या विनाश क्यों नहीं हो जाता?

"'वस्तु का अर्थ स्वाभाव है' यदि ऐसा माना जाये तो, वह स्वाभाव भी सदा सदृश नही माना जा सकता। क्योंकि, वस्तु के उत्पाद, स्थिति और भंग पर्याय विचित्र होते हैं।

"हे सुधर्मा ! पुद्गल मय कर्म के परिणाम को ही स्वाभाव कहते हों तो भी जगत का कारण वह स्वभाव विचित्र ही होगा। ऐसा कहें तो कोई दोष नहीं है। मैं भी इसे मानता ही हूँ; किन्तु मेरा यह कहना है कि वह स्वभाव सर्वदा सदृश नहीं होता।

"हे सुधर्मा ! आप परभव को एक कैसे कह सकते हैं; क्योंकि सभी वस्तुएँ किन्हीं पूर्व-पर्यायों से प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होती हैं, किन्ही उत्तर ्यायों से नष्ट नहीं होती हैं और किन्ही पर्यायों से तद्वस्थ रहती है। ्सा होने पर वह :वस्तु आत्मा के पूर्व-पूर्व धर्मों से उत्तर-उत्तर धर्मों के ादृश्य नही हैं तो फिर अन्य वस्तुओं की बात क्या ? सामान्य धर्मो से तो ्भी त्रिभुवन समान हैं ?

"इस भव में ऐसा कौन है, जो सर्वथा सदृश्य ही है अथवा सर्वथा असदृश्य ही है ? क्योंकि सभी वस्तु सदृशासदृश्य है और नित्यानित्य है।

"जिस तरह इस लोक में युवा अपने भूत-भविष्य बाल-वृद्धादि पर्यायों से सर्वथा समान नहीं हैं; और सत्तादिरूप सामान्य धर्म से सब समान हैं; उसी तरह परलोक में जीव भी अपने अतीत-अनागत धर्मों को लेकर भिन्न और सत्तादि सामान्य धर्मों को लेकर सदृश्य माना जा सकता हैं।

मनुष्य मर कर देवत्व को प्राप्त होता हुआ सत्तादि पर्याय से तीनों जगत का सादृश्य है और देवत्व आदि धर्मों को लेकर विसादृश्य है। इसलिए निश्चित रूप से कहीं भी सादृश्यता नही है। इसी रूप में नित्यानित्य को भी बात माननी चाहिए।

"पूर्ण सादृश्यता के फलस्वरूप उत्कर्ष और अपकर्ष की कहीं गुंजाइश न रहेगी। यहाँ तक कि उसी कोटि में भी। और, दानादि का फल वृथा होगा।

"शृगालो वै एप जायते" आदि वेदवाक्य और वेद-विहित स्वर्गीय फल

आदि सादृश्य मानने से गलत सिद्ध हो जायेंगे।"

जब तीर्थंकर ने सुधर्मा की शंकाओं का समाधान कर दिया तो अपने ५०० शिष्यों के साथ उन्होंने दीक्षा ले ली।

१—इसकी टीका करते हुए टीकाकार ने लिखा है—"पुरुषो वै पुरुषत्व मश्नुते" इत्यादि वेदवाक्य का यह अर्थ है कि कोई पुरुष इस जन्म में स्वभावतः भद्रक विनीत दयालु अमत्सर होता हुआ, मनुष्य नाम गोत्र कर्म को बाँधकर मरने पर पुरुषत्व को प्राप्त करता है, न कि सब के सब!

(६)

माण्डिक

यह सुनकर कि पहले गये लोगों ने दीक्षा ले ली, भगवान् का वंदन करने के विचार से माण्डिक उनके पास गये। भगवान् ने उन्हें देखते ही उनका और उनके गोत्र का नाम लेकर उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हें बन्ध और मोक्ष के सम्बन्धमें शंका है। तुम वेदमंत्रों[१] का सही अर्थ नहीं जानते।

"तुम्हारा विश्वास है कि जीव का बन्ध-कर्म के साथ संयोग है। तो, वह संयोग आदिमान है अथवा आदिरहित है? यदि आदिमान है, तो

१—टीकाकार ने यहाँ दो मन्त्रों का उल्लेख किया है:—

(अ) स एष विगुणो विभुर्व बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यंतरं वा वेदः"

(आ) "न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोर पहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रिया-ऽप्रिये न स्पृशतः"

वहाँ पर तीन पक्ष उठ जाते हैं। पहला यह कि क्या पहले जीव उत्पन्न होता है और पीछे कर्म ? अथवा क्या पहले कर्म उत्पन्न होता है, पीछे जीव ? अथवा दोनों एक काल में ही उत्पन्न होते हैं ?

"पहले जीव की और उसके पीछे कर्म की उत्पत्ति होती है, यह कहना ठीक नही है; क्योंकि कर्म के पहले जीव की उत्पत्ति खर-शृंग के समान युक्त नही है। और, यदि कहें कि आत्मा की उत्पत्ति निष्कारण है, तो जिसका जन्म निष्कारण है, उसका विनाश भी निष्कारण होगा।

"यदि कहें कि जीव अनादि है और निष्कारण है तथा कर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है, तो उसे निष्कारण मानने पर मुक्त पुरुष को भी जन्म लेना पड़ेगा और तब तो मुक्ति में भी कोई विश्वास नहीं रह जायेगा।

"बन्धाभाव में यदि यह नित्य मुक्त होता है, तो उसका मोक्ष क्या है ? क्योंकि जिसका बन्ध नहीं होता है, उसकी मुक्ति क्या ?

"यह भी नहीं कह सकते कि, जीव के पहले कर्म की उत्पत्ति होती है; क्योंकि उस समय कर्ता जीव का अभाव होता है। यदि कहें कि कर्म की उत्पत्ति निष्कारण होती है, तो उसका नाश भी निष्कारण ही होगा।

"जीव और कर्म की उत्पत्ति एक काल में मानने पर, कर्तृ-कर्म-भाव युक्त नही हो सकता। जिस प्रकार लोक में गाय की दो सींगें एक ही काल में आती हैं और उनमें कर्तृ-कर्म भाव नहीं होता।

"यदि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि का मान लिया जाये तो मोक्ष भी उत्पन्न नहीं होगा। नियम है कि जो अनादि है, वह अनंत होता है, जिस तरह आत्मा और आकाश का सम्बन्ध।

"इस तरह युक्ति से वेदों में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं घटती है। अतः तुम्हें यह शंका हो रही है। जिस रूप में तुम्हारा यह संशय मिट रहा है, अब मैं उसे कहता हूँ।

"बीज और अंकुर की तरह परस्पर हेतु-हेतुमय-भाव होने से, हे मंडिक। देह और कर्म का संतान अनादिक है।

"ऐसा कोई देह है, जो कि भविष्य के कर्म का कारण है। और, वही अतीत कर्म का कार्य है। इसी प्रकार, कर्म भी ऐसा है, जो कि भावी देह का कारण है और वही अतीत देह का कार्य है। इस तरह अनादि संसार में कहीं विश्राम नहीं है। इसलिए देह और कर्म का सन्तान अनादि है।

"जिस प्रकार घट का कर्ता कुंभकार है, उसी तरह कारण होने से जीव कर्म का कर्ता है और उसी प्रकार कारण होने से कर्म देह का कारण है।

"अतीन्द्रिय होने से कर्म कारण नहीं हो सकता, यह तुम्हारा मत ठीक नहीं है; क्योंकि कार्य से वह कारण सिद्ध हो सकता है और चेतनारब्ध क्रिया रूप होने से कृषि आदि क्रिया की तरह नानादि क्रियाएँ फल वाली होती हैं। उनका जो फल है, वही कर्म होगा। अग्निभूति की तरह तुम भी इसे मान लो।

"सन्तान अनादि होने से अनन्त भी होगा, यह बात नियत नहीं है। क्योंकि, बीज और अंकुर की अनादिता भी अंतवाली देखी जाती है।

"बीज और अंकुर इन दोनों के बीच अन्यतर से असम्पादित कार्य ही जब विहत होता है, तो उन दोनों की सन्तान भी विहत होगी। यही स्थिति मुर्गी और अंडे की भी जाननी चाहिए। जैसे अनादि संतानमान भी सोना-पत्थर-संयोग उपाय के द्वारा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का संयोग भी तप-संयम आदि उपायों के द्वारा नष्ट हो जाता है।

"तो क्या जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होता हुआ जीव और नभ के सम्बन्ध के अनुसार अनन्त है? या वह स्वर्ण और पत्थर के संयोग के अनुरूप सान्त है? इसका उत्तर यह है कि दोनों रूपों का सम्बन्ध विरुद्ध नहीं है। अनादि-अनन्त रूप जो पहला है, वह अभव्यों में होता है और स्वर्ण और पत्थर की तरह जो अनादि और सान्त है, वह भव्यों का जानना

चाहिए। क्योंकि, जीवत्व की समानता होने पर, 'यह भव्य है', और 'यह अभव्य है' का व्यवहार क्यों होता है ?

"जीव और आकाश में द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी, जिस तरह स्वभावतः भेद माना जाता है और जीव तथा अजीव में द्रव्यत्व तुल्य होने पर भी जिस तरह उनमें स्वभावतः भेद माना जाता है; उसी तरह भव्य और अभव्य में भी स्वभावतः भेद मानना चाहिए।

"यदि जीवों का भव्याभव्यत्व विशेष कर्मकृत मानते हैं तो नारकादि भेद की तरह इसमें कोई भेद नहीं रहता है। लेकिन, यह बात नहीं है। जीव स्वभावतः भव्याभव्य होते हैं, कर्म से नहीं। मेरे ऐसा कहने पर तुम्हें सन्देह हो रहा है।

"यदि जीवत्व के समान भव्य-भाव भी स्वाभाविक हो तो वह भी जीवत्व के समान नित्य होगा। भव्य भी नित्य होगा तो मोक्ष की कोई गुंजाइश न रह जायगी।

"जैसे घट का प्राग्भाव अनादि स्वभाव होता हुआ भी सांत माना जाता है, उसी प्रकार उपाय से भव्यत्व का भी अंत मान लें तो क्या दोष होगा ?

"(तुम ऐसा कह सकते हो कि) प्राग्भाव का उदाहरण नहीं मान सकते; क्योंकि वह तुच्छ है और जो तुच्छ होता है, वह उदाहरण के योग्य नहीं होता, जैसे खर-विषाण। पर, बात ऐसी नहीं है। कुंभ का प्राग्भाव अभाव नहीं; किन्तु वह भाव-रूप ही है, केवल घटानुत्पत्ति माव से विशिष्ट है।

"जिस तरह धान्य को निकाल देने पर कोष्ठागार शून्य होता है, उसी प्रकार यह संसार भी भव्यों से शून्य हो जायेगा, आपका यह कहना ठीक नहीं है। अनागत काल और अम्बर की तरह।

"'अतीत और अनागत काल तुल्य ही हैं, अतः भव्यों का अतीत काल के साथ एक अनंत भाग संसिद्ध होता है। उसी तरह यह बात आने वाले काल

के साथ भी उतनी ही युक्त है। इससे भी सभी भव्यों का समुच्छेद युक्त नहीं होगा। यह किस प्रकार सिद्ध होगा ? भव्यों का अनन्तत्व अथवा अनंत भाग कैसे मुक्त होगा ?' यह तुम्हारा मत ठीक नहीं है। हे मंडिक ! मेरा वचन होने से कालादि की तरह तुम इनको भी स्वीकार कर लो।

"ज्ञायक मध्यस्थ के वचन के समान और अतिरिक्त वचनों के समान मेरे वचन से, मेरी सर्वज्ञता आदि से तुम इसे सत्य मान लो। अगर तुम पूछो कि मैं 'सर्वज्ञ' कैसे हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि मैं सब की शंकाओं का निवारण करता हूँ। दृष्टांत के अभाव होने पर, जिसको जो संशय हो, वह मुझसे पूछ सकता है।

"तुम पूछ सकते हो कि, भव्य होने पर भी कितने जीव ऐसे हैं, जो समस्त काल में भी मोक्ष प्राप्त नहीं करते। उन्हें अभव्य कहा जाये अथवा भव्य ?

"इसका उत्तर यह है कि भव्य को मोक्षगमन योग्य कहा जाता है; परन्तु योग्यत्व से सभी भव्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते, जैसे स्वर्ण, मणि, पाषाण, चन्दन, काष्ठादि दलिक (अवयव) प्रतिमा योग्य हैं; पर उनके सभी खण्डों से प्रतिमा नहीं बनती; किन्तु जिसमें प्रतिमा बनने योग्य सामग्री होती है, उसी से वह बनायी जाती है।

"जैसे कि पत्थर और सोना का योग, वियोग के योग्य होने पर भी उनमें सब का पृथक्करण नहीं होता है; केवल उनका होता है, जिनकी सम्प्राप्ति होती है और मैं इतनी दृढ़ता के साथ कहता हूँ कि वियोग-सामग्री की प्राप्ति वियोग योग्य स्वर्ण-पाषाण का ही होता है, दूसरे का नहीं। उसी तरह सर्व-कर्म क्षयरूप मोक्ष नियमतः भव्यों को ही होता है। अन्य अभव्यों को नहीं। इस रूप में भव्याभव्य की व्यवस्था हो सकती है।

"तुम कहोगे कि कार्य होने से कुंभ की तरह मोक्ष नित्य नहीं हो सकता है। यहाँ तुम्हारा हेतु व्यभिचरित है; क्योंकि कार्य होने पर भी प्रध्वंसाभाव सभी वादियों से नित्य माना जाता है, अन्यथा फिर से घट की उत्पत्ति हो जायेगी। तुम कहोगे कि आपका यह उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं है। यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रध्वंसाभाव भी पूर्वकथित प्रागभाव की तरह कुंभ विनाश-विशिष्ट पुद्गलमय भाव ही है।

"पुद्गल मात्र के विनाश होने से नियमतः

"अनपराध व्यक्ति के समान मुक्त (जीव) बंधन के कारणों के अभाव में कभी बद्ध नहीं होता। (मन, वचन, काम के भोग आदि बंध के कारण बताये जाते हैं) शरीर आदि के अभाव में वे मुक्त के नहीं होते।

"बिना बीज के अंकुर के समान उसका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि कर्म ही उसका बीज है। वह कर्ममुक्त को हैं ही नहीं। इसलिए पुनरावृत्ति के अभाव में वह मोक्ष नित्य है।

"ऐसा तुम ऐसा कहो कि, द्रव्यमूर्तत्व से वह आकाश के सामान सर्वगामी हो जायेगा, तो यह नहीं कह सकते; क्योंकि सर्वगतत्व का अनुमान से बाध हो जाएगा, (असर्वगत आत्मा कृत्वात् कुलालवद्)।

"मोक्ष के नित्य मानने का आग्रह ही क्या? क्योंकि सभी वस्तुएँ उत्पत्ति, विनाश और स्थितिमय होती है। पर, केवल अन्य पर्याय से अनित्यादि व्यवहार होता है। (जिस तरह 'घट' 'मृतपिण्ड' पर्याय से विनष्ट है, 'घट' पर्याय से उत्पन्न है और 'मिट्टी' पर्याय से स्थित है। ऐसी दशा में जब जो पर्याय प्रधानतया विवक्षित होता है, उससे अनित्यत्वादि व्यवहार होता है।

"उसी तरह यह मुक्त भी 'संसार'-पर्याय से विनष्ट है और 'सिद्ध'-पर्याय से उत्पन्न और जीवत्व तथा उपयोग आदि पर्याय से स्थित होगा।'

"तुम पूछोगे कि समस्त कर्मरहित जीव का स्थान कौन-सा होगा। हे

सौम्य ! लोकांत ही उसका स्थान माना जाता है। 'कर्मरहित होने से चेष्टा के अभाव में आत्मा का लोकांत में जाना असम्भव है।' यह तुम नहीं कह सकते, क्योंकि कर्म के नष्ट होने पर आत्मा को—सिद्धत्व की तरह—अपूर्व गति परिणाम का लाभ हो जाता है।

"तुम पूछोगे कि (आकाश, काल आदि अमूर्त को निष्क्रिय मानते हैं तो फिर) अमूर्त आत्मा को सक्रिय नहीं मान सकते (और सक्रिय न मानने पर उसकी गति असिद्ध हो जायेगी) तो इस पर मैं कहता हूँ—हे मंडिक ! तुम्हीं यह बतलाओ—क्या भूलोक में अरूप वस्तु चेतन देखने में आती है, जिससे मुक्तात्मा को चेतन मानते हो अर्थात् अमूर्त होने से आकाश की तरह आत्मा को भी अचेतन ही प्राप्त हो जायेगा। जैसे आत्मा को अमूर्तत्व से आकाशादि की समता होने पर भी चैतन्यरूप एक विशेष धर्म भी माना जाता है, उसी तरह क्रिया भी मानी जायेगी।

"आत्मा सक्रिय माना जा सकता है, जैसे कि अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण कुम्भकार माना जाता है। वह यंत्र-पुरुष के समान सक्रिय है; क्योंकि उसके शरीर का परिस्पन्द होता है।

"(तुम्हारा यह विचार हो सकता है कि) आस्था के प्रयत्नों के फलस्वरूप देहस्पन्दन होता है; लेकिन अक्रिय आत्मा के साथ यह बात नहीं घटती है (या यह माना जा सकता है कि आत्मा के मूर्तमान होने पर वह कार्मण-शरीर ही कहलायेगा दूसरा नहीं और उसके स्पन्दन का कुछ कारण मानना पड़ेगा।) उसका भी दूसरा कारण, और उसका भी दूसरा कारण मानने से इस तरह अनवस्था हो जायेगी। चेतन वस्तु का, सम्भवतः प्रतिनियत प्रति-स्पन्दन ठीक नहीं।

"तुम कहोगे कि 'जो कर्मरहित है, उसकी क्रिया कैसे होगी', इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जीव सिद्धत्व को प्राप्त करता है, उसी तरह कर्मगति के परिणाम से उनमें क्रिया भी होती है।

"प्रश्न पूछ सकते हो कि, गति के कारण यदि मुक्तात्मा भी सक्रिय हैं तो वह सिद्धालय से भी परे क्यों नहीं जाता। इसका उत्तर यह है कि वह सिद्धालय से परे नहीं जा सकता; क्योंकि वह धर्मस्तिकाय—जो गति को रोकनेवाला है—लोक में ही है, अलोक में नहीं। इसलिए सिद्धों की गति अलोक में नहीं होती।

'जिस तरह शुद्धपद का अर्थ होने से 'घट' का विपक्ष 'अघट' माना जाता है, उसी तरह लोक का भी विपक्ष अलोक माना जायेगा। तुम कहोगे कि 'अलोक'-पद से घट-पटादि का ग्रहण क्यों नहीं होता; क्योंकि वे भी तो लोक से भिन्न हैं। पर, तुम ऐसा नही कह सकते; क्योंकि अलोक पद में 'नञ्' प्रत्यय प्रसज्ज अर्थ में नहीं है, किन्तु पर्युदास है। अतः, उसका विपक्ष अर्थ भी अनुरूप ही लेना चाहिए।

"लोक-परिच्छेद के कारण धर्माधर्म को मानना आवश्यक है अन्यथा आकाश'को साधारण होने पर 'अयं लोकः', 'अयंचालोकः' यह लोक और अलोक का व्यवहार कैसे होगा। और, यदि लोक-विभाग न होगा तो प्रतिघात के अभाव से और अनवस्था होने से अलोक में भी गमन होने से जीव और पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होने से जीवों का बंध, मोक्ष, सुख, दुःख, भव, संसरण आदि व्यवहार नही होंगे।

"जिस तरह जल से ऊपर मछली की गति नहीं होती, उसी प्रकार गति में अनुग्रह करनेवालों के अभाव से जीव और पुद्गलों की, लोक के बाहर, अलोक में गति नहीं होती। गमन में जो अनुग्रह करनेवाला है, वह धर्मस्तिकाय लोक-परिणाम ही है।

"जैसे ज्ञान ज्ञेय का परिमाणकारी (मापनेवाला) है; उसी प्रकार धर्मस्तिकाय लोक का परिमाणकारी है। लोक का परिमाणकारी तभी हो सकता है, जब कि अलोक का अस्तित्व माना जाये।

"'सिद्धों का स्थान' में जो षष्ठी विभक्ति है, वह कर्त्ता अर्थ में लेना चाहिए। अर्थात् 'सिद्ध कर्तृक स्थान' अर्थात् सिद्धों का रहना, ऐसा उसका

अर्थ होता है। इससे सिद्ध और उसके स्थान का भेद नहीं पर अभेद वि क्षित है। अर्थात् सिद्ध और सिद्ध के स्थान में कोई भेद नही है। वहाँ उसका पतन नही होता।

"यदि उसका अर्थ 'स्थान' करें भी, तो भी सिद्ध का पतन नहीं होग क्योंकि उसका स्थान आकाश ही होगा। वह तो नित्य है। उसका विना नहीं होता। अतः, मुक्त का पतन नहीं होगा। पतनादि क्रिया का कार कर्म है। मुक्त को तो कर्म का अभाव है, फिर उसकी पतन-क्रिया कैसे होगी

"यदि नित्यस्थान से पतन स्वीकार कर लें, तो व्योमादि का भी पत सिद्ध होगा और यदि उसे उस रूप में न माने तो 'स्थान से पात' य स्ववचनविरुद्ध होगा।

"ससार से ही सभी मुक्तात्मा सिद्ध होते हैं, अतः सभी सिद्धों में को पहला सिद्ध माना जायेगा? जिस तरह काल के अनादि होने से प्रथम शरी नहीं जाना जा सकता, उसी तरह काल के अनादि होने से पहला सिद्ध भ नहीं जाना जा सकता।

"सिद्धक्षेत्र के परिमित होने पर उसमें अनंत सिद्ध कैसे रहेंगे? इसक उत्तर यह है कि वे अमूर्त होते हैं और अपने एक ही आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुणों की तरह अमूर्त होने से परिचित देश में भी अनन्त सिद्धों का अवस्थान माना जा सकता है।

"तथ्य यह है कि तुम्हें वेदवाक्य 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययो पहति' का सही अर्थ नही ज्ञात है। इसलिए बंध और मोक्ष के संबंध मे तुम्हे शंका हो गयी है। वह तुम्हारी शंका ठीक नहीं है। सशरीरता ही बंध है और अशरीरता ही मोक्ष है, यह बात प्रकट है।

इस प्रकार शंका-निवारण हो जाने पर मंडिक ने अपने ४५० शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(७)

मौर्य

यह सुनकर कि उनके पूर्व जाने वालों ने दीक्षा ले ली, तीर्थंकर भगवान् के पास उनकी वंदना करके उपासना करने के विचार से मौर्य गये। उन को सम्मुख पहुँचा देख कर, भगवान् ने उनका नाम और गोत्र कह कर सम्बोधित किया और कहा—"तुम क्या विचार कर रहे हो। तुम्हें शंका है कि देव हैं या नहीं ? तुम्हें वेदवाक्यों[1] का सही अर्थ नहीं मालूम। उनका अर्थ इस प्रकार है।

टीकाकार ने इस संदर्भ में देवास्तित्व बतलाने के लिए निम्नलिखित वेद-वाक्य दिये हैं :—

(१) स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोक गच्छति

(२) अपाम सोमंअमृता अभूम अगमन् ज्योतिरविदाम देवान् किं नूनमस्तान् तृणवदरातिः किमु मूर्तिमतृतमर्त्यस्य....

देवों के अभाव को बतलाने वाला निम्नलिखित वेद वाक्य है

(३) को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान्द्रि-यम-वरुण कुवेरादीन्...

इन वेद वाक्यों का अर्थ तुम यह लगाते हो।

(१) "स एष यज्ञायुधी....' वह यज्ञ ही दुरितवारण क्षय (पापों को दूर करने में समर्थ) आयुध वाला यजमान अनायास स्वर्गलोक को जाता है।

(२) "अपाम सायमभृता..." हम लोग सोम लता रस को पी लिये। न मरने वाले हो गये और स्वर्ग को प्राप्त हो गये। देवत्व को प्राप्त हो गये। हम लोगों से ऊपर की तृणवत् व्याधि क्या करेगी। अमृतत्व प्राप्त पुरुष के लिए जरा-व्याधि आदि कर सकते हैं ?

(३) माया के तुल्य इन्द्र यम वरुण कुवेर आदि देवों को कौन जानता है।

"तुम मानते हो कि नारक तो परतंत्र है और दुःखी होने से हमारे सम्मुख नही आ सकते। अतः सुनकर ही उनके विषय में विश्वास किया जा सकता है; परन्तु देवता तो स्वच्छंदचारी और दिव्य प्रभावयुक्त होते हैं। पर, इतने पर भी वे दृष्ट नहीं होते। इसलिए देवों के विषय में तुम्हें संशय होता है।

"पर, मनुष्य से सर्वथा भिन्न जाति वाले देवों के सम्बन्ध में तुम शंका मत करो। तुम को यदि देखना ही है तो (मेरी वंदना के लिए इसी समवसरण में आये हुए भुवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक) चार प्रकार के देवो को प्रत्यक्ष देखो।

"पर, इसके पहले भी तुम्हें संशय नही करना चाहिए; क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव तो प्रत्यक्ष ही दिखते हैं। कुछ देवों के प्रत्यक्ष हो जाने पर सभी देवों के विषय में अस्तित्व की शंका क्यों? और, लोक में देव-कृत अनुग्रह और उपघात भी तो देखे जाते हैं।

"तुम्हारा मत है कि (सूर्य चन्द्रादि विमान) शून्य नगर की तरह आलय मात्र ही हैं। इसका उत्तर यह है कि उनमें रहने वाले सिद्ध ही देव माने जायेंगे; क्योंकि आलय सर्वदा के लिए शून्य कभी नही होते।

"तुम कहोगे कि 'कौन जानता है कि वह क्या होगा?' वे निःसंशय विमान ही हैं; क्योंकि वे रत्नमय हैं और नभोगामी हैं—जैसे विद्याधरों आदि देवों का विमान!"

"तुम यह सब कह सकते हो कि 'यह सब माया है,' तो उस माया को को जो करने वाले होंगे, वे देवता ही होंगे। और, यह सब माया मात्र नहीं है। यदि माया मात्र ही होते तो नगर की तरह सर्वदा उनकी उपलब्धि न होती।

"यदि बहुत पाप का फल भोगने वाले को तुम नारकीय मानते हो, तो बहुत पुण्य के फल का भोग करने वालों को तुम्हें देव मानना चाहिए।

"वे देवता दिव्य प्रेम में लगे हुए रहते हैं, विषय में फँसे रहते हैं, उनके कर्तव्य असमाप्त रहते है और मनुष्यों के कार्य उनके आधीन नही होते। अतः वे मनुष्यों के अशुभ भव में नहीं आते।

"जिन के जन्म, दीक्षा, केवल और निर्वाण के समय कुछ देवों को कर्तव्य समझ कर जगत में आना पड़ता है। कुछ भक्तिवश आते हैं। हे सौम्य! कुछ संशयविच्छेद की दृष्टि से आते हैं, कुछ पुर्वानुराग से आते है, कुछ समय-निबन्ध (प्रतिबोधादि निमित्त) से आते हैं, कुछ तपोगुण से आकृष्ट होकर आते हैं, कुछ नर को पीड़ा पहुँचाने आते हैं, कुछ अनुग्रह करने आते हैं और कुछ देव कंदर्प (काम) आदि के साथ (साधुओं की परीक्षा के लिए) आते हैं।

"हे सौम्य देवताओं की स्थिति निम्नलिखित स्थितियों से सिद्ध हो सकती है :—

(१) जातिस्मरण ज्ञान वाले पुरुष के कथन से (२) तपः प्रभृति गुणों से युक्त व्यक्ति के देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन से (३) विद्यामंत्र की सिद्धि से (४) ग्रहविकार से (५) उत्कृष्ट पुण्य का फल मिलने से (६) अभिधान सिद्धि से ('देव' नाम पड़ने से) (७) सभी आगमों में बताये जाने से।

अतः 'देव हैं', ऐसी श्रद्धा तुम्हें करनी चाहिए।

"जैसे 'घट' शब्द का कुछ अर्थ होता है, इसी प्रकार 'देव' शब्द भी सार्थक होने से किसी-न-किसी अर्थ को अवश्य बतायेगा। उसका जो अर्थ है, वह देव है। कुछ लोग कहेंगे कि, गुण ऋद्धि आदि से युक्त मनुष्य ही देव है, अदृश्य देव की कल्पना ही क्यों की जाये? पर, ऐसा नही हो सकता। मुख्य वस्तु के कहीं सिद्ध होने पर ही उसका उपचार होता है। मुख्य सिंह के कहीं होने पर ही, वटु में उसका उपचार किया जाता है।

"देवताओं के अभाव में अग्नि-होत्र दानादि स्वर्गीय फल निष्फल हो जायेंगे।

"देवाभाव में 'यम-सोम-सूर्य-सुरगुरु-स्वाराज्यानि जयति' वेदवाक्य वृथा सिद्ध होंगें और मंत्र के द्वारा इन्द्रादि देवों का आह्वान व्यर्थ सिद्ध होगा।

भगवान् के इन वचनों को सुनकर, जब मौर्य की शंका मिट गयी तो उन्होंने अपने ३५० शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(८)

अकम्पित

यह सुनकर कि मौर्यपुत्र आदि ने दीक्षा ले ली, आठवें गणधर अकम्पित भगवान् की वन्दना करने के विचार से भगवान् के पास आये। भगवान् ने उन्हें देखते ही, उनके नाम और गोत्र का उच्चारण करके उन्हें सम्बोधित किया और कहा कि—"तुम्हें शंका है कि नरक में रहने वाले लोग हैं या नहीं? लेकिन, तुमने वेदमंत्रों का सही अर्थ नहीं समझा है। विरुद्ध वेद[१] पदों के सुनने से तुम्हें शंका हो गयी है।

"तुम ऐसा मानते हो कि चन्द्रादि देव प्रत्यक्ष हैं और विद्यामंत्रादि द्वारा फल की सिद्धि करने वाले अन्य देव भी माने जा सकते हैं। पर, नारकों की

१—यहाँ टीकाकार ने दो पद किये हैं।

(अ) 'नारको वै एप जायते यः शूद्रान्नमश्नाति...' अर्थात् जो ब्राह्मण शूद्रान्न को खाता है, वह नारकीय होता है।

(आ) 'न ह वै प्रेत्या नारकाः सन्ति...' अर्थात् मर की कोई नारकी नहीं होते।

तो केवल चर्चा सुनी जाती है। प्रत्यक्ष और अनुमान से भी न उपलब्ध होने वाले (तिर्यक्, नर, अमर से सर्वथा भिन्न) देवताओं से भिन्न नारकीय कैसे माने जायेंगे ?

"नारकों को भी जीव आदि के समान मान लो। वे मुझे प्रत्यक्ष हैं। क्या ऐसी बात है कि, जो स्वयं को प्रत्यक्ष हो, वही है और जो दूसरों को प्रत्यक्ष हो, वह है ही नहीं ! जो चीज किसी एक को भी प्रत्यक्ष होती है, उसे सम्पूर्ण जगत प्रत्यक्ष मान लेता है। जैसे सिंह सब को प्रत्यक्ष न होने पर भी लोग उसे मान लेते हैं।

"या इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष हो, क्या वही प्रत्यक्ष है ? उपचार मात्र से वह प्रत्यक्ष है। परन्तु तथ्य तो इन्द्रियातीत है।

"इन्द्रियाँ घट के समान मूर्त (अचेतन) हैं। अतः वे उपलब्धि (ज्ञान) के लिए अशक्य हैं। इन्द्रियाँ तो केवल उपलब्धि में द्वार हैं। और, ज्ञान करने वाला तो जीव है।

"जैसे कि पाँच खिड़कियों से पाँच वस्तुओं को देखने वाला व्यक्ति पाँचों खिड़कियों से भिन्न माना जाता है, उसी प्रकार जीव इन्द्रियों से भिन्न है। इन्द्रियाँ जब कार्यरत नहीं होती, उस समय भी स्मरण से, जीव उपलब्ध कर सकता है। और, यदि जीव ही अन्यमनस्क हो, तो इन्द्रियों के कार्यरत रहने पर भी कुछ ग्रहण नहीं होता।

"सभी आच्छादनों के नष्ट हो जाने पर, इन्द्रिय-रहित जीव, अधिक वस्तुओं को जानता है, जैसे कि घर से बाहर आया हुआ व्यक्ति घर में रहने वाले की अपेक्षा अधिक पदार्थों को देखता है।

"जिस तरह कृतकत्व हेतु से, केवल घट में अनित्यता की सिद्धि होती है, उसी तरह चक्षुरादि इंद्रिय के शक्ति-विशेष रूप-धर्म से अनंत धर्म वाले वस्तु के केवल रूपादि एक धर्म मात्र का ज्ञान होता है।

"पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण से, जिस प्रकार धुएं के द्वारा अग्नि

का ज्ञान होता है, उसी तरह अन्य निमित्त से इन्द्रिय जीवात्मा के ज्ञान में निमित्त मात्र है।

"केवल-ज्ञान मनः-पर्याय-ज्ञान, और अवधिज्ञान से रहित आत्मा के सभी ज्ञान अनुमान मात्र ही हैं। वस्तु के साक्षात्कार करने से, केवलादि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष माने जाते हैं। नरक को सिद्ध करने में, जब प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाण हैं, तब नारकों का अस्तित्व न मानना ठीक नहीं है।

"प्रकृष्ट फल के भोगने वालों को जिस तरह 'देव' कहते हैं, उसी तरह प्रकृष्ट पाप के फल को भोगने वाले को 'नारकी' कहा जा सकता है। यदि तुम्हारी ऐसी मति हो कि जो अत्यन्त दुःखी हैं, उन तिर्यंच और पक्षियों को ही नारकी कहा जाये तो यह ठीक नहीं होगा; क्योंकि जिस तरह देवता लोग प्रकृष्ट पुण्य फल का उपभोग करने वाले होते हैं, उस तरह प्रकृष्ट पाप के फल प्रकृष्ट दुःख के भोक्ता भी होंगे ही।

"हे अकम्पित ! मेरा वचन होने से, अन्य वातों की तरह इस बात को भी सत्य मानो। तुम जिसे सर्वज्ञ मानते हो और उनके वचन को जिस रूप में तुम सत्य मानते हो उसी प्रकार मेरे वचन को भी सत्य मानों; क्योंकि मैं भी सर्वज्ञ हूं।

"मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सत्य अव्यभिचारी है; क्योंकि मैं भय, राग, द्वेष, मोह आदि से मुक्त हूँ। इसलिए तुम मेरे वचन को ज्ञायक मध्यस्थ की तरह सत्य समझो।

"तुम पूछ सकते हो कि आपको सर्वज्ञ क्यों मानूं, तो इसका उत्तर यह है कि मैं समस्त शंकाओं का निवारण करता हूँ और भय, राग आदि दोषों से मुक्त हूँ।"

"इस प्रकार शंका के निवारण हो जाने पर अपने ३०० शिष्यों के साथ उन्होंने दीक्षा ले ली।

(९)

अचलभ्राता

अन्य लोगों के दीक्षा लेने की बात सुनकर, अचलभ्राता वन्दना करने के विचार से तीर्थंकर महावीर स्वामी के पास गये। भगवान् ने उन्हें भी नाम और गोत्र का उच्चारण करके सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हे शंका है कि पाप और पुण्य हैं या नहीं। लेकिन तुम्हें वेदवाक्यों[१] का सही अर्थ ही ज्ञात नहीं है। इसलिए तुम्हें संशय हो रहा है।

"पाप-पुण्य के सम्बन्ध में पाँच मत हैः—

(१) 'पुण्यमेवैकमस्ति न पापम्'—केवल पुण्य ही है, पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है।

(२) 'पापमेवैकमस्ति न तु पुण्यम्'—केवल पाप ही है, पुण्य नाम की कोई वस्तु नहीं है।

(३) उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपं मेचकमणिकल्पं संमिश्रसुख-दुःखाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यापापाख्यमेकं वस्तु'—पुण्य-पाप नाम की एक वस्तु मेचकमणि की तरह परस्पर अनुविद्ध-स्वरूपवाली और मिश्रित सुख-दुःख फल को देनेवाली है।

(४) 'स्वतंत्र उभयं'—पुण्य और पाप एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

(५) 'मूलतः कर्मैवनास्ति, स्वभावसिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपंचः'—मूल रूप में कर्म ही नहीं है। यह सब स्वभावतः होता है और यह सब पुण्य-पाप जगत के प्रपंच हैं।

१—यहाँ टीकाकार निम्नलिखित वेदपद का उल्लेख किया है :—

"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वम्....."—

"तुमने पाँचों कारण सुन लिये। तुम पाँचों के संशयरूप दोला पर आरूढ हो। और, इस प्रकार पाप-पुण्य के सम्बन्ध में शंकाशील हो।

"पुण्य के उत्कर्ष से तरतम योग वाली शुभता होती है और उसके अपकर्ष से (शुभता की) हानि होती है। पथ्याहार की तरह, जब पुण्य का पूर्ण क्षय हो जाता है, तो मोक्ष मिलता है। (जिस तरह पथ्याहार की वृद्धि में आरोग्य की वृद्धि होती है, उसी तरह पुण्य की वृद्धि से सुख की वृद्धि होती है। जिस तरह पथ्याहार के क्रमशः त्याग में सरोगता होती है, उसी तरह पुण्य के अपचय में दुःख की उत्पत्ति होती है। और, जिस तरह सर्वथा पथ्याहार छोड़ने से मृत्यु होती है, उसी तरह सर्वथा कर्म-क्षय होने पर जीव का मोक्ष होता है—अर्थात् वह मर जाता है।)

"जैसे क्रमशः अपथ्य बढ़ाने से रोग की वृद्धि होती है, उसी तरह पाप की वृद्धि में दुःख बढ़ता है, और अत्यन्त पाप के बढ़ जाने पर नारक-दुःख होता है। जिस तरह अपथ्य के त्याग से क्रमशः आरोग्य-वृद्धि होती है, उसी तरह क्रमशः पाप की कमी से सुख की वृद्धि होती है। एकदम कमी होने पर देवलोक का सौख्य होता है। और, जिस तरह अपथ्याहार के सर्वथा परित्याग से परम आरोग्य उत्पन्न होता है, उसी तरह सर्व पापक्षय होने से मोक्ष होता है।

"पाप और पुण्य ये दोनों स्वतन्त्र नहीं हैं—दोनों एक दूसरे से संयुक्त हैं। और, उनके अपकर्ष अथवा उत्कर्ष से वे पाप-पुण्य के नाम से कहे जाते हैं।

"इसी प्रकार कुछ ऐसा मानेंगे कि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। और, इस जगत की उत्पत्ति स्वभाव से होती है, (इसका उत्तर यह है कि) जगत की उत्पत्ति स्वभाव से होती है, यह मानने योग्य नहीं है। वह स्वभाव कोई वस्तुरूप है, निष्कारणता है या वस्तुधर्म है? यदि (उसे वस्तुरूप मानें) तो आकाश-कुसुम के समान अनुपलब्ध होने से वह है ही नहीं।

"यदि वह अत्यन्त अनुपलब्ध है, तो स्वभाव क्यों कहा जाता है? 'कर्म'

क्यों नहीं ? स्वभाव के होने में तो हेतु लागू होता है, वह कर्म में भी लागू होता है। तो फिर कर्म और स्वभाव को समानार्थी मानें तो क्या दोष है ? और, प्रतिनियत आकारवाला होने से 'घट' की तरह वह कर्ता नहीं होगा। उस स्वभाव को मूर्त कहेंगे अथवा अमूर्त ? यदि मूर्त कहें तो नाम मात्र से ही होगा। यदि अमूर्त कहें तो वह ठीक उसी प्रकार कर्ता नही होगा, जिस तरह देहादि का कर्ता आकाश नहीं माना जाता। लेकिन, कार्य होने से उसको मूर्त ही मानना पड़ेगा और यदि मूर्त मानें तो भेद नाममात्र से रह जायेगा।

"और यदि स्वभाव निष्कारणता है, तो कारण की अपेक्षा नहीं होने से खरशृंग भी हो जाये।

"यदि उसे वस्तु-धर्म रूप में मानें तो वह कारण-कार्य से अनुमेय पुण्येतर नाम का कर्म और जीव का परिणाम-रूप माना जायेगा।....कारण होने से और देहादि के कार्य होने से, तुम भी अग्निभूति की तरह मेरे द्वारा बतलाये गये कर्म को मानो और देहादि तथा क्रियाओं की शुभाशुभता से स्वभावतः भिन्न जातीय पुण्य-पाप को भी मानो।

"कार्य होने से अवश्य सुख-दुःख का भोग्य मानना चाहिए। घट के परमाणु की तरह इनका (सुख-दुःख का) कारण पुण्य और पाप ही हैं।

"सुख-दुःख में पुण्य-पाप रूप कर्म कारण हैं। वह कर्म सुख-दुःखात्मक कार्य के सदृश्य ही होगा। ऐसी दशा में सुख और दुःख को आत्मपरिणामी होने से यदि अरूप मानें तो पुण्य पापात्मक कर्म भी अरूप होगा। यदि उसे रूपवाला मानें तो वह अनुरूप ही नहीं होगा।

"क्योंकि कारण न तो सर्वथा अनुरूप और न सर्वथा भिन्न ही होता है। यदि तुम कारण को सर्वथा अनुरूप और भिन्न भी मानो तो उसमें कार्यत्व, कारणत्व अथवा वस्तुत्व ही कैसे रहेगा ?

"यदि सब वस्तुएँ तुल्य अथवा अतुल्य हों, तो कारण में कार्यानुरूपता

कैसे आयेगी। जिससे कि कारण का कार्य स्वपर्याय है और अकार्यरूप जितने पदार्थ हैं, वे कारण के परपर्याय होते हैं।

"क्या जिस तरह मूर्त-अमूर्त का कारण है, उसी तरह सुखादि का पुण्य-पाप रूप कर्म भी मूर्त ही कारण होगा ? जिस तरह प्रत्यक्ष ही सुख आदि के कारण अन्न, माला, चन्दनादि होते हैं, उसी तरह से कर्म भी सुख-दुःख का कारण होगा।

"(विरोधी तर्क कर सकता है) प्रत्यक्ष दृष्ट अन्नादि को ही, सुख आदि का कारण मानें तो फिर कर्म का क्या प्रयोजन है ? तुल्य अन्नादि साधन-वाले पुरुषों को भी सुख-दुःखात्मक फल में अन्तर रहता है। एक ही अन्न खाने से किसी को आह्लाद और किसी को रोगादि की उत्पत्ति होती है। इस दशा में वह फल सकारण माना जायेगा। फल-भेद में जो कारण है, वह अदृष्ट कर्म है।

"(तुल्य साधन होने पर कर्म के द्वारा, जिससे फल-भेद होता है) वह घट के समान मूर्त है; क्योंकि शरीरादि में बल को देनेवाला मूर्त ही होता है अथवा देहादि कार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए।

"(इस पर परपक्ष वाला कहेगा) क्या देहादि के मूर्त होने से वह कर्म मूर्त है ? या सुख-दुःख का कारण होने से वह अमूर्त है ?

"(इस प्रश्न का उत्तर यह है कि) सुखादि का कारण केवल कार्य ही नहीं है, परन्तु जीव भी उसका (समवायि) कारण है—कर्म को समवायिकार मानें तो इसमें क्या दोष होगा ?

"इस तरह स्वभाववाद का निराकरण करने पर, कर्म में सुख-दुःख कारणत्व और रूपित्व को सिद्ध हो जाने पर, तुम्हारा यह कहना कि केवल पुण्य के अपकर्ष से दुःख का बाहुल्य होता है, अयुक्त हो जाता है।

"सुख-दुःख का बाहुल्य पुण्य के अपकर्ष से नहीं होता है, किन्तु अपने

अनुरूप कर्म के प्रकर्ष से होता है; क्योंकि पीछे वेदना प्रकर्ष का अनुभव रूप होने से, जैसे स्वानुरूप कर्म प्रकर्षजनित सौख्य प्रकर्ष का अनुभव !

"बाह्य साधन के प्रकर्ष के कारण यह इस रूप में है। अन्यथा उसे बाह्य अथवा विपरीत साधन-बल की आवश्यकता न होती।

"देह मूर्त होने से, पुण्योत्कर्ष की तरह अपचय कृत नहीं है। पुण्यापचय मात्र से देह को उत्पन्न मानें तो वह हीनतर और शुभ ही होगा। महान् और अशुभतर कैसे होगा ?

"वही (तर्क) विपरीत-रूप में सर्व पाप मानने वालों के साथ दिया जा सकता है। कारण के अभाव होने से संकीर्ण स्वभाव पुण्य-पापात्मक कर्म नहीं माना जा सकता।

"कर्म योग निमित्त होता है। और, वह योग एक समय में शुभ अथवा अशुभ हो सकता है। लेकिन, वह उभयरूप कभी नहीं होता। इस प्रकार कर्म को भी मानना चाहिए।

"मन, वाक् और काया के योग शुभ-अशुभ एक समय में दिखलायी पड़ते हैं। यह मिश्रभाव द्रव्य मे होता है—भावकरण में नहीं।

"ध्यान या तो शुभ होता है, या अशुभ। मिश्र कभी नहीं होता, क्योंकि ध्यान के बाद लेश्या शुभ या अशुभ ही होती है। इसी प्रकार कर्म भी या शुभ होगा या अशुभ होगा।

"पूर्वगृहीत कर्म-परिणाम वश से सम्यक् मिथ्यात्व पुंजरूपता को प्राप्त करायेगा अथवा समकत्व अमिथ्यात्व को प्राप्त करायेगा। ग्रहण-काल में फिर पुण्य-पाप-रूप संकीर्ण-स्वभाव कर्म नही बांधता और न तो एक को अपर-रूपता प्राप्त कराता है।

"आयुष्क दर्शनमोह और चरित्रमोह को छोड़कर अतिरिक्त प्रकृतियों को उत्तर प्रकृति रूपों का संक्रम भाज्य है।

"जिसके शुभ वर्णादि गुण होते हैं और जिसका शुभ परिणाम होता है, उसे पुण्य कहा जाता है। जो इस पुण्य से विपरीत है, वह पाप है। दोनों ही न तो बहुत बड़े हैं और न बहुत सूक्ष्म हैं।

"पुण्य-पापात्मक कर्म के योग्य ही, कर्म वर्गणागत अयोग्य द्रव्य को ग्रहण करता है; किन्तु परिणाम आदि औदारिक वर्गणागत अयोग्य द्रव्य को नहीं ग्रहण करता है और एक क्षेत्र में स्थित द्रव्य को ही ग्रहण करता है। अन्य प्रदेश-स्थित को नहीं—जैसे कि देह में तेल आदि को लगानेवाला पुरुष धूल को ग्रहण करता है। उसी तरह रागद्वेष से युक्त स्वरूपवाला जीव भी ग्रहण करता है अथवा नहीं ?

"पुद्गल से भरे हुए लोक में स्थूल और सूक्ष्म कर्म का विभाजन ठीक है; लेकिन उसी के साथ कर्म ग्रहणकाल में शुभाशुभ का विवेचन कैसे सम्भव है ?

"वह अविशिष्ट है, इसमें शंका नहीं है। लेकिन, परिणाम और आश्रय के स्वभाव से शीघ्र ही वह शुभाशुभ करता है—जिस प्रकार जीव आहार को।

"जिस प्रकार तुल्य ही आहार-परिणाम और आश्रय गाय में दूध उत्पन्न करता है और विषधर में विष, उसी प्रकार पाप-पुण्य का परिणाम भी है।

"एक शरीर में एक प्रकार का आहार लिया जाता है। उसमें से सार और असार दोनों परिणाम तत्काल होते हैं। अपना शरीर उस भोज्य पदार्थ का रस, रक्त, मांस रूप, सार-तत्त्व में और मल-मूत्र आदि असार तत्त्व के रूप में परिणित कर देता है—यह सर्वसिद्ध है। इसी प्रकार एक जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणाम के द्वारा-पुण्य और पाप के रूप में परिणित करता है।

"सात (सुख) सम्यक्त्व, हास्य, पुरुष-रति, शुभायुनाम और गोत्र यह सब पुण्य है। शेष को पाप जानना चाहिए। चाहे वे तत्काल फल देनेवाली हों या न हों।

"पुण्य-पाप के अभाव में, स्वर्ग की कामना के लिए निश्चित अग्निहोत्रादि कर्म व्यर्थ हो जायेंगे। तत्संबंधी सर्व दानादि फल भी व्यर्थ हो जायेगा।

"इस प्रकार शंका-समाधान हो जाने पर ३०० शिष्यों के साथ उन्होंने दीक्षा ले ली।

(१०)

मेतार्य

अपने पहले गये लोगों के दीक्षा लेने की बात सुनकर, मेतार्य भगवान् के पास वंदना करने के विचार से गये। उन्हें देखते ही भगवान् ने उनका नाम और गोत्र उच्चारित करके उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हें शंका है कि परलोक है या नहीं। तुमने विरुद्ध-वेदों[१] को सुना है। इसीलिए तुम्हे शंका है।

"यदि तुम मानते हो कि जैसे मद्यांग में मद्य का अंश है, उसी प्रकार भूतधर्म में चैतन्यता है। इससे तुम्हारा मत है कि भूतों के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जायेगा और इस प्रकार परलोक न होगा।

"यदि इसके भिन्न भी हो (यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न भी माना जाये) तो उस अवस्था में भी (चैतन्य में) नित्यत्व नही होगा। अरणी से भिन्न विनाशधर्म वाली अग्नि की तरह।

"यदि (जीव) एक, सर्वगत और निष्क्रिय हो, तो भी परलोक सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि, सर्व पिण्डों में संसरण के अभाव में यह व्योम के समान होगा।

"इस लोक से भिन्न यदि सुर-नारकादि के रहने के लिए परलोक है, ऐसा माने तो भी अप्रत्यक्ष होने से वह सिद्ध नहीं होगा। पर, श्रुतियों में उसके बारे में सुना जाता है, अतः शंका उत्पन्न होती है।

टीकाकार ने यहाँ दो मंत्र दिये हैं :—

१—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य....

२—तेपांचार्यं ना जानासि....

"भूतों और इन्द्रियों से अतिरिक्त में चेतना होती है। वायुभूति के समान तुम भी यह मान लो। जातिस्मरण से, वह आत्मा द्रव्य की अपेक्षया नित्य है।

"लक्षण आदि के भिन्न-भिन्न होने से न तो वह (जीव) एक है, न सर्वगत है और न निष्क्रिय है। किन्तु, घट आदि के समान वह अनन्त हैं। इस बात को इन्द्रभूति के समान तुम भी मान लो।

"हे सौम्य ! यह मान लो कि इस लोक से भिन्न परलोक और उसमें सुर और नारकों का निवास है। मौर्य और आकम्पित की तरह विहित प्रमाणों से तुम भी इसे स्वीकार कर लो।

"जीव विज्ञानमय है और विज्ञान अनित्य है। अतः परलोक न होगा। यदि उसे विज्ञान से भिन्न कहें तो वह आकाश के समान अनभिज्ञ होगा। इसी कारण, वह जीव न तो कर्ता होगा और न भोक्ता होगा। इस रूप में भी परलोक सिद्ध नहीं होता। जो आकाश के समान अज्ञान और अमूर्त है, वह जीव संसरण नहीं करेगा।

'चेतना की भी यदि उत्पत्ति आदि होने से घट के समान विनाश मानो तो, हे सौम्य ! उसके अविनाशत्व में भी वही कारण होगा।

"जैसे उत्पत्तिवाला होने के कारण कुम्भ वस्तु होने से एकान्त विनाशी नहीं होता, उसी तरह यह विज्ञान भी एकान्त विनाशी नही है।

"रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, संस्थान, द्रव्य-शक्ति से कुम्भ बनता है। वे सब के सब प्रसूति (उत्पत्ति) व्यवच्छित्त (व्यय) और ध्रौव्य धर्म वाले हैं।

"इस लोक में पिंडाकार शक्ति-पर्याय के विनाश-काल में ही कुम्भकार शक्तिपर्याय रूप से पिंड उत्पन्न हो जाता है। रूपादि द्रव्य पर्याय से न तो वह उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। इससे वह नित्य होगा। इसी प्रकार सभी पदार्थ उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाले होते हैं। अतः एकान्ततः नित्य अथवा अनित्य किसी को भी नहीं कह सकते।

"घट-विषयक विज्ञान-रूप से नाश और पट-विषयक विज्ञान से उत्पाद तुल्य काल में होता है। और, चेतना-संतान से उसकी अवस्थिति होती है। इस तरह जैसे इस लोक में वर्तमान जीव को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों स्वभावतः दिखलाये गये, उसी तरह परलोकवासी जीवों के भी ये तीनों मानने चाहिए। इस लोक में मनुष्य का नाश और सुरादिलोक में उसका उद्भव दोनों एक साथ ही होता है। जब मनुष्य मर कर सुरलोकादि में उत्पन्न होता है, तब मनुष्य-रूप इह लोक का नाश और तत्काल में ही सुरादि परलोक का उत्पाद और जीव-रूप से उसका अवस्थान होता है! उस जीवात्वावस्था में इहलोक परलोक की विवक्षा नहीं होती। किन्तु, निष्पर्याय जीव द्रव्य मात्र ही विवक्षित होता हैं। अतः उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य स्वभावतः होने पर जीव का परलोक भाव नहीं होता।

"जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि उसकी उत्पत्ति हो तो खरविषाण की भी उत्पत्ति होगी। जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं होता। सर्वथा विनाश होने से क्रमशः सर्वोच्छेद हो जायेगा।

"अतः जीव का मनुष्यत्वादि धर्म से विनाश और सुरत्वादि धर्म से उत्पाद् होता है। इसे सर्वोच्छेद तो नहीं माना जा सकता। यदि सर्वोच्छेद मानें तो सभी व्यवहारों का विनाश हो जायेगा।

"यदि परलोक न माना जाये तो स्वर्ग की कामना से किये गये अग्नि-होत्रादि और दानादि फल लोक में असम्बद्ध हो जायेंगे।"

इस प्रकार शंका समाधान हो जाने पर, उन्होंने भी अपने ३०० शिष्यों के साथ दीक्षा ले ली।

(११)

प्रभास

यह सुनकर कि अन्य सभी ने दीक्षा ले ली, प्रभास भगवान् के प्रति आदर प्रकट करने और उनकी वंदना करने के विचार से तीर्थंकर के पास गये। उन्हें देखकर तीर्थंकर ने उनका नाम और गोत्र उच्चरित करके उन्हें सम्बोधित किया और कहा—"तुम्हे इस सम्बन्ध में शंका है कि निर्वाण है या नहीं। तुम वेद-वाक्यों[1] क्या अर्थ नही जानते। उनका अर्थ इस प्रकार है।

"तुम क्या मानते हो कि, जिस तरह दीप का नाश दीप का निर्वाण[2] कहा जाता है, उसी तरह जीव का निर्वाण क्या जीव का नाश है। अनादि होने से आकाश की तरह जीव-कर्म-सम्बन्ध का विच्छेद नही होने से संसार का अभाव (विनाश) कभी नहीं होगा। तुम मंडिक की तरह जीव और कार्य के सम्बन्ध का विच्छेद स्वीकार कर लो। तुम इसे भी ज्ञान-क्रिया से स्वर्ण के धातु-पाषाण वियोग की तरह मान लो। तुम ऐसा मानते हो कि नारक, तिर्यंक, नर, अमर-भाव ही संसार है। इन नारकादि पर्याय से भिन्न दूसरा जीव कौन होगा ? ऐसी स्थिति में नारकादि भाव-रूप संसार के नाश होने पर, जीव के अपने स्वरूप का नाश हो जाने से, जब उसका सर्वथा विनाश ही हो जायेगा तो फिर मोक्ष किसका होगा ?

१—इस स्थल पर टीकाकार ने वेदवाक्यों का उल्लेख किया है :—

(अ) जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्

(आ) सैषागुहा दुरवगाहा

(इ) द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्म

२—राग-द्वेष-मद-मोह-जन्म-जरा-रोगादि दुःख क्षयरूप विशिष्ट अवस्था को निर्वाण कहते हैं— —टीकाकार

"पर, तथ्य यह है कि जिस तरह मुद्रा के नष्ट होने पर भी स्वर्ण का नाश नहीं होता, उसी प्रकार केवल नारकादि पर्यायों के नाश होने से जीव-द्रव्य का नाश नहीं होता। संसार कर्मकृत है। अतः कर्म के नाश होने से संसार का नाश हो सकता है। जीवत्व तो कर्म-कृत नहीं। फिर, कर्म के नाश होने पर जीवत्व का नाश कैसे ?

"विकार की उपलब्धि नहीं होने से, आकाश की तरह वह जीव विनाश धर्मवाला नहीं हो सकता। कुम्भ की तरह विनाशी पदार्थ के ही अवयव आदि विकार देखे जाते है।

"तुम यह नहीं कह सकते कि, कृतक होने से घट की तरह आत्मा भी कालान्तर-विनाशी है; क्योंकि प्रध्वंसाभाव इस लोक में कृतक होने पर भी नित्य माना जाता है।

"तुम्हारा दृष्टान्त ठीक नहीं है; क्योंकि खर-शृंग की तरह अभाव दृष्टांत नहीं हो सकता। पर, वह घट का प्रध्वंसाभाव पुद्गलमय घट-विनाश विशिष्ट भाव ही है।

"जिस तरह घट मात्र के विनाश होने पर, आकाश में कुछ नवीनता नही आती, उसी तरह पुद्गल-मात्र के विनाश होने पर जीव में कुछ नवीनता नहीं आती है। प्रत्युत जीव अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है। इसलिए, एकान्तकृतक नहीं मान सकते।

"मुक्तात्मा द्रव्य और अमूर्त होने से आकाश की तरह नित्य होता है। तुम कहोगे कि क्या आकाश की तरह आत्मा भी व्यापक हो जायेगा ? इसका उत्तर यह है कि अनुमान[१] से व्यापकत्व का निवारण हो सकता है।

"तुमको नित्यत्व का आग्रह ही क्या ? क्योंकि, सभी वस्तुएँ उत्पत्ति,

---

१—टीकाकार ने लिखा है यहाँ अनुमान इस रूप में हो सकता है—
त्वक्पर्यन्तदेहमात्रव्यापको जीवः, तत्रैव तद्‌गुणोपलब्धे, स्पर्शनवत्।

स्थिति और ध्रौव्य धर्मवाली ही है। केवल पर्यायान्तर मात्र से अनित्यादि का व्यवहार होता है।

"दीपक का सर्वथा विनाश नहीं होता। वह प्रकाश-परिणाम को छोड़कर अंधकार-परिणाम को धारण करता है, जिस प्रकार दूध दधिरूप परिणाम को धारण करता है, घट के कपालादि परिणामों के प्रत्यक्ष होने से सर्वथा नाश नहीं होता।

"तुम कहोगे कि, यदि अग्नि का सर्वथा नाश नहीं होता, तो साक्षात् दिखती क्यों नहीं। इसका उत्तर यह है कि परिणाम सूक्ष्मता से मेघविकार अथवा अंजनरज की तरह अग्नि का साक्षात्कार नही होता।

"पहले अन्य इन्द्रियों से गृहीत स्वर्णपत्र, लवण, सोंठ, हरड़, चित्रक, गुड़ादि समुदायों का फिर से अन्य इंन्द्रियों से ग्रहण होता है और नही भी होता। यह पुद्गल-परिणाम की विचित्रता है।

"जिस तरह वायु आदि के पुद्गल एक-एक इंद्रिय से ग्राह्य होते हैं, उसी तरह अग्नि पुद्गल भी पहले चक्षुग्राह्य होकर बाद में घ्राणेन्द्रिय-ग्राहकता को प्राप्त होते हैं।

"जिस तरह परिणामान्तर को प्राप्त होने से 'निर्वाण' शब्द का दीप के साथ व्यवहार होता है, उसी तरह कर्म-रहित केवल अमूर्त जीव-स्वरूप-भावरूप अबाध परिणाम को प्राप्त करते हुए, जीव में भी 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग होता है।

"ज्ञान की अबाधता से मुनि की तरह मुक्तात्मा को परम सुख होता है। आवरण-हेतु और बाध-हेतु के अभाव होने से आत्मा में अनाबाध प्रकृष्ट ज्ञान है।

"ऐसा कहा जा सकता है कि, ज्ञान कारणाभाव से मुक्तात्मा को आकाश की तरह अज्ञानी होना चाहिए। पर, ऐसा विचार ठीक नहीं है। उस दृष्टान्त से आत्मा का अचैतन्य होना सिद्ध होगा। अतः मुक्तात्मा में ज्ञान को माना जाता है।

"द्रव्यत्व और अमूर्तत्व की तरह स्वभाव और जाति से एक दम विपरीत अन्य जाति को आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती। यह बात वैसे ही है, जैसे आकाश जीवत्व को प्राप्त नहीं करता।

"इंद्रियाँ मूर्त होने से घट की तरह उपलब्धिवाली नही होतीं। इन्द्रियाँ तो उपलब्धि के द्वार हैं। उपलब्धि वाला तो जीव होता है। पाँच गवाक्षों से ज्ञान करनेवाला, जिस तरह उन पाँचों से भिन्न है, उसी तरह आत्मा भी इन्द्रियों से भिन्न है; क्योंकि इन्द्रियों के विनाश होने पर भी, वह स्मरण करता है। इन्द्रियों के व्यापार होने पर भी, अनन्यमनस्कता आदि के कारण कभी उपलब्धि नही होती है। अतः आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

"जीव ज्ञानरहित नही हो सकता, क्योंकि ज्ञान ही उसका स्वरूप है। ऐसी स्थिति में जैसे मूर्ति के बिना अणु नही होता, उसी तरह ज्ञान के बिना जीव भी नहीं हो सकता। अतः तुम्हारा यह कथन "अस्ति चासौ मुक्तो जीवः अथ च स ज्ञानरहितः" विरुद्ध है।

"तुम पूछोगे कि, वह जीव ज्ञान-स्वरूप है, इसका निश्चय कैसे कर सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि अपने देह में प्रत्यक्षानुभव से ही जीव ज्ञानस्वरूप जाना जा सकता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि हेतु से परदेह में भी जीव ज्ञान-स्वरूप जाना जा सकता है।

"इन्द्रियवाला जीव अंशतः आवरण-क्षय होने पर ज्ञानयुक्त होता है, तो अनिन्द्रिय जीव के सभी आवरणों के क्षय होने पर यह शुद्धतर अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्रकाशयुक्त माना जा सकता है—यह बात ठीक वैसी है, जिस तरह समस्त अभ्रावरण के विनाश होने पर सूर्य सम्पूर्णमय होते हैं। अतः प्रकाशमयत्व के होने से आत्मा में ज्ञान का अभाव नहीं माना जा सकता।

"इसी तरह जीव इन्द्रियरूप छिद्रों के द्वारा प्रकाश को देने से छिद्रावरण युक्त दीप के समान कुछ प्रकाश करता हुआ प्रकाशमय माना जाता है। और, मुक्तात्मा सभी आवरणों के विनाश होने से, घर से बाहर निकले हुए मनुष्य और आवरण से रहित दीप के समान अत्यन्त अधिक प्रकाशमय होता है।

सुख-दुःख पुण्य और पाप से होते हैं। अतः पुण्य-पाप के नाश होने पर सुख-दुःख के नाश हो जाने से, मुक्तात्मा आकाश के समान सुख-दुःख रहित हो सकता है। अथवा मुक्तात्मा देह इन्द्रियादि रहित होने से, आकाश के समान सुख-दुःख रहित होगा; क्योंकि सुख-दुःख प्राप्ति में आधार तो देह ही है।

"पाप के फल के समान, कर्मोदयजनित होने से पुण्य-फल भी दुःख ही है। इस पर कहा जा सकता है कि, तब तो पाप-फल भी सुख-रूप माना जायेगा। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने से प्रत्यक्ष विरोध होगा; क्योंकि अपने अनुभूत सुख-दुःख की दुःख-सुख-रूप से ज्ञान नहीं होता है।

"हे सौम्य! जिस कारण से दुःखानुभव के समय में सुख प्रत्यक्ष नहीं है और जो भी माला, चन्दन, अंगना, सम्भोगादि से उत्पन्न सुख है, वह भी दुःख का प्रतिकार-रूप होने से मूढ़ों में पामा (खुजली) कंडूयनादि की तरह सुख-रूप से जाना जाता है; किन्तु वस्तुतः वह दुःख ही है। अतः यह बात तुम सिद्ध मान लो कि पुण्य-फल भी दुःख ही है।

"विषय-सुख केवल दुःख के प्रतिकार-रूप होने से चिकित्सा की तरह दुःख ही है। लोक में केवल उपचार से सुख का व्यवहार होता है। बिना वास्तविक वस्तु के उपचार नहीं होता।

"अतः जो मुक्त का सुख है, वह दुःख के विनाश होने से और बिना प्रतिकार रूप होने से अनाबाध मुनि के सुख के समान सत्य है।

"जिस तरह यह जीव ज्ञानमय होता है और ज्ञानोपघाती आवरण होते हैं, इन्द्रियाँ अनुग्रहकारी होती हैं और सर्वावरण के विनाश होने पर ज्ञान-विशुद्धि होती है, उसी तरह यह जीव सुखमय है और पाप उस सुख का उपघातक है, पुण्य अनुग्रहकारी है और पुण्य-पाप सबके विनाश में सम्पूर्ण सुख प्राप्त होता है।

"और, जिस तरह कर्म के निवारण हो जाने से मुक्तात्मा सिद्धत्व आदि

परिणाम को प्राप्त करता है, उसी तरह उसी कर्मक्षय से संसारातीत सुख को भी प्राप्त करता है।

"सात और असात (सुख-दुःख) सब दुःख ही हैं। उस दुःख के सर्वथा क्षीण हो जाने पर सिद्ध को स्वाभाविक सुख मिलता है। अतः, देह और इन्द्रियों के न रहने पर, दुःख और देहेन्द्रिय के अभाव में सुख होता है।

"और, जो देहेन्द्रियजनित सुख को ही सुख माननेवाले हैं, उनको संसार-विपक्ष मोक्ष को प्रमाण से साध लेने पर 'निःसुखः, सिद्धः देहेन्द्रिया भावात्' यह दोष होगा। संसारातीत धर्मान्तर सिद्ध सुख माननेवालों के साथ दोष की यह बात लागू नहीं होती।

"कोई कहेगा कि, सिद्ध को यथोक्त सुख होगा, इस बात का क्या प्रमाण? इस सम्बन्ध में मैं कहता हूँ—ज्ञान के अनाबाध होने से ही, उनको यथोक्त सुख प्राप्त होता है। यदि आप ऐसा कहेंगे तो सिद्ध का सुख और ज्ञान भी चेतन-धर्म होने से राग की तरह अनित्य होगा।

"तुम कहोगे तपादि कष्टकारण अनुष्ठान-साध्य होने से सिद्ध के सुख और ज्ञान घट की तरह अनित्य माने जायेंगे। इसका उत्तर यह है कि, आवरण और बाधता के कारण के अभाव से, सिद्ध के ज्ञान और सुख का कभी विनाश न होने से, अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती और सभी वस्तुओं को उत्पाद, स्थिति, भग स्वभाववाली होने से अनित्यता दोष लागू नहीं हो सकता।

"और, मोक्ष के अभाव में, मुक्तावस्था में सर्वथा नाश मानने में और सुख के अभाव में 'न ह वै सशरीरस्य' इत्यादि श्रुतियाँ विरुद्ध हो जायेंगी।

"कोई कहेगा कि, शरीर का सर्वनाश होने पर, नष्ट जीव खर-विषाण-रूप है। उसको प्रियाप्रिय और सुख-दुःख यदि नहीं स्पर्श करते, तो इसमें दोष ही क्या है?

"इन वेद-वाक्यों के अर्थ को तुम अच्छी तरह नहीं जानते। उसको सुनो

जिस तरह 'अधनः' (निर्धन) कहने से विद्यमान देवदत्त के ही धन-निषेध विधान किया जाता है, उसी तरह इस श्रुति में 'अशरीर' के व्यवहार विद्यमान जीव के देह के अभाव की प्रतीति होती है। 'नञ्' को निषेधा होने से, उससे भिन्न और उसके सदृश, वस्तु की ही प्रतीति होती है! अ अशरीर पद से जीव ही लिया जा सकता है, खरशृंग नहीं।

"इस श्रुति का एक अर्थ यह है कि इस लोक के अग्रभाग में विद्यम को सुख-दुःख स्पर्श करते हैं और उसमें प्रयुक्त 'वा' से यह भी स्पष्ट है। देहधारी होने पर भी वितराग योगी को सुख-दुःख विशेष स्पर्श नहीं करते

"और, इस श्रुति में 'अथवा' अर्थ में और 'वाव' यह निपात 'अथवा' के अर्थ में है। अतः इसका अर्थ यह होगा कि अशरीर होने प मोक्षावस्था में विद्यमान जीव को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते और शरी धारी होने पर भी वीतराग को सुख-दुःख स्पर्श नही करते। और, इस श्रु में 'वावसन्तम्' में 'वाव' एक खंड है। 'अव' धातु का अर्थ 'ज्ञान' भी होत है। अतः इसका अर्थ यह होगा कि—"हे सोम्य! तुम इस तरह से समझ कि शरीररहित मुक्तावस्था में विद्यमान अथवा ज्ञानादि गुणों से विशि विद्यमान जीव को सुख-दुःख स्पर्श नही करते। 'वा' शब्द से सशरीर वीत राग योग को भी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।

"इस श्रुति में है 'अशरीरं वावसंतम्' यहाँ 'अकार' के लुप्त होने से 'न वसन्तमवसन्तं मवाप्य तिष्ठन्तम्' ऐसी व्याख्या करने से यह अर्थ सिद्ध होता है, मुक्त अवस्था में जीव नहीं रहता और जीव के असद् होने से ही उसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते। पर, तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि, इस श्रुति में अशरीर पद आया है *'न विद्यते शरीरं यस्य'* इस तरह पर्युदास-निषेध होने से मुक्त अवस्था में जीव विद्यमान है, यही संगत होगा। दूसरी बात यह कि 'स्पृशतः'—यहाँ 'स्पर्श' विशेषण भी विद्यमान वस्तु में ही लागू हो सकता है। यदि जीव खर-विषाण की तरह असद् हो, तो उसके स्पर्श करने की बात पूर्णतः असंगत हो जायेगी।

"तुम कहोगे कि मुक्त जीव हैं, इस बात को मैं मानता हूँ। और, जीव का कर्म वियोग रूप ही मोक्ष होता है। इससे जीव की सत्ता तो सिद्ध हो जाती है; परन्तु अशरीर होने से जीव में सुख और दुःख नहीं हो सकते हैं। तुम्हारा यह विचार भी ठीक नही है; क्योंकि वे सुख-दुःख समस्त पाप-पुण्य कर्म-रहित सकल संसार समुद्र के पार को प्राप्त करने वाले मुक्तात्मा को स्पर्श नहीं करते। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि, सिद्ध में सुख की हानि हो जायेगी। अनाबाध ज्ञान होने से राग द्वेष-रहित मुक्तात्मा को पुण्य जनित सुख और पाप जनित दुःख प्राप्त नहीं होते; किन्तु उस अवस्था में सकल कार्यक्षय जनित स्वाभाविक 'निष्प्रतीकार' निरुपम अप्रतिपाती सुख मनाने में कोई दोष नहीं।

जरा-मरण से मुक्त तीर्थंकर द्वारा इस प्रकार संशय दूर हो जाने पर प्रभास ने शिष्यों सहित दीक्षा ले ली।

卐

परिशिष्ट

—अर्थात् १८० मत क्रियावादी के, ८४ मत अक्रियावादी के, ६७ मत अज्ञानवादी के और ३२ मत विनयवादी के हैं। इन सब का योग ३६३ होता है।

क्रियावादी—क्रियावादी ऐसा मानते हैं कि, कर्त्ता के बिना पुण्यबंधादि लक्षण क्रिया नहीं होती। इसलिए क्रिया आत्मा के साथ समवाय-सम्बन्ध-वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, आत्मादिक नव पदार्थों को एकान्त अस्ति-स्वरूप से मानते हैं। उन क्रियावादियों के १८० भेद इस रूप में होते हैं। १ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ बंध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ पुण्य, ८ अपुण्य, ९ मोक्ष ये ९ पदार्थ हैं। इनमें हर एक के स्वतः, परतः, नित्य, अनित्य; काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव इतने भेद करने से यह १८० होता है। यह बात नीचे दिये चक्र से स्पष्ट हो जायेगी।

जीव

स्वतः		परतः	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१ काल	१ काल	१ काल	१ काल
२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर	२ ईश्वर
३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा	३ आत्मा
४ नियति	४ नियति	४ नियति	४ नियति
५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव	५ स्वभाव

इस प्रकार जैसे अकेले जीव के २० भेद हुए, उसी प्रकार अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, पुण्य, अपुण्य और मोक्ष सबके भेद-स्थापन करने से संख्या १८० हो जायेगी।[1]

१—जीवाइनवपयाणं अहो ठविज्जंति सयपरय सद्दा।
तेसिपि अहो निच्चानिच्चा सद्दा ठविज्जंति ॥८९॥
काल १ स्सहाव २ नियई ३ ईसर ४ अप्पत्ति ५ पंचविपयाई।
निच्चानिच्चाणमहो अणुक्कमेणं ठविज्जंति ॥९०॥

अक्रियावादी—अक्रियावादी की मान्यता यह है कि क्रिया पुण्यादिरूप नहीं है; क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है। परन्तु, स्थिर पदार्थ तो जगत में है ही नहीं; क्योंकि उत्पत्यनंतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। ऐसा जो कहते हैं, सो अक्रियावादी।

यह जो अक्रियावादी हैं, वे आत्मा को नहीं मानते।

उनके ८४ मत इस प्रकार होते हैं:—१ जीव, २ अजीव, ३ आश्रव, ४ संवर, ५ निर्जरा, ६ बंध, ७ मोक्ष यह सात पदार्थ के 'स्व' और 'पर' और उनके, १ काल, २ ईश्वर, ३ आत्मा, ४ नियति, ५ स्वभाव, ६ यदृच्छा इन ६ भेद करने से ८४ सिद्ध होगा। यहाँ नित्यानित्य दो भेद इसलिए नहीं माने जाते कि जब आत्मा आदि पदार्थ ही वे नहीं मानते, तो नित्य-अनित्य का भेद ही कहाँ ?[१]

१—इह जीवाइपयाइं पुन्नं पावं विणा ठविज्जंति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥६४॥
तस्सवि अहो लिहिज्जइ १ कालं १ जहिच्छा य २ पयदुगसमेयं।
नियइ १ स्सहाव २ ईसर ३ अप्पत्ति ४ इमं पय चउक्कं ॥६५॥

(पृष्ठ ३३४ की पादटिप्पणि का शेषांश)

जीवो इह अत्थि सओ निच्चो कालाउ इय पढमभंगो।
बीओ य अत्थि जीवो सओ अनिच्चो य कालाओ ॥६१॥
एवं परओऽवि हु दोन्नि भंगया पुव्वदुगजुया चउरो।
लद्धा कालेणेवं सहावपमुहावि पावंति ॥६२॥
पंचहिवि चउक्केहिं पत्ता जीवेण वीसई भंगा।
एवमजीवाईहिवि य किरियावाई असिइसयं ॥६३॥

—प्रवचन सारोद्धार, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४-१।

इसी प्रकार की व्याख्या आचारांगसूत्र सटीक पत्र १६-२, १७-१; सूत्रकृतांग सटीक, प्रथम भाग, पत्र २१२-२; स्थानांग सूत्र सटीक भाग १, पत्र २६८-१ पर भी दी है।

अज्ञानवादी—अज्ञान से ही कल्याण होता है। ज्ञान में झगड़ा होता है। पूर्ण ज्ञान किसी को होता नहीं। अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। ऐसी अज्ञानवादियों की मान्यता है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ९ पदार्थों के १ सत्व, २ असत्व, ३ सदसत्व, ४ अवाच्यत्व, ५ सदवाच्यत्व, ६ असदवाच्यत्व, ७ सदसदवाच्यत्व, ये ७ भेद करने से संख्या ६३ होती है। उत्पत्ति के सत्वादि चार विकल्प होते हैं। इस प्रकार ६३ और ४ मिलकर उनकी संख्या ६७ होगी।[1]

१—संत १ मसंतं २ संतासंत ३ भवत्तव्व ४ सयअवत्तव्वं ५।
असयअवत्तवं ६ सयवत्तव्वं ७ च सत्त पया ॥९९॥
जीवाइनवपयाणं अहोकमेणं इमाइं ठविऊणं ॥
जइ कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००॥
संतो जीवो को जाणइ? अहवा कि व तेण नाएणं?
सेसपएहिवि भंगा इय- जाया सत्त जीवस्स।
एवम जीवाईणऽविपत्तेयं सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह अन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति ॥२॥
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नायाए?।

(पृष्ठ ३३५ की पादटिप्पणि का शेषांश)

पढमे भंगे जीवो नत्थि सओ कालओ तयणु बीए।
परओऽवि नत्थि जीवो काला इय भंगगा दोन्नि ॥९६॥
एव जइच्छाईहिवि पएहिं भंगद्दुगं दुगं पत्तं।
मिलियावि ते दुवालस संपत्ता जीवतत्तेणं ॥९७॥
एवमजीवाईहिवि पत्ता जाया तओ उ चुलसीई।
भेया अकिरियवाईण हुंति इमे सव्व संखाए ॥९८॥
—प्रवचन सारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध पत्र ३४४-२
यही व्याख्या स्थानांग सूत्र पत्र २६८-२ आदि अन्य स्थलों पर भी है।

विनयवादी—"विनयेन चरन्तीनि वैनयिकः" विनयपूर्वक जो चले, वह विनयवादी होता है। तन विनयवादियों का लिंग (वेश) और शास्त्र नहीं होता। वे केवल मोक्ष मानते हैं। इनके ३२ भेद कहे गये हैं। १ सुर, २ राजा, ३ यति, ४ ज्ञाति, ५ स्थविर, ६ अधम, ७ माता, ८ पिता—इन आठों की १ मन से, २ वचन से, ३ काया से और ४ देश-काल-उचित दान देने से विनय करे। इस ८ और ४ के गुणा करने से ३२ होता है।[1]

आचारांग में भी चार वादों का उल्लेख है:—

से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी।

—आचारांग सूत्र, सटीक श्रु० १, अ० १, उ० १, पत्र २०–१

१—सुर १ निवइ २ जइ ३ णाई ४ थविरा ५ वम ६ माइ ७ पिइसु ८ एएसिं। [मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो किरए विणओ ॥५॥

अट्ठवि चउक्कगुणिया बत्तीस हवंति वेणइयभेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं तिन्नि सया हुंति तेसट्ठा ॥६॥

—प्रवचन सारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४–२।

ऐसा ही स्थानांग सूत्र सटीक पूर्वार्द्ध पत्र २६६–२ आदि स्थलों पर भी है।

(पृष्ठ ३३६ की पादटिप्पणि का शेषांश)

एवमसंती भावुप्पत्ती सदसत्तिया चेव ॥ ३ ॥
तह अव्वत्तव्वावि हु भावुप्पत्ती इमेहिं मिलिएहिं।
भंगाण सत्तसट्ठी जाया अन्नाणियाण इमा ॥४॥

—प्रवच सारोद्धार सटीक उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४–२।

ऐसी ही व्याख्या स्थानांग सूत्र सटीक पूर्वार्द्ध, पत्र २६८–२ आदि स्थलों पर भी है।

सभाष्य-चूर्णि निशीथ में निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों के उल्लेख हैं:—

१ आजीवग[1], २ ईसरमत[2], ३ उलूग[3], ४ कपिलमत[4], ५ कविल[5], ६ कावाल[6], ७ कावालिय[7], ८ चरग[8], ९ तच्चन्निय[9], १० परिव्वायग[10], ११ पंडरंग[11], १२ बोडित[12], १३ भिच्छुग[13], १४ भिक्खू[14], १५ रत्तपड[15], १६ वेद[16], १७ सक्क[17], १८ सरक्ख[18], १९ सुतिवादी[19], २० सेयवड[20], २१ सेयभिक्खु[21], २२ शाक्यमत[22], २३ हट्ठसरक्ख[23]।

बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित कुछ दार्शनिक विचार

दीघनिकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त में वर्णन है कि बुद्ध के काल में ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। उनमें १८ धारणाएँ 'आदि' के संबन्ध में और ४४ धारणाएँ 'अंत' के संबन्ध में थीं।[24]

१—निशीथ सूत्र सभाष्यचूर्णि— भाग १; पृष्ठ १५।
२—वही, ३; १९५। ३—वही, १; १५
४—वही, ३; १९५। ५—वही, १; १५।
६—वही, ४; १२५। ७—वही, ३; ५८५।
८—वही, १; २। ९—वही, ३; २४६, २५३।
१०—वही, १; १७। ११—वही, ३; १२३।
१२—वही, १; १५। १३—वही, १; ११३।
१४—वही, ३; ५८५। १५—वही, १; १७, ११३।
१६—वही, १; १५। १७—वही, १; १५।
१८—वही, ४; १२५। १९—वही, ३; ५८५।
२०—वही, १; ७८। २१—वही, ४; ८७।
२२—वही, ३; १९५। २३—वही, ३; ५८५।

२४—दीघनिकाय मूल (नालंदा) पृष्ठ १२ से ४०।
दीघनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) पृष्ठ ५ से १५।

तापस

औपपातिक सूत्र में[1] एक स्थल पर गंगा के तट पर बसे वानप्रस्था तापसों का उल्लेख आया है। उक्त सूत्र इस प्रकार है :—

से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई सड्ढई थालई हुंपउट्ठा दंतुक्खलिया उमज्जका सम्मज्जका निम्मज्जका संपक्खाला दक्खिणकूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधमका मिगलुद्धका हत्थितावसा उद्दंडका दिसापोक्खिणो वाकवासिणो अंबुवासिणो बिलवासिणो जलवासिणो वेलवासिणो रुक्खमूलिआ अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परिसडिय-कंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेअकढिणगायभूया, आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कट्ठसोल्लियंपिव...।...

इसकी टीका अभयदेवसूरि ने इस प्रकार की है :—

'गंगाकूलग' त्ति गंगाकूलाश्रिताः 'वानप्पत्थ' त्ति वने—अटव्यां प्रस्था-प्रस्थानं गमनमवस्थानं वा वानप्रस्था सा अस्ति येषां तस्यां वा भवा वान-प्रस्थाः— 'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथे' त्येवंभूततृतीयाश्रम-वर्त्तिनः — 'होत्तिय' त्ति अग्निहोत्रिकाः, 'पोत्तिय' त्ति वस्त्रधारिणः, 'कोत्तिय' त्ति भूमिशायिनः 'जन्नई' त्ति यज्ञयाजिनः, 'सड्ढई' त्ति श्राद्धाः, 'थालई' त्ति गृहीतभाण्डाः, 'हुंबउट्ठ' त्ति कुण्डिकाश्रमणाः, 'दंतुक्खलिय' त्ति फलभोजिनः, 'उम्मज्जक' त्ति उन्मज्जनमात्रेण ये स्नान्ति, 'संमज्जग' त्ति उन्मज्जनस्यैवा-सकृत्करणेन ये स्नान्ति, 'निमज्जक' त्ति स्नानार्थं निमग्ना एव ये क्षणं तिष्ठन्ति,

---

[1]—औपपातिक सूत्र, सूत्र ३८, पत्र १७०।१७१।

'संपक्खाल' त्ति मृत्तिकादिघर्षणपूर्वकं येऽङ्गं क्षालयन्ति, 'दक्खिणकूलग' त्ति यैर्गङ्गाया दक्षिणकूल एव वस्तव्यम्, 'उत्तरकूलग' त्ति उक्तविपरीताः 'संखधमग' त्ति शंखध्मात्वा ये जेमन्ति यद्यन्यः कोऽपि नागच्छतीति, व कूलधमग' त्ति ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते 'मियलुद्धय'त्ति प्रतीता एव, 'हत्थितावस'त्ति ये हस्तिनः मारयित्वा तेनैव बहुकालं भोजनतो यापयन्ति, 'उड्डंडग'त्ति उर्द्धीकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति, 'दिसापोक्खिणो'त्ति उदकेन, दिशः प्रोक्ष्य ये फलपुष्पादि समुच्चिन्वन्ति, 'वाकवासिणो'त्ति वल्कलवाससः, 'चेलवासिणो'त्ति व्यक्तं पाठान्तरे 'वेलवासिणो'त्ति समुद्रवेलासन्निधिवासिनः 'जलवासिणो'त्ति ये जलनिमग्ना एवासते, शेषाः प्रतीताः, नवरं 'जलाभिसेयकढिणगाया' इति ये अस्नात्वा न भुञ्जते स्नानाद्वा पाण्डुरीभूतगात्रा इति वृद्धाः पाठन्तरे जलाभिषेककठिनं गात्रं भूताः—प्राप्ताः ये ते यथा, 'इंगालसोल्लिय'त्ति अंगारैरिव पक्वं, 'कंडुसोल्लियं'त्ति कन्दुपक्वमिवेति...'

इस प्रसंग में निम्नलिखित तापस गिनाये गये है :—

१ होत्तिय—अग्निहोत्र करनेवाले
२ पोत्तिय—वस्त्रधारी तापस
३ कोत्तिय—भूमि पर सोनेवाले
४ जण्णई—यज्ञयाजिन
५ सड्ढई—श्राद्धिक तापस
६ सालई—अपना सामान साथ लेकर घूमनेवाले
७ हुंपउट्ठा—कुण्डिक सदा साथ में लेकर भ्रमण करनेवाले
८ दंतुक्खलिया—फलभोजी
९ उम्मज्जका—उन्मज्जन मात्र से स्नान करनेवाले
१० सम्मज्जका—कई बार गोता लगाकर सम्यक् रूप से स्नान करनेवाले,
११ निम्मज्जका—क्षण मात्र में स्नान कर लेने वाले
१२ संपक्खला—मिट्टी घिस कर शरीर साफ करने वाले

१३ दक्खिणकूलका—गंगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले
१४ उत्तरकूलका—गंगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले
१५ संखधम्मका—भोजन के पूर्व शंख बजाने वाले ताकि भोजन के समय कोई न आये
१६ कूलधमका—तट पर शब्द करके भोजन करने वाले
१७ मिगलुद्धका—पशुओं का मृगया करने वाले
१८ हत्थितावसा—ये लोग हाथी मार लेते थे और महीनों तक उसी का मांस खाते थे। इनकी चर्चा सूत्रकृतांग में भी आती है। आर्द्रकुमार से इन तापसों से भी भेंट हुई थी। उनका विचार है कि साल में एक हाथी मार कर हत्थितावस कम पाप करते हैं।
१९ उद्दण्डका—दण्ड ऊपर कर के चलने वाले
२० दिसापोक्खीण—चारों दिशाओं में जल छिड़क कर फल-फूल एकत्र करने वाले।
२१ वाकवासिण—वल्कलधारी
२२ अंबुवासिण—पानी में रहने वाले
२३ बिलवासीण—बिल (गुफाओं) में रहने वाले
२४ जलवासिण—जल में रहने वाले
२५ वेलवासिण—समुद्रतट पर रहने वाले
२६ रुक्खमूलिया—वृक्षों के नीचे रहने वाले
२७ अंबुभक्खिण—केवल जल पीकर रहने वाले
२८ वायुभक्खिण—केवल हवा पर रहने वाले
२८ सेवालभक्खिण—सेवाल खा कर रहने वाले
२९ मूलाहारा—केवल मूल खाने वाले
३० कंदहारा—केवल कंद खाने वाले
३१ तयाहारा—केवल वृक्ष की छाल खाने वाले
३२ पत्ताहारा—केवल पत्र खाने वाले

३३ पुप्फाहारा—केवल पुष्प खाने वाले

३४ बीयाहारा—केवल बीज खाने वाले.

३५ परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा—कंद, मूल, छाल, पत्ता, पुष्प, फल खाने वाले

३६ जलाभिसेयकढिणगायभूया—बिला स्नान भोजन न करने वाले

३७ आयावणाहिं—थोड़ा आतप सहन करने वाले

३८ पंचग्गितावेहिं—पंचग्नि तापने वाले

३९ इंगालसोल्लियं—अंगार पर सेंक कर खाने वाले

४० कंडुसोल्लिययं—तवे पर सेंक कर खाने वाले

४१ कट्ठसोल्लियं—लकड़ी पर पका भोजन खाने वाले

इस के अतिरिक्त औपपातिक सूत्र[1] में ही निम्नलिखित अन्य तापसों के भी उल्लेख मिलते हैं :—

१ अत्तुक्कोरिया—आत्मा में ही उत्कर्ष मानने वाले

२ भूइकम्मिया—ज्वरित आदि उपद्रव से रक्षार्थ भूतिदान करने वाले

३ भुज्जो-भुज्जो कोउयकारका—सौभाग्यादि के निमित्त स्नानादि कराने वाले कौतुककारक

उसी सूत्र में फुटकल रूप में कुछ तापसों के उल्लेख हैं :—

१ धम्मचिंतक—धर्मशास्त्र पाठक[2]

२ गोव्वइया[3]—गोव्रत धारण करने वाले

३ गोअमा[4]—छोटे बैल को कदम रखना सिखला कर भिक्षा माँगने वाले

४ गीयरई—[5]—गीत-रति से लोगों को मोहने वाले

१—औपपातिक सूत्र सूत्र ४१, पत्र १६६

२—वही ३८, पत्र १६८–

३—औपपातिक सूत्र, सूत्र ३८, पत्र १६८

४—वही „ सूत्र ३८ पत्र १६८

५—वही „ सूत्र ३८, पत्र १७१

औपपाति के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी कुछ तापसों के नाम मिलते हैं :—

१ चंडिदेवगा[1]—चक्र को धारण करने वाले, चंडी के भक्त,

२ दगसोयारिय[2]—सांख्य मत के अनुयायी जो पानी बहुत गिराते हैं।

३ कम्मारभिक्खु[3]—देवताओं की द्रोणी लेकर भिक्षा माँगने वाले

४ कुव्वीए[4]—कूर्चिकः, कूर्चन्धरः—दाढ़ी रखने वाले

५ पिंडोलवा[5]—भिक्षा पर जीवन-निर्वाह करने वाला

६ ससरक्ख[6] सचित्तरजोयुक्ते—(रजोयुक्त) धूलिवाला तापस

७ वणीमग—याचक। ठाणांगसूत्र ठाणा ५ उद्देशा ३ में पाँच वणीमग गिनाये गये हैं:—पंच वणीमगा पं० तं० अतिहिवणीमते किविणवणीमते माहणवणीमते साणवणीमते समणवणीमते

—सूत्र ४४६ पत्र ३३६-२

८ वारिभद्रक[7]—अब्भक्षाः शैवलाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनाभिरता या (पानी में ही कल्याण मानने वाले)

९ वारिखल[8]—परिव्राजकास्तेषां द्वादश मृत्तिकालेपा भोजन शोधनका भवन्ति।...(मिट्टी से बारह बार भाजन शुद्ध करने वाले)

१—सूत्रकृतांग, प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)

२—पिंडनिर्युक्ति मलयगिरि की टीका सहित, गाथा ३१४ पत्र ६८-१

३—बृहत्कल्पभाष्य ३, ४३२१, विभाग ४, पृष्ठ ११७०

४—वही १, २८२२, विभाग ३, पृष्ठ ७९८.

५—उत्तराध्ययन चूर्णि पत्र १३८

६—आचारांग सूत्र २, १, ६, ३

७—सूत्रकृतांग प्रथम भाग, पत्र १५४-१ (निर्युक्ति)

८—बृहत्कल्पभाष्य १, १७३८—विभाग २, पृष्ठ ५१२.

सूत्र कृतांग में आर्द्रकुमार से विभिन्न धर्मावलम्बियों के मिलने का उल्लेख आता है। उसमें गोशाला के धर्मावलम्बी, बौद्धभिक्षु वाची शाक्यपुत्रीयों, वैदिक, सांख्य मतवाले वेदान्ती, और हस्तितापस के उल्लेख हैं[1]।

निशीथसूत्र सभाष्यचूर्णि में निम्नलिखित अन्यतीर्थक श्रमण-श्रमणियों के उल्लेख हैं।

१ आजीवक[२], २ कप्पडिय[३], ३ कव्वडिय[४], ४ कावालिय[५], ५ कावाल[६], ६ कापालिका[७], ७ गेरुअ[८], ८ गोव्वय[९], ९ चरक[१०], १० चरिका[११], ११ तच्चनिय[१२], १२ तच्चणगी[१३], १३ तडिय[१४], १४ तावस[१५], १५ तिडंगी परिव्वायग[१६], १६ दिसापोक्खिय[१७], १७ परिव्वाय[१८], १८ परिव्राजिका[१९], १९ पंचगव्वासणीय[२०], २० पंचग्गितावय[२१], २१ पंडरंग[२२], २१ पंडर भिक्खु[२३], २२ रत्तपड[२४], २३ रत्तपडा[२५], २४ वणवासी[२६], २५ भगवी[२७], २६ वुढ्ढसावक[२८], २७ सक्क-शाक्य[२९], २८ सरकव[३०], २९ समण[३१], ३०, ३० हुड्ड सरकव[३२]

१—सूत्रकृतांग सटीक चूर्णि, भाग २, अध्ययन ६, पत्र १३५-१५८-१

३—निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृष्ठ ११८-२००

४— वही २; २०७,४५६ ५— वही. ३; १६८

६— वही २; ३८ ७— वही ४; १२५

८— वही ४; ६० ९— वही २; ३३२

१०— वही ३; १९५ ११— वही २; ११८,२००

१२— वही ४; ६० १३— वही ३; २५३, ३२५

१४— वही ४; ६० १५— वही २; २०७, ४५६

१६— वही २; ३, ३३२ १७— वही १; १२

१८— वही ३; १९५ १९— वही २; ११८,२००

२०— नही ४! ६० २१— वही ३; १९५,

२२— वही ३; १९५ २३— वही २; ११६

बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित ६ तीर्थंकर

जैन-ग्रंथों के समान ही बौद्ध-ग्रंथों में भी तात्कालीन समाज और धर्म का चित्रण मिलता है। बौद्धग्रंथों में बुद्ध के समकालीन ६ तीर्थंकरों का उल्लेख आता है और स्थान-स्थान पर उनके धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश डाला गया है। वे तीर्थंकर निम्नलिखित थे:—

(१) पूर्णकाश्यप (अक्रियावादी)
(२) मंक्खलि गोशाल (दैववादी)
(३) अजितकेशकम्बलि (जड़वादी, उच्छेदवादी)
(४) प्रक्रुद्ध कात्यायन (अकृततावाद)
(५) निगंठनाथपुत्र (चातुर्याम संवर)[१]
(६) संजय वेलट्ठिपुत्रका (अनिश्चितताावाद)[२]

देवी-देवता

भगवान् महावीर के काल में जिन देवी देवताओं की पूजा प्रचलित थी, इस पर जैन ग्रन्थों द्वारा अच्छा प्रकाश पड़ता है। आचाराङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्याय १, उद्देशा २ (पत्र २९८) में साधु के भिक्षाटन के प्रसङ्ग में कुछ पर्वों और देवी-देवताओं की पूजा का उल्लेख मिलता है :-

---

१–महावीर स्वामी पांच महाव्रत का उपदेश देते थे। यह चार की संख्या भ्रामक है।

२—दीघनिकाय (हिन्दी अनुवाद) सामञ्ञफलसुत्त पृष्ठ १६-२२

(पृष्ठ ३४३ की पादटिप्पणि का शेषांश)

२४— वही ३; ४१४
२५— वही १; ११३, १२१
२६— वही १; १२३
२७— वही ३; ४१४
२८— वही ४; ९०
२९— वही २; ११८
३०— वही २; ३, ११८
३१— वही ३; २४३
३२— वही २; ३३२
३४— वही २; २०७

"से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा 'असणं वा समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंधमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु या दहमहेसु वा नइमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समण माहणं अतिहि किवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतकडं जाव नो पडिग्गाहिज्जा ।।"

अर्थात् साधु अथवा साध्वी जब भिक्षाटन के लिए निकले, तो उनको निम्नलिखित परिस्थियों में भिक्षा स्वीकार न करनी चाहिए:

१ जब सामुदायिक भोजन हो, २ मृत भोजन हो, ३ इन्द्र ४ स्कन्द, ५ रुद्र, ६ मुकुन्द, ७ भूत, ८ यक्ष, या ९ नाग का उत्सव हो अथवा १० स्तूप, ११ चैत्य, १२ वृक्ष, १३ गिरि, १४ दरी, १५ कूप, १६ तालाब, १७ द्रह, १८ नदी, १९ सरोवर, २० सागर या २१ आकर (खान) का उत्सव हो अथवा इन प्रकारों के अन्य ऐसे उत्सव हों जब कि बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिकृपण तथा भिखमंगों को भोजन दिया जाता हो।

'नायाधम्म कहा' (१-८ पृष्ठ १००) में निम्नलिखित देवी-देवता गिनाये गये हैं:—

"इंदाण य खंदाण य रुद्दसिववेसमण नागाणं भूयाण य जक्खाण अज्जकोटिकिरियाणं"

१ इन्द्र, २ स्कान्द, ३ रुद्र, ४ शिव, ५ वेसमाण, ६ नाग, ७ भूत, ८ यक्ष, ९ अज्जा, १० कोटकिरिया।

'भगवती सूत्र' (शतक ३, उद्देशा १, सूत्र १३४, पत्र १९२) में निम्नलिखित देवी देवताओं के उल्लेख हैं:—

"........गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पाइस इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा जाव सत्थवाहं वा कागं साणं वाणं वा पाणं वा उच्चं पासइ उच्चं पणामं करेइ नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासति तस्स तहा पणामं करेइ......।

इस सूत्र में १ इन्द्र, २ स्कन्द, ३ रुद्र, ४ शिव, ५ कुबेर, ६ आर्या पार्वती, ७ महिषासुर, ८ चण्डिका, ९ राजा से लेकर सार्थवाह तक १० कौआ, ११ कुत्ता, १२ चाण्डाल आदि को प्रणाम करने की बात कही गयी है।

भगवती सूत्र (शतक ९, उद्देसा ६, सूत्र ३८३, पत्र ८४६-२) में एक स्थल पर और देवी-देवताओं की चर्चा मिलती है :—

"........किन्नं अज्ज खत्तियकुंडग्गामे नगरे इंदमहेइ वा खंदमहेइ वा मुगुंदमहेइ वा णागमहेइ वा जक्खमहेइ वा भूयमहेइ वा कूवमहेइ वा तडागमहेइ वा नईमहेइ वा दहमहेइ वा पव्वयमहेइ वा रुक्खमहेइ वा चेइयमहेइ वा थूभमहेइ वा जण्णं एए बहवे उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरव्वा खत्तियपुत्ता भडा भडपुत्ता जला उववाइए जाव सत्थयाहप्पभिइए ण्हाया कयबलिकम्मा जहा उववाइए जाव निग्गच्छंति ?,........"

इसमें १ इन्द्रमह, २ स्कन्दमह, ३ मुकुन्दमह, ४ नागमह, ५ यक्षमह, ६ भूतमह, ७ कूपमह, ८ तडागमह, ९ नदीमह, १० द्रहमह, ११ पर्वतमह १२ रुद्रमह, १३ चैत्यमह, १४ स्तूपमह का वर्णन है।

निशीथचूर्णि में एक स्थल पर निम्नलिखित महोत्सवों के उल्लेख मिलते हैं :—

पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा रुद्दमहेसु वा मुगुंद-महेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभ-महेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्ख-महेसु वा गिरि-महेसु वा दरिमहेसु वा अगड-महेसु वा तडाग-महेसु वा दह-महेसु वा णदि-महेसु वा सर-महेसु वा सागर-महेसु वा आगर- महेसु

वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु असणं वा पाणं वा साइयं वा पडिग्गाहेति पडिग्गाहेंतं वा सातिज्जति ॥

—निशीथचूर्णि सभाष्य सचूर्णि, विभाग २, पृष्ठ ४४३।

इसके अतिरिक्त उसी ग्रंथ में कुछ अन्य उत्सवों के भी नाम मिलते हैं:—

१ अट्ठहिमहिम,[१] २ कौमुदी,[२] ३ तलाग जण्णग,[३] ४ देवउलजण्णग,[४] ५ लेपग,[५] ६ विवाह,[६] ७ सक्क,[७]।

१ इन्द्रमह आषाढ़ पूर्णिमा को २ स्कन्दमह आसोज पूर्णिमा को ३ यक्षमह कार्तिक पूर्णिमा को ४ भूतमह चैत्रपूर्णिमा को मनाया जाता था।

ज्ञाता धर्मकथा (सूत्र २४, पत्र ४३-१) में निम्नलिखित उत्सवों के वर्णन हैं :—

"......अज्ज रायगिहे नगरे इंदमहेति वा खंदमहेति वा एवं रुद्दसिववेसमण नाग जक्ख भूय नई तलाय रुक्ख चेतियपव्वयउज्जाणगिरिजत्ताइ वा जओ णं वा बहवे उग्गा भोगा जाव एगदिसिं एगाभिमुहा णिग्गच्छंति,....."

इन्द्रोत्सव, स्कन्दोत्सव रुद्रोत्सव, शिवोत्सव, यक्षराट्-उत्सव, नाग-भवनपति देव विशेष उसका उत्सव, यक्षोत्सव, भूतोत्सव, नदी-उत्सव, तालाव-उत्सव, वृक्ष-उत्सव, चैत्योत्सव, पर्वतोत्सव उद्यान-यात्रा और गिरियात्रा का उल्लेख है।

अब हम इन पर पृथक्-पृथक् रूप में विचार करेंगे।

१—निशीथ सूत्र सभाष्य सचूर्णि, ३, १४१।
२—वही ४, ३०६।
३—वही २, १४३।
४—वही २, १४३।
५—वही ३, १४५।
६—वही १, १७; २, ३६६।
७—वही २, २४१।

इन्द्रमह

जैन-ग्रन्थों में ६४ इन्द्रों के उल्लेख हैं। हम उनका सविस्तार वर्णन पृष्ठ २३०-२३१ की पादटिप्पणि में कर आये हैं। उनमें से प्रथम देवलोक के इन्द्र शक्र का उत्सव इन्द्रमह है।

जैन-ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि इस देश का 'नाम' इस देश के प्रथम सम्राट् भरत के नाम पर पड़ा। वे ऋषभदेव के पुत्र थे।[1] इस देश में

१—प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायंभुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥
—भागवत खण्ड २, स्कंध ११, अध्याय २ पृष्ठ ७१० (गोरखपुर)।

वायुपुराण में भी यही परम्परा लिखी है—
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भारताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तं भारते वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
वायुपुराण अ० ३३, श्लोक ५२।

जैन ग्रन्थों में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। 'वसुदेवहिण्डी' में उल्लेख है—

इहं सुरासुरेन्द्रविदवंदियचलणारविंदो उसभो नाम पढमो राया जगप्पियामहो आसी। तस्स पुत्तसयं। दुवे पहाणाभरहो बाहुबली य। उसभसिरी पुत्तसयस्स पुरसयं च दाऊण पव्वइओ। तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इहं 'भरहवास' ति पवुच्चति।
—वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८६।

इन्द्र की पूजा उन्होंने ही प्रारम्भ की। 'त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित्र' में कथा आती है कि एक बार भरत ने इन्द्र से पूछा—

किमीदृशेन रूपेण यूयं स्वर्गेऽपि तिष्ठथ ?
रूपान्तरेण यदि वा कामरूपा हि नाकिनः ॥

—हे देवपति, क्या आप स्वर्ग में भी इसी रूप में रहते हैं या किसी दूसरे रूप में ? क्योंकि देवता तो कामरूपी (इच्छित रूप बनाने वाले) कहलाते हैं।

देवराजोऽब्रवीद् राजन्निदं रूपं न तत्र नः।
यत् तत्र रूपं तन्मर्त्यैर्न द्रष्टुमपि पार्यते ॥

—राजन्, स्वर्ग में हमारा रूप ऐसा नहीं होता। वहाँ जो रूप है, उसे तो मनुष्य देख भी नहीं सकते।

इन्द्र के इस उत्तर पर भरत ने इन्द्र के उस रूप को देखने की इच्छा प्रकट की तो इन्द्र ने उन्हें '···योग्यालंकार शालिनीम्। स्वांगुलीं दर्शयामास जगद्वेश्मैकदीपिकाम्' उचित अलंकारों से सुशोभित और जगत्-रूपी मन्दिर में दीपक के समान अपनी एक उँगली भरत को दी। राजा भरत उसे लेकर अयोध्या आये और वहाँ उस उँगली की स्थापना कर उन्होंने अष्टाह्निका उत्सव किया। (त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १, सर्ग ६, श्लोक २१४-२२५)

इन्द्र-पूजा के प्रारम्भ की यह कथा आवश्यकचूर्णी में भी इसी रूप में आयी है। उसमें उल्लेख है:—

ताहे सक्को भणति-एवं सपका तं माणुसेण दट्ठुं, ताहे सो भणति तस्स आकिति पेच्छामि, ताहे सक्का भणति-जेण तुमं उत्तमपुरिसो तेण ते अहं दाएमि एगपदेसं, ताहे एगं अंगुलि सव्वालंकारविभसितं काऊण दाएति, सो तं दट्ठूण अतीव हरिसं गतो, ताहे तस्स अट्ठाहियं महिमं करेति ताए अंगुलीए आकिति काऊण एस इंदज्झयो, एवं वरिसे वरिसे इंदमहो पवत्तो पढमउस्सयो। (पूर्वार्द्ध, पत्र २१३)

वसुदेव हिंडी (पृष्ठ १८४) में भी इसी रूप में इन्द्रमह का प्रारम्भ वर्णित है।

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' के शब्दों में कहिए 'इन्द्रोत्सवः समारब्धो लोकैरद्यापि वर्तते' तब से इस देश में इन्द्र की पूजा प्रचलित है।

निशीथचूर्णी (पत्र ११७४) में चार पर्वों—इन्द्रमह, स्कन्दमह, जक्ख-मह, भूयमह—के उल्लेख मिलते हैं। उनमें एक इन्द्रमह भी है। उसके अतिरिक्त इस पर्व का उल्लेख आवश्यक सूत्र हारिभद्रीयावृत्ति (पत्र ३५८–१) आचारांग (पत्र ३२८), जीवजीवाभिगम (पत्र २७१–२) में भी मिलता है। ठाणांग में अश्वयुक् पौर्णमासी—आश्विन की पूर्णिमा को इन्द्रमह मनाये जाने का वर्णन है।[२]

आश्विन में इन्द्रमह मनाए जाने का वर्णन रामायण में भी आता है—

इन्द्रध्वज इवोद्भूतः पौर्णमास्यां महीतले।
आश्वयुक्समये मासि गतश्रीको विचेतनः॥

(किष्किंधाकाण्ड, सर्ग १६, श्लोक ३६ पृष्ठ)

उत्तराध्ययन की टीका (भावविजयगणि-कृत) में कम्पिलपुर के राजा द्विमुख द्वारा इन्द्रमह मनाए जाने का विस्तृत वर्णन है। उसमें आता है—

उपस्थिते शक्रमहेऽन्यदा च द्विमुखो नृपः।
नागरानादिशच्छक्रध्वजः संस्थाप्यतामिति ॥७०॥
ततः पटु ध्वजपटं किंकिणीमालभारिणम्।
माल्यालिमालिनं रत्न-मौक्तिकावलिशालिनम् ॥७१॥
वेष्टितं चीवरवरैर्नन्दीनिर्घोषपूर्वकम्।
वुतमुत्तम्भयामासुः पौराः पौरंदरं ध्वजं ॥७२॥

२—निशीथचूर्णी में (पत्र ११७४) में इन्द्रमह के आषाढ़ पूर्णिमा को तथा लाड देश में श्रावण पूर्णिमा को मनाये जाने का उल्लेख है। आवश्यक मूल निर्युक्ति वृत्ति सहित में क्वार अथवा कार्तिक की पूर्णिमा को इन्द्रमह मनाए जाने का उल्लेख है।

[युग्मम्] अपूजयन् यथाशक्तितं च पुष्पफलादिभिः ।
पुरस्तस्य च गीतानि, जगुः केपि शुभस्वराः ॥७३ ॥
केचित्तु ननृतुः केचिदुच्चैर्वाद्यान्यवादयन ।
अर्थिनोर्न्यार्थनां केऽपि ददुः कल्पद्रुमा इव ॥७४॥
कर्पूरमिश्रघुसृणजलाच्छोटनपूर्वकम् ।
मिथः केचित्तु चूर्णानि सुरभीणि निचिक्षिपुः ॥७५॥
एवं महोत्सवैरागात्पूर्णिमा सप्तमे दिने ।
तदा चापूजयद् भूरि विभूत्या भूधवोपि नम् ॥७६॥
सम्पूर्ण चोत्सवे वस्त्र-भूषणादि निजं निजम् ।
आदाय काष्ठशेषं तं पौराः पृथ्व्यामपातयन् ॥७७॥

एक बार इन्द्रमहोत्सव आने पर द्विमुख राजा ने पुरजनों से इन्द्रध्वज स्थापित करने को कहा । नागरिक जनों ने एक मनोहर स्तम्भ के ऊपर श्रेष्ठ वस्त्र लपेटा । उसके ऊपर सुन्दर वस्त्र का ध्वज बाँधा । उसके चारों ओर छोटी-छोटी ध्वजाओं और घंटियों से शृंगार किया । ऐसे फूल जिन पर भ्रमर आते हों, उनकी तथा रत्नों और मोतियों की माला से उसको खूब सजाया । बाजे-गाजे के साथ उस ध्वज को नगर के मध्य में स्थापित किया। फिर पुष्प-फल आदि से लोगों ने (अपने सामर्थ्य के अनुसार) उसकी पूजा की । उस ध्वज के पास कितने लोग गाने लगे, और कितने नृत्य करने लगे। कितने बाजा बजाने लगे और कितने ही कल्पवृक्ष की भाँति याचकों को दान देने लगे । कितने कर्पूर-केसर-मिश्रित रंग छिड़कने लगे और सुगन्धित चूर्ण उड़ाने लगे । इस प्रकार सात दिन उत्सव चलता रहा । सातवें दिन पूर्णिमा आयी तो द्विमुख राजा ने भी उस ध्वज की पूजा की ।.......

(उत्तराध्ययन सूत्र सटीक, पत्र २१०)

इस प्रकरण से स्पष्ट है कि इन्द्रमह कितने उत्साह से मनाया जाता था और उसका कितना महत्त्व था ।

वृहत्कल्पसूत्र (भाग ६, श्लोक ५१५३) में हेमपुर नामक नगर में

इन्द्रपूजा का उल्लेख मिलता है कि ५०० उच्चकुल की महिलाओं ने फूल, धूपदान आदि से युक्त होकर सौभाग्य के लिए इन्द्र की पूजा की।

'अंतगडदसाओ' (षष्ठ वग्ग, पृष्ठ ४७, मोदी-सम्पादित) में पोलासपुर के निवासियों का 'इन्दट्ठाण' (इन्द्रस्थान) पर जाने का उल्लेख मिलता है।

इस इन्द्र का वर्णन कल्पसूत्र (सूत्र १३) में बड़े ही विस्तृत रूप में आया है। उस में इन्द्र के लिए कहा गया है कि वे (देविंदे) देवताओं के स्वामी, (देवराय) देवताओं के राजा, (वज्जपाणि) वज्र धारण करनेवाले, (पुरन्दर) दैत्यों के नगर का विनाश करनेवाले, (सयक्कउ) श्रावक की पाँचवीं प्रतिमा[1] (एक प्रकार की क्रिया-विशेष) को सौ वार करने वाले, (सहस्सक्खे) एक सहस्र नेत्र वाले [इन्द्र के पाँच सौ मंत्री थे। उनकी एक सहस्र दृष्टियों की सलाह से वे कार्य करते हैं। इसलिए उन्हें सहस्राक्ष' कहते हैं।] (मघवं) मघवा-देव जिसका सेवक है, (पागसासणे) पाक-नामक दैत्य पर जो शासन करे अथवा शिक्षा दे, (दाहिणड्ढलोगाहिवई) दक्षिण लोकार्द्ध के स्वामी, (एरावणवाहणे) एरावण वाहन है, जिसका, (सुरिंदे) देवताओं-सुरों को हर्ष करने वाला, (द्विंत्रिशल्लक्षविमानाधिपतिः) बत्तीस लाख विमानों के अधिपति, (अरय त्ति) जिस पर धूल न हो ऐसे (अंबरवत्यधरे) अम्बर तुल्य वस्त्र को धारण करने वाले, (आलइयमालमउडे) माला-मुकुट आदि को यथास्थान धारण करने वाले, (हैमत्ति चारुत्ति चित्त त्ति चंचल कुंडल त्ति) जिसके सोने के सुन्दर और चंचल कुडल हैं, (महिड्ढीए) महान् ऋद्धि वाले, (महज्जुए) महती द्युति वाले

१—जैन-शास्त्रों में श्रावक (गृहस्थ) की ११ प्रतिमाएँ (क्रिया-विशेष) मानी जाती हैं। उनमें पाँचवीं प्रतिमा का नाम प्रतिमा है।

(उवासगदसाओ, पी. एल. वैद्य-सम्पादित, पृष्ठ २२६)

इन्द्र ने अपने कार्तिक सेठ के भव में इस पाँचवीं प्रतिमा को १०० बार किया था। इसीलिए इन्द्र को 'शतक्रतु' कहते हैं।

(कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सहित, पृष्ठ ४४)

(महब्बले) महाबली, (महायसे) महान् यश वाले, (महाणुभावे) महान् महिमा वाले, (महासुक्खे) महान् सुख वाले, (भासुर) देदीप्यमान शरीर वाले, (पलंबवणमालधरे) लम्बायमान पंचवर्ण पुष्पमाला धारण करने वाले बताये गये हैं। वे इन्द्र सौधर्म-नामक देवलोक में, सौधर्मावतंसक नामक विमान में सुधर्मा नामक राजसभा में, सक्र नाम सिंहासन पर बैठते हैं।

उनके यहाँ (से णं बत्तीसाए विमाणावाससयसाहस्सीणं) बत्तीस लाख वैमानिक देव हैं, ४८ हजार सामानिक देव हैं (जो ऋद्धि में इंद्र के समान हों, उन देवताओं को सामानिक देव कहते हैं), ३३ त्रायस्त्रिंशक देव हैं (जो देवता इन्द्र के भी पूज्य हैं, उन्हें त्रायस्त्रिंश देवता कहते हैं), चार लोकपाल हैं (सोम, यम, वरुण और कुबेर), आठ राजमहिषियाँ हैं (पद्मा, शिवा, शची, अंजू, अमला, अप्सरा, नवमिका और रोहिणी), और उनके परिवार के (एक-एक इन्द्राणी के १६ हजार देव-सेवक हैं) १ लाख २८ हजार देव-सेवक हैं। उनकी तीन पर्षदाएँ हैं (बाह्य, मध्यम और अभ्यंतर)। उनके सात अनीक (सेना) हैं (हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, वृषभ, नाटक, और गंधर्व)। उन सात अनीकों के सात स्वामी हैं। एक दिशा में ८४ हजार, अंगरक्षक इन्द्र की सेवा में शस्त्र-सहित तत्पर रहते हैं (इस प्रकार कुल ३ लाख ३६ हजार अंगरक्षक हैं)। वे सब नित्य इन्द्र की सेवा करते हैं। सौधर्म लोक में जो अन्य देव-देवियाँ हैं, इन्द्र उन सब की रक्षा करते हैं, पुरोवर्तित्व करते हैं, अग्रगामित्व करते हैं, स्वामित्व करते हैं, पोषण करते हैं, प्रमुखत्व करते हैं, और सेनापतित्व करते हैं तथा पालन करते हैं। उनके यहाँ नाटक, तन्त्री, वीणा, वादित्र, ताल, तूर्य, शंख, मृदंग आदि का मेघ के गर्जन के समान कर्ण-प्रिय स्वर गुंजरित होता रहता है। वे दैवी भोगों के योग्य भोग भोग रहे हैं।

इन्द्र का ठीक इसी प्रकार का उल्लेख प्रज्ञापना-सूत्र (पत्र १०१।१) सूत्र ५२ में भी आया है।

सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ वज्जपाणी, पुरंदरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाण-

वासंसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अयरंबरवत्थधरे आल-इयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुण्डलविलिहिच्चमाणगंडे महि-ड्ढिए जाव पसमासेमाणे से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससय-सहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीणं तायत्तीसगाणं चाउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं अणीयाणं सत्तण्हं अणीयाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेव-साहस्सीणं अन्नेसि च बहूणं सोहम्मकप्पवासीणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं कुव्वेमाणे जाव विहरइ।

इनके अतिरिक्त इंद्र का तद्रूप वर्णन 'श्रीमज्जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति'-नामकउपांग टीका-सहित में पत्र ३९५।१–२ में तथा. जीवाजीवाभिगमोपांग (सटीक) के पत्र ३८६–१ में भी आया है।

स्कन्दमह

स्कन्द शिव के लड़के थे। उसके संबन्ध में यह पर्व भगवान् महावीर के काल में भी मनाया जाता था। जब वे श्रावस्ती में पहुँचे थे, तो स्कन्द का जुलूस निकाला जा रहा था।

—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ३१५

बृहत्कल्पसूत्र (खंड ४, पृष्ठ ९६७ गाथा ३४६५) में भी स्कंद की मूर्ति का उल्लेख है, जिसके सम्मुख रात्रि में दीप जलता रहता था। यह मूर्तिकाष्ठ की बनती थी। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध पत्र ११५)। कल्पसूत्र सुबोधिका टीका (पत्र ३०८) में भी स्कन्द-पूजा का उल्लेख मिलता है।

रुद्रमह

रुद्रघर (रुद्रदेव का मंदिर) की चर्चा जैन-ग्रन्थों में मिलती है। रुद्र को महादेवता कहा गया है। रुद्रघर में रुद्र के साथ-साथ माई (चामुण्डा), आदित्या तथा दुर्गा की मूर्तियाँ होत[illegible]शीथ चूर्णि, पत्र २३६)।

व्यवहार भाष्य में रुद्र, आडम्बर, यक्ष तथा माई के आयतन का उल्लेख है। यह मंदिर मृतक व्यक्तियों के शवों पर बना था (व्यवहार-भाष्य ७—३१३)। आवश्यक चूर्णि में उल्लेख मिलता है कि रुद्र की मूर्ति काष्ठ की बनती थी। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध पत्र ११५)

मुकुन्द–मह

जैन-ग्रंथों में मुकुंद-पूजा का भी उल्लेख हैं। भगवान् महावीर के समय में श्रावस्ती और आलंभिया के निकट मुकुन्द और वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। बलदेव की मूर्ति के साथ हल (नांगल) भी रहा करता था। (आवश्यक चूर्णि,, पूर्वार्द्ध, पत्र २९३)। मर्दन ग्राम में बलदेव की मूर्ति का उल्लेख मिलता है (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९४) (कल्पसूत्र सुबोध-टीका पत्र ३०३) कुंडाक-सन्निवेश में वासुदेव के मंदिर का उल्लेख मिलता है। (आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २९३)।

शिवमह

स्कंद और मुकुन्द के समान ही शिव की भी पूजा भगवान् महावीर के समय में प्रचलित थी। आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, (पत्र ३१२) में एक शिवमूर्ति का उल्लेख मिलता है। पत्तियों, फूलों, गुग्गुल और गड़ुए के जल से उनकी पूजा होती थी। (बृहत् कल्पसूत्र सटीक, भाग १, पृ. २५३ की पादटिप्पणि) आवश्यक चूर्णि (पत्र ३१२) तथा बृहत्कल्पसूत्र (पंचम विभाग, श्लोक ५६ २८, पृष्ठ १५६३) में ढूंढ शिव की पूजा का उल्लेख है।

वेसमण-मह

वैश्रमण[1] कुबेर को कहते हैं। इसकी पूजा भी भगवान् महावीर के

१—(अ) वैश्रमण रत्नकर कुबेर–अभिधान चिंतामणि, देवकांड, श्लोक १०३, पृष्ठ ७७

—(आ) अमरकोश, प्रथम कांड, श्लोक ६८-६९। (व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) पृष्ठ १३

समय में होती थी। जीवाजीवाभिगम (३, पत्र २८१) में वेसमाए को यक्षों का अधिपति कहा गया है और उन्हें उत्तर दिशा का अधिपति बताया गया है।

नागमह

जैन-ग्रन्थों में कथा आती है, अष्टापद पर ऋषभदेव भगवान् के निर्वाण के बाद प्रथम चक्रवर्ती भरत ने वहाँ मन्दिर आदि बनवाये। कालान्तर में द्वितीय चक्रवर्ती सगर के जह्नु आदि ६० हजार पुत्र एक बार भ्रमण करते हुए अष्टापद गये। वहाँ मन्दिरों की रक्षा के विचार से उन लोगों ने दण्डरत्न से पर्वत के चारों ओर खाई खोद दी। और उसे गंगा के जल से भर दिया। जब गंगा का जल नागकुमारों के घर में पहुँचा, तो दृष्टि विष, सर्पों ने नागकुमार की आज्ञा से सगर के पुत्रों को भस्म कर दिया।

कुछ समय बाद गंगा पड़ोस के गाँवों में उपद्रव करने लगी। इसकी सूचना मिलते ही, सगर ने अपने पौत्र भगीरथ[1] को गंगा का जल समुद्र में गिराने को भेजा। अष्टापद पर पहुँच कर भगीरथ ने नागों की पूजा की और उनसे अनुमति लेकर गंगा का जल समुद्र तक ले गये। यह नागपूजा का प्रारम्भ था। उत्तराध्ययन अध्याय १८, गाथा ३५ की भावविजय की टीका में आता है :—

> नागपूजां ततः कृत्वा दण्डरत्नेन जह्नुजः।
> नीत्वा सुपर्व सरितं पूर्वाब्धावुदतीरयत ॥६६॥
> भगीरथो भोगिपूजा तत्रापि विधिवत् व्यधात।
> गंगा सागर संगाख्यं तत्तीर्थं पप्रथे ततः ॥६७॥

ऐसी ही कथा त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व २, सर्ग ५–७ में तथा वसुदेवहिंडी पृष्ठ ३०४–३०५ में भी आयी है।

१—डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी पुस्तक 'लाइफ इन एंशेंट इंडिया' पृष्ठ २१६ पर भगीरथ को भरत का पौत्र लिखा है। यह उनकी भूल है।

नागपूजा का बड़ा विस्तृत विवरण ज्ञाताधर्मकथा (८, पृष्ठ ९१ में मिलता है। रानी पद्मावती बड़ी धूमधाम से यह पर्व मनाती थी। उस अवसर पर पूरे नगर में पानी छिड़का जाता था। मंदिर के निकट पुष्प-मण्डप निर्मित होता था। उसमें मालाएं लटकायी जाती थी। रानी स्नान आदि करके अपनी सहेलियों के साथ मंदिर को गयीं। उसने झील में स्नान किया और भीगे कपड़े ही फल, फूल आदि लेकर मंदिर में गयीं। मूर्ति को साफ किया और धूप आदि जलाया।

यक्षमह

भगवान् महावीर के काल में यक्ष-पूजा भी होती थी। जैन-ग्रन्थों में यक्षों की गणना ८ वाणमंतर[१] देवों में की गयी है। 'वाणमंतर' शब्द पर टीका करते हुए संग्रहणी में आता है :—वनानामन्तराणि वनान्तराणि तेषु भवाः वानमन्तराः ....[२]

वनों के मध्य भाग में रहने वाले वाणमंतर होते हैं।

यक्षों का देह वर्ण श्याम होता है[३] और उनका ध्वज-चिन्ह वटवृक्ष होता

१—अट्ठविधा वाणमंतरा देवा पं० तं०—पिसाया, भूता, जक्खा, रक्खसा किन्नरा, किंपुरिसा, महोरगा, गंधव्वा।

—स्थानांग सूत्र सटीक, ठाणा ८, सूत्र ६५४, पत्र ४४२-२।

ऐसा ही उल्लेख उत्तराध्ययन के अध्ययन ३६, गाथा २०५ में तथा जिनभद्रगणि विरचित बृहत्संग्रहणी, गाथा ५८ (सटीक पत्र २८-१) में तथा प्रज्ञापना सूत्र सटीक, सूत्र ३८, पत्र ६९-१ (पूर्वार्द्ध) में भी आता है।

२—प्रज्ञापना सूत्र सटीक, पूर्वार्द्ध, पत्र ६९-१।

३—जक्खपिसाय महोरग-गंधव्वा साम किंनरा नीला।
रक्खस, किंपुरसा वि य, धवला भूया पुणो काला।

—चंद्रसूरि प्रणीत संग्रहणी, गाथा ३९, पृष्ठ १०९।

है।[1] जिनभद्र गणिक्षमाश्रमण-विरचित 'बृहत् संग्रहणी' की मलयगिरि की टीका में आता है :—

यक्षा गम्भीराः प्रियदर्शिना विशेषतो मानोन्मानप्रमाणोपपन्नारक्तपाणि-पादतलनखतालुजिह्वौष्ठा भास्वर किरीट धारिणो नाना रत्नात्मकः विभूषणाः, ते च त्रयोदशविधाः—तद्यथा पूर्णभद्राः १, मणिभद्राः २, श्वेत-भद्राः ३, हरिभद्राः ४, सुमनोभद्राः ५, व्यतिपाकभद्राः ६, सुभद्राः ७, सर्वतोभद्राः ८, मनुष्यपक्षाः ९, धनाधिपतयः १०, धनाहाराः ११, रूपयक्षाः १२, यक्षोत्तमाः १३ इति।[2]

—अर्थात् यक्ष गम्भीर होते हैं, देखने में प्रिय होते हैं, मानोन्मान-प्रमाणोपपन्न होते हैं, उनके पाणि, पाद, तल, नख, तालु, जिह्वा, ओष्ठ रक्तवर्ण का होते हैं, किरीट धारण करते हैं तथा नाना रत्नमय आभूषणों से युक्त होते हैं।

यक्ष १३ बताये गये हैं :—

१ पूर्णभद्र, २ मणिभद्र, ३ श्वेतभद्र, ४ हरिभद्र, ५ सुमनोभद्र, ६ व्यतिपाकभद्र, ७ सुभद्र, ८ सर्वतोभद्र, ९ मनुष्यपक्ष, १० धनाधिपति, ११ धनाहार, १२ रूपयक्ष, १३ यक्षोत्तम।

इन १३ यक्षों की गणना प्रज्ञापना सूत्र सटीक (पूर्वार्द्ध) पत्र ७०-२ में भी आयी है।

उत्तराध्ययन में आता है :

देव दाणव गंधव्वा, जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥[3]

१—चिंधं कलंब सुलसे, वड-खट्टंगे असोग चंपयए।
नागे तुंबरु अ ज्झए, खट्टंग विवज्जिया रुक्खा।
—चन्द्रसूरि प्रणीत बृहत्संग्रहणी, गाथा १८, पृष्ठ १०१

२—पत्र २८-२।

३—उत्तराध्ययन, अध्ययन १६। गाथा

—दुःख करके जो आचरण करे तथा ब्रह्मचर्य पालन करे, उस ब्रह्मचारी मुनि को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर नमस्कार करते हैं।

यक्षों के बहुत-से गुण जैन-ग्रन्थों में वर्णित हैं। उसके बहुत-से कल्याणकारी रूप भी जैन-ग्रन्थों में आते हैं।

गंडीतिंदुग नाम का यक्ष काशी में रहता था। उसने तिंदुग-उद्यान में मातंग की रक्षा की थी।[1] और, विभेलग नामक यक्ष ने भगवान् महावीर की वंदना की थी।[2]

रक्षण-कार्य के अतिरिक्त उसके निम्नलिखित रूप भी जैन-ग्रन्थों में आये हैं:—

१ पुत्रदाता,[3] २ रोग-नाशक,[4] ३ बलदायक।[5]

इन शुभ गुणों के साथ-साथ यक्ष कष्टद भी बताये गये हैं।

वे जिस गाँव अथवा जिस व्यक्ति पर क्रुद्ध होते थे, उन्हें मार डालते थे। शूलपाणि-यक्ष के मंदिर में जो रात को रहता था, वह मर जाता था।[6]

ऐसी ही कथा है कि वार्षिक उत्सव के अवसर पर जो यक्ष की मूर्ति

१—उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्र की टीका सहित, अध्ययन १२, पत्र १७४–१।

२—आवश्यक चूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २७२।
कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ३०३।

३—विपाकसूत्र, ७, पृष्ठ ५१, (पी० एल० वैद्य-सम्पादित)
ज्ञातधर्मकथा २, पृष्ठ ८४–१, ८५–२ (सटीक)

४—पिंडनिर्युक्ति २४५।

५—अंतगडदसाओ ६।

६—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र २७२।
कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र २६३।

रंगता था, वह यक्ष उसे मार डालता था।[1]

सिद्ध-पुरुषों की सेवा के प्रसंग में यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि हर तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी होते हैं।[2]

भूतमह

भूत निशाचर होते थे। आवश्यक चूर्णि (द्वितीय खंड, पत्र १६२) में उनको बलि[3] दिये जाने का उल्लेख है। भूतों की भी गणना वाणमंतर देवों के रूप में की गयी है (उत्तराध्ययन ३६, २०५) इन्द्रमह, यक्षमह आदि के समान ही भूतमह भी प्राचीन काल का एक विशिष्ट पर्व था।

भूतों से कुछ निम्न कोटि के पिशाच-नाम से प्रसिद्ध होते थे। उनके सम्बन्ध में उल्लेख है कि वे रक्त पीते थे और मांस खाते थे।

अज्जा–कोट्टकिरिया

अज्जा और कोटकिरिया देवियाँ थीं। आचारांग चूर्णि में (पत्र ६१) में चंडिका देवी की उपासना का उल्लेख है। शांतिमयी दुर्गा के लिए अज्जा (आर्या) शब्द का प्रयोग मिलता है और वही जब महिषा पर सवार होती थी तो उसे कोट्टकिरिया कहते थे।

'निशीथ' में वर्णित कुछ देवी-देवता

निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि में आगे दिये देवी-देवताओं के उल्लेख आये हैं:—

१—आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ५६७।

२—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ६२३, ६२४।

३—देवतानाम् उपहारे शा० १, श्रु० ६ अ.

१ अच्चुयदेव[१], २ इंद[२], ३ कंबल-संबल[३], ४ कामदेव[४], ५ खेत्त-देवया[५], ६ गोरी[६], ७ गंधारी[७], ८ चंद[८], ९ जक्ख[९], १० जोइसिय[१०], ११ डागिणी[११], १२ णाइलदेव[१२], १३ णागकुमार[१३], १४ देविंद[१४], १५ पंतदेवया[१५], १६ पिसाय[१६], १७ पुण्णभद्द[१७], १८ पुरन्दर[१८], १९ पूयणा[१९], २० वहस्सति[२०], २१ भवणवासी[२१], २२ भूत[२२], २३ मणिभद्द[२३], २४ रक्खस[२४], २५ रयणदेवता[२५], २६ वणदेवता[२६], २७ वाणमंतर[२७], २८ वाणमंतरी[२८], २९ विज्जुमाली[२९], ३० वेयाणिय[३०], ३१ शक्र[३१], ३२ सम्मदिट्ठि देवया[३२], ३३ सामाणिग[३३], ३४ सुदाढ[३४], ३५ हास-पहासा[३५], ३६ हिरिमिक्क[३६],

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित अन्यतीर्थक देवों के उल्लेख उक्त ग्रंथ में हैं :—

१ केसव[३७], २ पसुवति[३८], ३ वंभा[३९], ४ महादेव[४१] ५ रुद्द[४२], ६ विण्हु[४३], ७ सिव[४४],

---

१—निशीथसूत्र सभाष्य सटीक भाग ३; पृष्ठ १४१

२ वही १, २४ — ३ वही ३; ३६६

४ वही १; ९—३; १४४ — ५ वही ३; ४०८

६ वही ४; १५ — ७ वही ४; १५

८ वही ३; १४४, २०८ — ९ वही १; २१—३; १४१

१० वही ४; ५ — ११ वही २; ४१

१२ वही ३; १४१ — १३ वही ३; १४४, ३६९

१४ वही १; २० — १५ वही १; ८

१६ वही ३; १८६ — १७ वही ३; २२४

१८ वही २; १३० — १९ वही ३; ४०८

२० वही ३; १४४ — २१ वही २; १२५—४; ५

२२ वही १; ९ — २३ वही ३; २२४

२४ वही ३; १८६ — २५ वही ४; १४

(पृष्ठ ३६२ की पादटिप्पणि का शेषांश)

---

२६ वही ४; ११८ २७ वही १; ८, ६—४; ५
२८ वही ४; १३ २६ वही ३; १४०
३० वही ४; ५ ३१ वही १; ११३
३२ वही १; ८—४; ११८ ३३ वही १; २४
३४ वही ३; ३६६ ३५ वही ३; १४०
३६ वही ४; २३८ ३७ वही १; १०५
३८ वही १; १०४ ३६ वही १; १०४—३; १४२
४० वही १; १४६,१४७ ४१ वही १; १४६, १४७
४२ वही १; १०३,१०४—३,१४३ ४३ वही १; १०

परिशिष्ट २

भगवान् महावीर के छद्मस्थ-अवस्था के विहार-स्थल

प्रथम-वर्ष

१ कुण्डग्राम
२ ज्ञातखण्डवन
३ कर्मारग्राम
४ कोल्लाग-सन्निवेश
५ मोराक-सन्निवेश
६ दूईज्जंतग-आश्रम
७ अस्थिक ग्राम (वर्धमान) ।

दूसरा-वर्ष

१ मोराक-सन्निवेश
२ वाचाला
३ दक्षिण-वाचाला
४ सुवर्ण-वालुका (नदी)
५ रुप्य-वालुका (नदी)
६ कनकखल आश्रमपद
७ उत्तरवाचाला
८ श्वेताम्बी
९ सुरभिपुर
१० गंगानदी
११ थूणाक सन्निवेश
१२ राजगृह
१३ नालन्दा सन्निवेश ।

तीसरा-वर्ष

१ कोल्लाग-सन्निवेश
२ सुवर्ण खल
३ ब्राह्मण ग्राम
४ चम्पानगरी

चौथा-वर्ष

१ कालाय सन्निवेश
२ पत्त कालाय
३ कुमाराक सन्निवेश
४ चोराक सन्निवेश
५ पृष्ठ-चम्पा ।

पाँचवाँ-वर्ष

१ कयंगला-सन्निवेश
२ श्रावस्ती
३ हलिद्दुय
४ नंगला
५ आवत्ता
६ चोराय-सन्निवेश
७ कलंकवुका सन्निवेश
८ राढ देश (अनार्य भूमि)
९ पूर्णकलश (अनार्य गाँव)
१० मलय प्रदेश
११ भद्दिल नगर

छठाँ-वर्ष

१ कयली समागम
२ जम्बूसंड
३ तंबाय सन्निवेश
४ कूपिय-सन्निवेश
५ वैशाली
६ ग्रामाक-सन्निवेश
७ शालीशीर्ष
८ भद्दिया

सातवाँ-वर्ष

१ मगध भूमि
२ आलंभिया

आठवाँ-वर्ष

१ कुण्डाक-सन्निवेश
२ मद्दन-सन्निवेश
३ बहुसालग
४ शालवन
५ लोहार्गला
६ पुरिमताल
७ शकटमुख-उद्यान
८ उन्नाग (सुन्नाक)
९ गोभूमि
१० राजगृह

नववाँ-वर्ष

१ लाढ—वज्रभूमि और सुम्हभूमि—अनार्य-देश।

दसवाँ-वर्ष

१ सिद्धार्थपुर
२ कूर्मग्राम
३ सिद्धार्थपुर
४ वैशाली
५ गंडकी नदी (मंडकी)
६ वाणिज्य-ग्राम
७ श्रावस्ती।

ग्यारहवाँ-वर्ष

१ सानुलट्ठिय-सन्निवेश
२ दृढ़भूमि-पोलास-चैत्य
३ वालुका
४ सुभोग
५ सुच्छेता
६ मलय
७ हत्थिसीस
८ तोसलि
९ मोसलि
१० तोसलि
११ सिद्धार्थपुर
१२ व्रजगाँव
१३ आलंभिया
१४ सेयविया
१५ श्रावस्ती
१६ कौशाम्बी
१७ वाराणसी
१८ राजगृह
१९ मिथिला
२० वैशाली
२१ काम-महावन

बारहवाँ-वर्ष

१ सुंसुमारपुर
२ भोगपुर
३ नन्दिग्राम
४ मेंढियग्राम
५ कौशाम्बी
६ सुमंगल
७ सुच्छेता
८ पालक
९ चम्पा

तेरहवाँ-वर्ष

१ जंभियग्राम
२ मेंढिय
३ छम्माणि
४ मध्यम अपापा
५ जंभियग्राम
६ ऋजुवालुका (नदी)

* रेखांकित स्थानों पर भगवान् ने वर्षावास किये थे।

परिशिष्ट ३

गणधर

भगवान् महावीर के ११ गणधर (मुख्य शिष्य) थे। १ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मंडिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पित, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य, ११ प्रभास[1]। उनके विवरण इस प्रकार हैं :—

इन्द्रभूति—पिता का नाम-वसुभूति, माता का नाम-पृथ्वी; गोत्र-गौतम; जन्म-नक्षत्र-ज्येष्ठा; जन्मस्थान-गोबर ग्राम (मगध); गृहस्थ-जीवन ५० वर्ष दीक्षा-स्थान-मध्यमपावा; शिष्य-संख्या-५००; अकेवलिकाल-३० वर्ष, केवलि-पर्याय-१२ वर्ष, सर्वायु-९२ वर्ष; निर्वाण-काल—वीर-केवलोत्पत्ति के ४२ वर्ष के बाद; निर्वाण-स्थान वैभारगिरि (राजगृह)

अग्निभूति—पिता का नाम-वसुभूति; माता का नाम-पृथ्वी; गोत्र-गौतम; जन्म-नक्षत्र-कृतिका; जन्म-स्थान-गोबर ग्राम (मगध); गृहस्थ-जीवन-४६ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-५००; अकेवलि-काल-१२ वर्ष; केवलिपर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-७४ वर्ष; निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से २८ वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

वायुभूति—पिता का नाम-वसुभूति; माता का नाम-पृथ्वी; गोत्र-

१—पढमित्थ इंदभूई, बिइओ उण होइ अग्गिभूइत्ति।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य ॥५९४॥
मंडियमोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य।
मेयज्जे य पभासे, गणहरा होंति वीरस्स ॥५९५॥
—आवश्यक निर्युक्ति [illegible] भाग, पत्र ११५-२

गौतम; जन्म-नक्षत्र-स्वाति; जन्म-स्थान-गोबरग्राम (मगध); गृहस्थ-जीवन-४२ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-५००; अकेवलि-काल-१० वर्ष; केवलिपर्याय-१८ वर्ष; सर्वायु-७० वर्ष; निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से २८ वर्ष बाद;-निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

व्यक्त—पिता का नाम-धनमित्र; माता का नाम-वारुणी; गोत्र-भारद्वाज; जन्म-नक्षत्र-श्रवण; जन्म-स्थान-कोल्लाग सन्निवेश (मगध); गृहस्थ जीवन-५० वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-५००; अकेवलि-काल-१२ वर्ष; केवलि-पर्याय-१८ वर्ष; सर्वायु-८० वर्ष; निर्वाण-काल-वीर-केवलोत्पत्ति के ३० वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

सुधर्मा—पिता का नाम-धम्मिल; माता का नाम-भद्दिला; गोत्र-अग्निवैश्यायन; जन्म-नक्षत्र-उत्तरा फाल्गुनी; जन्म-स्थान-कोल्लाग सन्निवेश (मगध); गृहस्थ-जीवन-५० वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-५००; अकेवलि-काल-४२ वर्ष; केवलि पर्याय-८ वर्ष; सर्वायु-१०० वर्ष; निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से ५० वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभार-गिरि (राजगृह)।

मंडिक—पिता का नाम-धनदेव; माता का नाम-विजयादेवी; गोत्र-वाशिष्ठ; जन्म-नक्षत्र-मघा; जन्म-स्थान-मौर्यसन्निवेश[1]; गृहस्थ-जीवन-५३ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-३५०; अकेवलि-काल-१४ वर्ष; केवलि पर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-८३ वर्ष; निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभार गिरि (राजगृह)।

मौर्यपुत्र—पिता का नाम-मौर्य; माता का नाम-विजयादेवी; गोत्र-काश्यप; जन्म-नक्षत्र-रोहिणी; जन्म-स्थान-मौर्य सन्निवेश; गृहस्थ-जीवन-६५ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या ३५०; अकेवलि-काल-१४ वर्ष; केवलि पर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-९५ वर्ष; निर्वाण-काल-

१—देखिए साथ की टिप्पणि।

वीर केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

अकम्पित—पिता का नाम-वसु; माता का नाम-नन्दा; गोत्र-हारीत जन्म-नक्षत्र-मृगशिरस; जन्मस्थान-मिथिला; गृहस्थ-जीवन-४६ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-३००; अकेवलिकाल-१२ वर्ष, केवलि-पर्याय १४ वर्ष; सर्वायु-७२ वर्ष, निर्वाण काल-वीर-केवलोत्पत्ति से ३० वर्ष बाद; निर्वाण स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

अचलभ्राता-पिता का नाम देव, माता का नाम जयन्ती, गोत्र-गौतम; जन्म-नक्षत्र-उत्तराषाढा, जन्मस्थान-कोसल (अयोध्या); गृहस्थ-जीवन-४८ वर्ष; दीक्षा-स्थान—मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-३००; अकेवलिकाल ९ वर्ष, केवलिपर्याय-२१ वर्ष; सर्वायु-७८ वर्ष; निर्वाण-काल-वीर-केवलोत्पत्ति से २६ वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

मेतार्य—पिता का नाम दत्त; माता का नाम वरुणादेवी, गोत्र कौडिन्य; जन्म-नक्षत्र-अश्विनी; जन्मस्थान-तुंगिक सन्निवेश (कौशाम्बी); गृहस्थ-जीवन-३६ वर्ष, दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा, शिष्य-संख्या-३००; अकेवलिकाल-१० वर्ष; केवलिपर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-६२ वर्ष; निर्वाण-काल-वीर-केवलोत्पत्ति से २६ वर्ष बाद, निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)

प्रभास—पिता का नाम बल, माता का नाम अतिभद्रा, गोत्र-कौडिन्य; जन्म-नक्षत्र-पुष्य; जन्मस्थान-राजगृह; गृहस्थ-जीवन-१६ वर्ष; दीक्षा-स्थान-मध्यम पावा; शिष्य-संख्या-३००; अकेवलिकाल-८ वर्ष; केवलि-पर्याय-१६ वर्ष; सर्वायु-४० वर्ष; निर्वाण-काल-वीर केवलोत्पत्ति से २४ वर्ष बाद; निर्वाण-स्थान-वैभारगिरि (राजगृह)।

नोट—उपर्युक्त ग्यारहों गणधरों की शिष्य-संख्या उस समय की है, जब उन्होंने भगवान् के समक्ष जा कर दीक्षा ली थी।

—लेखक

टिप्पणि

मोरियसन्निवेश—इसका नाम बौद्ध-ग्रन्थों में मोरियगाम मिलता है। उसमें कथा आती है कि, जब प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने शाक्यों को भगाया तब उन लोगों ने इस नगर को बसाया था। (महावंश टीका, सिंहली-संस्करण, पृष्ठ ११९–१२१)। यह जंगल में एक जलाशय के तट पर स्थित था और इसके चारों ओर पीपल के वृक्ष थे।

ऐसा माना जाता है कि, अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य-वंश का था। पहले मौर्यों की राजधानी पिप्पलीवन थी। जहाँ वह स्थान था, वहाँ मयूरों का आधिक्य था और उनकी बोली प्रायः सुनने को मिलती थी। (वही,)

पिप्पलीवन के ये मौर्य भी बुद्ध के निधन के बाद अस्थि माँगने गये थे। उन्हें अंगार दिया गया था और उस पर उन लोगों ने स्तूप बनाया था।[1]

आवश्यक-कथा में भी चन्द्रगुप्त का मूल स्थान मोरियगाम[2] बताया गया है। यहाँ मोरपोसग लोग रहते थे—ऐसा उल्लेख जैन-ग्रन्थों में मिलता है।[3]

डाक्टर हेमचन्द्र रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐंशेंट इंडिया' (पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ १९४) में लिखा है—

"(मौर्य) को शाक्य-वंश का कहा जाता है। पर, अधिक पुराने संदर्भ दोनों में भेद करते हैं। एक मत यह है कि यह मौर्य शब्द 'मोर' से बना है। जहाँ वे रहते थे, उसके चारों ओर मोर बोला करते थे।

यह पिप्पलीवन वही है, जिसे ह्वान्च्वांग ने न्यग्रोधवन कहा है और

१—दीघनिकाय, हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १५०।

२—राजेन्द्राभिधान कोश, भाग ६, पृष्ठ ४५३।

३—उत्तराध्ययन नेमिचन्द्र की टीका, पत्र ५७–२।
परिशिष्ट पर्व (द्वितीय संस्करण) सर्ग ८, श्लोक २२९–२३०, पृष्ठ २१५

जिसमें स्तूप था। फाह्यान ने उसे अनोमा नदी से ४ योजन पूर्व बताया है और कुशीनारा से उसे १२ योजन दूर पश्चिम बताया है।"

डाक्टर कनिंघम ने 'द' ऐंशेंट ज्यागरैफी आव इंडिया' द्वितीय वृत्ति (पृष्ठ ४९१) में लिखा है—"इस नाम का कोई स्थान अब ज्ञात नहीं है। पर, ह्वेनसांग द्वारा बताये दक्षिण-पूर्व दिशा में एक वन है, जिसमें प्राचीन अवशेष भरे पड़े हैं। उसका नाम सहनकट है। उक्त स्थान की चर्चा बुचानन ने (एशियाटिक रिसर्चेज, बंगाल ××) में विस्तार से की है। उन्हें खंडहरों में बुद्ध की कई मूर्तियाँ मिली थीं।...यह स्थान अउमी-नदी पर स्थित चंदोली-घाट से सीधे २० मील की दूरी पर है; लेकिन सड़क से इसकी दूरी २५ मील से कम न होगी। रास्ते में बहुत से नाले हैं। अतः यह स्थान ह्वान च्वांग द्वारा वर्णित स्तूप से बहुत मिलता-जुलता है। पर, इस पर मैं पूर्णरूपेण सहमति नहीं प्रकट कर सकता, जब तक श्रीनगर कोलुआ शब्द के 'कोलुआ' का कोइला से सम्बन्ध न जोड़ा जाये—जिसकी सम्भावना बहुत कम है।

संयुक्तनिकाय (हिन्दी-अनुवाद) में प्रकाशित 'बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय' में (पृष्ठ ८) पिप्पलीवन के सम्बन्ध में लिखा है—"वर्तमान समय में इसके नष्टावशेष जिला गोरखपुर के कुसुम्ही स्टेशन से ११ मील दक्षिण उपधौली नामक स्थान में प्राप्त हुए हैं।"

डाक्टर जगदीशचन्द्र जैन ने 'लाइफ इन ऐंशेंट इण्डिया' (पृष्ठ ३१५) में 'मोरियसन्निवेश' को मगध में बताया है। पर, यह उनकी भूल है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया', वाल्यूम १, पृष्ठ १७५ पर मोरिय-राज्य को कोशल से पूर्व और गंगा तथा हिमालय के बीच में बताया गया है। मगध की सीमा तो गंगा के दक्षिण में थी, *अतः मोरियसन्निवेश मगध में तो हो ही नहीं सकता।*

आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरिकृत अन्य ग्रन्थ

१ वैशाली (हिन्दी) २॥)
२ वैशाली (गुजराती) २)
३ वीर-विहार-मीमांसा (गुजराती) अप्राप्य
४ वीर-विहार-मीमांसा (हिन्दी) ॥)
५ हस्तिनापुर (हिन्दी) ।)
६ गुरुगुणरत्नाकर (संस्कृत) सम्पादित अप्राप्य
७ शान्तिनाथचरित्र (संस्कृत) सम्पादित अप्राप्य
८ अशोकना शिलालेखो ऊपर दृष्टिपात (गुजराती) ....
९ प्राचीन भारतवर्षनुं सिंहावलोकन (गुजराती) ....
१० महाक्षत्रप राजा रुद्रदामा (गुजराती) ....
११ मथुरानो सिंहध्वज (गुजराती) ....
१२ जगत अने जैन-दर्शन (गुजराती) ।)
१३ जगत और जैन-दर्शन (हिन्दी) ।)
१४ Reminiscences of Vijaya Dharma Suri (English) ....
१५ तीर्थंकर महावीर (हिन्दी) भाग २, मुद्रणस्थ १०)
१६ लेटर्स टु विजयेन्द्र सूरि (विश्व-विख्यात ३५ विद्वानों के पत्रों का संग्रह) ७)

यशोधर्म मन्दिर
१६६ मर्जबान रोड, अंधेरी
बम्बई ५८